आत्म-कथा (दूसरा खण्ड)

गांधीजी

सस्ता-साहित्य-मण्डल,
अजमेर

पाँचवाँ भाग

आत्म-कथा (द्वितीय खण्ड)

गाँधीजी

अनुवादक

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक

जीतमल लूणिया

सस्ता-मण्डल, अजमेर

द्वितियवार, ४०००	१९२९	मूल्य ॥)
		सजिल्द १॥)

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता साहित्य प्रेस, अजमेर

विषय-सूची

चौथा भाग

महात्मा गांधी

विषय

आत्म-कथा

खण्ड २, भाग ४

किया-कराया स्वाहा !

मिस्टर चैम्बरलैन तो साढ़े तीन करोड़ पौंड दक्षिण आफ्रिका से लेने के लिए आये थे; अंग्रेजों का और हो सके तो बोअरों का भी मन हरण करने के लिए आये थे। इस लिए हिन्दुस्तानी प्रतिनिधियों को उनकी ओर से यह ठंडा जवाब मिला—

"आप तो जानते ही हैं कि उत्तरदायित्व-पूर्ण उपनिवेशों पर साम्राज्य-सरकार की सत्ता नाम मात्र की है। हाँ, आपकी शिकायतें अलबत्ता सच मालूम होती हैं, सो मैं अपने बस भर उनको दूर करने की चेष्टा करूंगा। पर आप एक बात न भूलें जिस

तरह हो सके आपको यहां गोरों को राजी रखकर ही रहना है।"

इस जवाब को सुन कर प्रतिनिधियों पर तो मानों ठंडा पानी बरस गया। मैंने भी आशा छोड़दी। मैंने तो इसका तात्पर्य समझ लिया कि अब फिर से 'हरिः ॐ' करना पड़ेगा। और मैंने अपने साथियों पर भी यह बात अच्छी तरह स्पष्ट करदी। पर मि० चैम्बरलेन का जवाब क्या झूठा था? गोल-मोल कहने के बदले उन्होंने खरी बात कह दी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम उन्होंने कुछ मधुर शब्दों में बता दिया पर हमारे पास तो लाठी भी कहां थी? लाठी तो दूर, लाठी की चोट सहनेवाले शरीर भी मुश्किल से हमारे पास थे।

मि० चैम्बरलेन कुछ ही सप्ताह यहाँ रहने वाले थे। दक्षिण आफ्रीका कोई मामूली प्रान्त नहीं, उसे तो एक देश, एक भूखण्ड ही कहना चाहिए। आफ्रीका के पेट में तो कितने ही उपखण्ड पड़े हुए हैं। कन्या-कुमारी से श्रीनगर यदि १९०० मील है, तो डरबन से केपटाउन ११०० मील से कम नहीं। इस इतने बड़े खण्ड में उन्हें 'पवन-वेग' से घूमना था। वे ट्रांसवाल रवाना हुए। मुझे सारी तैयारी करके भारतीयों का पक्ष उनके सामने उपस्थित करना था। अब यह समस्या खड़ी हुई कि मैं प्रिटोरिया किस तरह पहुँचूं। मेरे समय पर पहुँच सकने की इजाजत लेने का काम हमारे लोगों से हो नहीं सकता था।

बोअर युद्ध के बाद ट्रांसवाल करीब करीब ऊजड़ हो गया था। वहां न खाने-पीने के लिए अनाज रह गया था, न पहनने-ओढ़ने के लिए कपड़े ही। बाजार खाली और दुकानें बंद मिलती थीं। उनको फिर से भरना और खुली करना था, और यह काम तो धीरे-ही धीरे हो सकता था और ज्यों-ज्यों माल आता जाता त्यों ही त्यों वे लोग जो घरबार छोड़ कर भग गये थे उन्हें आने दिया जा सकता था। इस कारण प्रत्येक ट्रांसवाल-वासी को परवाना लेना पड़ता था। अब गोरे लोगों को तो परवाना मांगते ही तुरन्त मिल जाता; परन्तु हिन्दुस्तानियो को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता था।

लड़ाई के दिनो में हिंदुस्तान और लङ्का से बहुतेरे अफसर और सिपाही दक्षिण आफ्रीका में आगये थे। उनमें से जो लोग वहीं बसना चाहते थे उनके लिए सुविधा कर देना ब्रिटिश अधिकारियों का कर्त्तव्य माना गया था। इधर एक नवीन अधिकारी-मंडल की रचना उन्हें करनी थी, सो ये अनुभवी कर्मचारी सहज ही उनके काम आगये। इन कर्मचारियों की तीव्र बुद्धि ने एक नये महकमे की सृष्टि कर डाली और इस काम में वे अधिक पटु तो थे ही। हब्शियों के लिए ऐसा एक अलग महकमा पहले ही से था, तो फिर इन लोगो ने अकल भिड़ाई कि एशिया-वासियों के लिए भी अलग महकमा क्यों न कर लिया जाय ? सब उनकी

इस दलील के क़ायल हो गये। यह नया महकमा, मेरे जाने के पहले ही, खुल चुका था, और धीरे धीरे अपना जाल फैला रहा था। जो अधिकारी भागे हुए लोगों को परवाने देते थे, वे ही सब को दे सकते थे। परन्तु उन्हें यह कैसे पता चल सकता है कि एशिया-वासी कौन हैं? यदि इस नवीन महकमे की सिफारिश पर ही उसको परवाना दिया जाय तो उस अधिकारी की ज़िम्मेवारी कम हो जाती है और उसके काम का बोझ भी कुछ घट जाता है, यह दलील पेश की गई। बात दरअसल यह थी कि इस नये महकमे को कुछ काम की और कुछ दाम की (धन की) जरूरत थी। यदि काम न हो तो इस महकमे की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो सकती और अंत को उसे बन्द करना पड़े। तो इसलिए उसे यह काम सहज ही मिल गया।

तरीका यह था कि हिन्दुस्तानी पहले इस महकमे में अर्ज़ी दें। फिर बहुत दिनों में जाकर उसका जवाब मिलता। इधर ट्रांसवाल जाने की इच्छा रखने वालों की संख्या बहुत थी। फलतः उनके लिए दलालों का एक दल बन गया। इन दलालों और अधिकारियों में बेचारे ग़रीब हिन्दुस्तानियों के हजारों रुपये लुट गये। मुझसे कहा गया था कि बिना किसी ज़रिये के परवाना नहीं मिलता और ज़रिया होने पर भी कितनी ही बार तो सौ-सौ पौण्ड फ़ी आदमी खर्च हो जाता है। ऐसी हालत में भला मेरी दाल गलती?

तब मैं अपने पुराने मित्र डरबन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट के यहां पहुँचा और उनसे कहा,–'आप परवाना देने वाले अधिकारी से मेरा परिचय करा दीजिए और मुझे एक परवाना दिला दीजिए। आप यह तो जानते ही हैं कि मैं ट्रांसवाल में रह चुका हूँ।' उन्होंने तुरन्त सिर पर टोपी रक्खी और मेरे साथ चलकर परवाना दिला दिया। इस समय ट्रेन छूटने को मुश्किल से एक घंटा था। मैंने अपना सामान वगैरा बांध-बूंध कर पहले ही से तैयार रक्खा था। इस कष्ट के लिए मैंने सुपरिन्टेन्डेन्ट एलेग्जेण्डर को धन्यवाद दिया और प्रीटोरिया जाने के लिए रवाना हो गया।

इस समय तक वहाँ की कठिनाइयों का अन्दाज़ मुझे ठीक ठीक हो गया था। प्रिटोरिया पहुँच कर मैंने एक दरख्वास्त तैयार की। मुझे यह याद नहीं पड़ता कि डरबन में किसी से प्रतिनिधियों के नाम पूछे गये थे। यहाँ तो नया ही महकमा काम कर रहा था। इसलिए प्रतिनिधियों के नाम मेरे आने के पहिले ही पूछ लिये गये थे। इसका आशय यह था कि मुझे इस मामले से दूर रक्खा जाय और इस बात का पता प्रीटोरिया के हिन्दुस्तानियों को लगगया था।

यह दुःख-दायक किंतु मनोरंजक कहानी अगले प्रकरण में।

एशियाई नवाबशाही

इस नये महकमे के कर्मचारी यह न समझ सके कि मैं ट्रांसवाल में किस तरह आ पहुँचा। जो हिंदुस्तानी उनके पास आते-जाते रहते थे, उनसे उन्होंने पूछ ताछ भी की, पर वे बेचारे क्या जानते थे? तब कर्मचारियों ने अनुमान लगाया कि हो न हो अपनी पुरानी जान-पहचान की वजह से मैं बिना परवाना लिए ही आ घुसा हूँ; और यदि ऐसा ही हो तो, उन्होंने सोचा, इसे हम कैद भी कर सकते हैं।

जब कोई भारी लड़ाई लड़ी जाती है तब उसके बाद कुछ समय के लिए राज-कर्मचारियों को विशेष अधिकार दिये जाते

हैं। यहाँ दक्षिण आफ्रीका में भी ऐसा ही हुआ था। शांति-रक्षा का एक कानून बनाया गया था। उसमें एक धारा यह भी थी कि यदि कोई बिना परवाने के ट्रान्सवाल में आजाय तो वह गिरफ्तार और कैद किया जा सकता है। इस धारा के अनुसार मुझे गिरफ्तार करने के लिए सलाह-मशविरा होने लगा। पर किसी को यह साहस न हुआ कि आकर मुझसे परवाना मांगे।

इन कर्मचारियों ने डरबन तार भेजकर भी पुछवाया था। वहाँ से जब उन्हें खबर पड़ी कि मैं तो परवाना लेकर अन्दर आया हूँ तब बेचारे निराश हो रहे। परन्तु इस महकमे के लोग ऐसे न थे जो इस निराशा से थककर बैठ जाते। हालाँ कि मैं ट्रांसवाल में आ-चुका था, परन्तु फिर भी उनके पास ऐसी तरकीबें थीं जिनसे वे मेरा मि० चेम्बरलेन से मिलना जरूर रोक सकते थे।

इस कारण सबसे पहले शिष्टमण्डल के प्रतिनिधियों के नाम मांगे गये। यों तो दक्षिण अफ्रीका में रंग-द्वेष का अनुभव जहाँ जाते वहीं होरहा था। पर यहां तो हिंदुस्तान के जैसी गंदगी और खटपट की बदबू आने लगी। दक्षिण आफ्रिका में आम महकमों का काम लोक-हित के खयाल से चलाया जाता है, इससे राजकर्मचारियों के व्यवहार में एक प्रकार की सरलता और नम्रता दिखाई पड़ती थी। इसका लाभ थोड़े बहुत अंश में काले पीले चमड़े वालों को भी अपने आप मिल जाता था। पर अब जब कि यहाँ

एशिया के कर्मचारियों का दौर-दौरा हुआ तब तो वहां की जैसी 'जो-हुक्मी' और खटपट वगैरं बुराइयां भी उसमें आ घुसीं। दक्षिण आफ्रीका में एक प्रकार की प्रजासत्ता थी। पर अब तो एशिया से सोलहों आने नवाबशाही आगई; क्योंकि एशिया में तो प्रजा-सत्ता था नहीं, बल्कि उलटे प्रजा पर ही सत्ता चलाई जाती थी। इसके विपरीत दक्षिण अफ्रीका में गोरे घर बना कर बस गये थे। इसलिए वे वहां के प्रजाजन हो गये थे, और इसीलिए राज-कर्मचारियों पर उनका अंकुश रहता था। पर अब इसमें आ-मिले थे; एशिया के निरंकुश राजकर्मचारी जिन्होंने बेचारे हिन्दुस्तानी लोगों की हालत सरौते में सुपारी की तरह कर दी थी।

मुझे भी इस सत्ता का खासा अनुभव हो गया। पहले तो मैं इस महकमे के बड़े अफसर के पास तलब किया गया। यह साहब लंका से आ गये थे। मेरे 'तलब किया गया' इन शब्दों में कहीं अत्युक्ति का आभास न हो, इसलिए अपना आशय जरा ज्यादा स्पष्ट कर देता हूँ। मैं चिट्ठी लिख कर नहीं बुलाया गया था। मुझे वहां के प्रमुख हिन्दुस्तानियों के यहां तो निरंतर जाना पड़ता ही था। स्वर्गीय सेठ तैयब हाजी खान मोहम्मद भी ऐसे अगु-वाओं में से थे। उनसे इन साहब ने पूछा—'गाँधी कौन है? वह यहां किस लिए आया है?'

तैयब सेठ ने जवाब दिया, 'वह हमारे सलाहकार हैं और हमारे बुलाने से यहां आये हैं।'

'तो फिर हम सब यहां किस काम के लिए हैं ? क्या हमारी जरूरत आपकी रक्षा के ही लिए नहीं हुई है ? गाँधी यहां का हाल क्या जाने ?' साहब ने कहा। तैयब सेठ ने जैसे-तैसे करके इस प्रहार का भी जवाब दिया,—'हाँ आप तो हैं ही, पर गांधी-जी तो हमारे ही अपने ठहरे न ? वे हमारी भाषा जानते हैं, हमारे भावों को, हमारे पहलू को समझते हैं। और आप कैसे ही क्यों न हों आखिर हैं तो राज-कर्मचारी ही न ?'

इसपर साहब ने हुक्म फ़रमाया —'गांधी को मेरे पास ले आना।'

तैयब सेठ वग़ैरा के साथ मैं साहब से मिलने गया। कुर्सी तो भला मिल ही कैसे सकती थी ? हम सबको खड़े ही खड़े बातें करनी पड़ी।

'कहिए, आप यहां किसलिए आये हैं ?' साहब ने मेरी ओर आँख उठा कर पूछा।

'मेरे इन भाइयों के बुलाने से इन्हें सलाह देने के लिए आया हूँ'। मैंने उत्तर दिया।

'पर आप जानते नहीं कि आपको यहाँ आने का कतई हक़ नहीं है ? आपको जो परवाना मिला है वह तो भूल से दे दिया

गया है। आप यहाँ के वाशिन्दा तो हैं नहीं। आपको वापिस लौट जाना पड़ेगा। आप मि० चैम्बरलैन से नहीं मिल सकते। यहाँ के हिन्दुस्तानियों की रक्षा करने के लिए तो हमारा यह महकमा ही खास तौर पर खोला गया है। अच्छा, तो आप जाइए।'

इतना कह कर साहब ने मुझे विदा किया। मुझे जवाब तक देने का अवसर न दिया।

पर मेरे साथियों को उन्होंने रोक कर धमकाया और कहा कि गांधी को ट्रांसवाल से विदा करदो।

वे अपना-सा मुँह लेकर वापिस आये। अब मेरे सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई। और सो भी इस तरह अचानक!

ज़हर की घूंट पीना पड़ी

इस अपमान से मेरे दिल को बड़ी चोट पहुँची, पर इससे पहले मैं ऐसे अपमान सहन कर चुका था, इससे उसका कुछ आदी हो रहा था। अतएव इस अपमान की परवा न करके तटस्थ-भाव से जो कुछ कर्त्तव्य दिखाई पड़ा उसे करने का निश्चय मैंने किया। इसके बाद पूर्वोक्त अफसर की सही से एक चिट्ठी मिली कि डरबन में मि० चैम्बरलैन गाँधीजी से मिल चुके हैं, इसलिए अब इनका नाम प्रतिनिधियों में से निकाल डालना जरूरी है।

मेरे साथियों को यह चिट्ठी बड़ी ही नागवार हुई। उन्होंने

कहा—'तो ऐसी हालत में हमें शिष्ट-मंडल लेजाने की भी जरूरत नहीं।, तब मैंने उन्हें वहाँ के लोगों की विषम स्थिति का भली प्रकार परिचय कराया—'यदि आप लोग मि० चैम्बरलेन से मिलने न जायँगे तो इसका यह अर्थ किया जायगा कि यहां आप पर किसी क़िस्म का जुल्म नहीं है। फिर जबानी तो कुछ कहना है नहीं लिखा हुआ तैयार है मैंने पढ़ा क्या, और दूसरे ने पढ़ा क्या? मि० चैम्बरलेन वहां उस पर बहस थोड़ी ही करेंगे। मेरा जो कुछ अपमान हुआ है उसे हमें पी जाना चाहिए।'

इतना मैं कह ही रहा था कि तैयब सेठ बोल उठे—'पर आपका अपमान क्या सारी क़ौम का अपमान नहीं है? हम यह कैसे भूल सकते हैं कि आप हमारे प्रतिनिधि हैं?'

मैंने कहा—'आपका कहना तो ठीक है; पर ऐसे अपमान तो क़ौम को भी पी जाना पड़ेंगे—बताइए, हमारे पास इसका दूसरा इलाज ही क्या है?'

'जो-कुछ होना होगा सो हो जायगा। पर खुद-ब-खुद हम और अपमान क्यों माथे लें? मामला बिगड़ तो यों भी रहा ही है। और हमें अधिकार भी ऐसे कौन से मिल गये हैं?' तैयब सेठ ने उत्तर दिया।

तैयब सेठ का यह जोश मुझे पसंद तो आ रहा था, पर मैं यह भी देख रहा था कि उससे फायदा नहीं उठाया जा सकता। लोगों

की मर्यादा का अनुभव मुझे था। इसलिए इन साथियों को मैंने शान्त करके उन्हें यह सलाह दी कि मेरे बजाय आप (अब स्वर्गीय) जॉर्ज गाडफ्रे को साथ ले जाइए—वह हिन्दी बैरिस्टर थे।

इस तरह श्री गाडफ्रे की अध्यक्षता में यह शिष्ट-मण्डल मि० चेंबरलेन से मिलने गया। मेरे बारे में भी मि० चेंबरलेन ने कुछ चर्चा की थी। 'एक ही आदमी की बात दुबारा सुनने की अपेक्षा नये आदमी की बात सुनना मैंने ज्यादा मुनासिब समझा—' आदि कह कर उन्होंने हमारे जख्म पर मरहम पट्टी करने की कोशिश की।

पर इससे मेरा और कौम का काम पूरा होने के बजाय उलटा बढ़ गया। अब तो फिर 'अ-आ, इ-ई' से शुरुआत करने की नौबत आ पहुँची। 'आप के ही कहने से तो हम लोग इस लड़ाई-झगड़े में पड़े। और आख़िर नतीजा यही निकला!' इस तरह ताने-तिश्ने भी मुझ पर बरसने लगे। पर मेरे मन पर इनका कुछ असर न होता था। मैंने कहा—'मुझे तो अपनी सलाह पर पश्चात्ताप नहीं होता। मैं तो अब भी यह मानता हूँ कि हम इस काम में पड़े यह अच्छा ही हुआ। ऐसा करके हमने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। चाहे इसका फल हमें खुद न देख सकें—पर मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि शुभ कार्य का फल सदा शुभ होता है और होगा। अब तो हमें गई-गुजारी

बातों को छोड़ कर इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमारा कर्त्तव्य क्या है। यही अधिक लाभप्रद है।'

दूसरे मित्रों ने भी इस बात का समर्थन किया।

मैंने कहा—'सच पूछिए तो जिस काम के लिए मैं यहाँ बुलाया गया था वह तो पूरा होगया समझना चाहिए। पर मेरी अन्तरात्मा कहती है कि अब तो आप लोग यदि मुझे यहाँ से छुट्टी दे दें तो भी, जहाँ तक मेरा बस चलेगा, मैं ट्रान्सवाल से नहीं हट सकता। मेरा काम अब नेटाल से नहीं बल्कि यहाँ से चलना चाहिए। अब मुझे कम से कम एक साल तक यहाँ से लौट जाने का विचार त्याग देना चाहिए और मुझे यहाँ वकालत करने की सनद प्राप्त कर लेना चाहिए। इस नये महकमे के मामले को तय करा लेने की हिम्मत मैं अपने अन्दर पाता हूँ। यदि इस मामले का तस्फिया न कराया तो क़ौम के लुट जाने, और ईश्वर न करे, यहाँ से उसका नामोनिशान मिट जाने, का अन्देशा मुझे है। उसकी हालत तो दिन-दिन गिरती ही जायगी इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं। मि० चेंबरलेन का मुझसे न मिलना, उस अधिकारी का मेरे साथ तिरस्कार का बर्ताव करना—ये बातें तो सारी कौम की—सारे समाज की मानहानि के मुकाबले में कुछ भी नहीं है। हम यहाँ कुत्ते की तरह दुम हिलाते रहें, यह कैसे बरदाश्त किया जा सकता है?'

मैंने इस तरह अपनी बात लोगों के सामने रक्खी। प्रिटो-रिया और जोहान्सबर्ग में रहने वाले भारतीय अगुओं के साथ सलाह-मशवरा करके अन्त में जोहान्सबर्ग में अपना दफ्तर रखने का निश्चय किया।

ट्रान्सवाल में भी मुझे यह तो शक था ही कि वकालत की सनद मिलेगी भी या नहीं? परन्तु, ईश्वर ने खैर की, वहाँ के वकील-मण्डल की ओर से मेरी दरख्वास्त का विरोध नहीं किया गया और बड़ी अदालत ने मेरी दरख्वास्त मंजूर कर ली।

वहाँ एक भारतवासी के दफ्तर के लिए अच्छी जगह मिलना भी मुश्किल था। परन्तु मि० रीच के साथ मेरा खासा परिचय हो गया था। उस समय वह व्यापारी-वर्ग में थे। उनकी जान-पहचान के हाउस-एजंट—मकानों के दलाल—के मार्फत दफ्तर के लिए अच्छी जगह मिल गई और मैंने वकालत शुरू कर दी।

त्याग-भाव की वृद्धि

ट्रान्सवाल में लोगों के हक़ों की रक्षा के लिए किस तरह लड़ना पड़ा और एशियाई महकमे के अधिकारियों के साथ किस तरह पेश आना पड़ा, इसका अधिक वर्णन करने के पहले मेरे जीवन के दूसरे पहलू पर नज़र डाल लेने की आवश्यकता है।

अबतक कुछ-न-कुछ धन इकट्ठा कर लेने की इच्छा मन में रहा करती थी। मेरे परमार्थ के साथ यह स्वार्थ का मिश्रण भी रहता था।

बम्बई में जब मैंने अपना दफ्तर खोला था तब एक अम-

रीकन बीमा-एजेंट मुझसे मिलने आया था। उसका चेहरा खुश-नुमा था। उसकी बातें बड़ी मीठी थीं। उसने मुझसे मेरे भावी कल्याण की बातें इस तरह की, मानों वह मेरा कोई बहुत दिनों का मित्र हो। 'अमरीका में तो आपकी हैसियत के सब लोग अपनी जिंदगी का बीमा करवाते हैं। आपको भी उनकी तरह अपने भविष्य के लिए निश्चिन्त हो जाना चाहिए। जिन्दगी का आखिर क्या भरोसा ? हम अमरीकावासी तो बीमा कराना अपना धर्म समझते हैं, तो क्या आपको मैं एक छोटी-सी पालिसी कराने के लिए भी न ललचा सकूँगा ?'

"अबतक क्या हिन्दुस्तान में और क्या दक्षिण आफ्रिका में कितने ही एजेंट मेरे पास आये; पर मैंने किसीको दाद न दी थी। क्योंकि मैं समझता था कि बीमा कराना मानों अपनी भीरुता का और ईश्वर के प्रति अ-विश्वास का परिचय देना था। पर इस बार मैं लालच में आ गया। वह एजेंट ज्यों-ज्यों अपना जादू घुमाता जाता त्यों-त्यों मेरे सामने अपनी पत्नी और पुत्रों की तस्वीर खड़ी होने लगी। मन में यह भाव उठा कि 'अरे, तुमने पत्नी के लगभग सब गहने-पत्ते बेच डाले हैं। अब अगर यह शरीर कुछ का कुछ हो जाय तो इन पत्नी और बाल-बच्चों के भरण-पोषण का भार आखिर तो उसी गरीब भाई पर न जा पड़ेगा, जो आज तुम्हारे पिताजी के स्थान की पूर्ति कर रहा है,

और खूबी के साथ कर रहा है ? क्या यह उचित होगा ?' इस तरह मैंने अपने मन को समझा कर १०,०००) का बीमा करा लिया।

पर दक्षिण आफ्रिका में मेरे मन की हालत यह न रह गई थी और मेरे विचार भी बदल गये थे। दक्षिण आफ्रिका की नई आपत्ति के समय मैंने जो-कुछ किया वह ईश्वर को साक्षी रखकर ही किया था। मुझे इस बात को कुछ खबर न थी कि दक्षिण आफ्रिका में मुझे कितने समय रहना पड़ेगा। मेरी तो यह धारणा होगई थी कि अब मैं हिन्दुस्तान को वापस न लौट पाऊँगा। इसलिए मुझे बाल-बच्चों को अपने साथ ही रखना चाहिए। उनको अब अपने से दूर रखना उचित नहीं। उनके भरण-पोषण का प्रबंध भी दक्षिण-आफ्रिका में ही होना चाहिए। यह विचार मन में आते ही वह पालिसी उलटे मेरे दुःख का कारण बन गई। मुझे मन में इस बात पर शर्म आने लगी कि मैं उस एजेंट के चक्कर में कैसे आ गया। मैंने इस विचार को अपने मन में स्थान ही कैसे दिया कि जो भाई मेरे लिए पिता के बराबर हैं उन्हें अपने सगे छोटे भाई की विधवा का बोझ नागवार होगा ? और यह भी कैसे मान लिया कि पहले तुम ही मर जाओगे ? आखिर सब का पालन करने वाला तो वह ईश्वर है, न तो तुम हो, न तुम्हारे भाई हैं। बीमा करवाके तुमने

अपने बाल-बच्चों को भी पराधीन बना दिया। वे क्यों स्वावलंबी नहीं हो सकते? इन असंख्य ग़रीबों के बाल-बच्चों का आखिर क्या होता है? तुम अपनेको उन्हींके जैसा क्यों नहीं समझ लेते?'

इस प्रकार मन में विचारों की धारा बहने लगी। पर उसके अनुसार व्यवहार सहसा ही नहीं कर डाला। मुझे ऐसा याद पड़ता है कि बीमा की एक किश्त तो मैंने दक्षिण आफ्रिका से भी जमा कराई थी।

परन्तु इस विचार-धारा को बाहरी उत्तेजन मिलता गया। दक्षिण आफ्रिका की पहली यात्रा के समय मैं ईसाइयों के वातावरण में कुछ आचुका था और उसके फल-स्वरूप धर्म के विषय में जाग्रत रहने लगा था। इस बार थियसफी के वातावरण में आया। मि० रीच थियसफ़िस्ट थे। उन्होंने जोहान्सबर्ग की सोसायटी से मेरा संबंध करा दिया। मेरा थियसफी के सिद्धान्तों से मत-भेद था, इसलिए मैं उसका सदस्य तो नहीं बना; पर फिर भी लगभग प्रत्येक थियसफिस्ट से मेरा गाढ़ परिचय होगया था। उनके साथ रोज धर्म-चर्चा हुआ करती। थियसफी की पुस्तकें पढ़ी जातीं और उनके मंडल में कभी-कभी मुझे बोलना भी पड़ता। थियसफी में भ्रातृभाव पैदा करना और बढ़ाना मुख्य बात है। इस विषय पर हम बहुत चर्चा करते और मैं जहाँ-जहाँ

इस मान्यता और सभ्यों के आचरण में भेद देखता वहाँ उसकी आलोचना भी करता। इस आलोचना का प्रभाव खुद-मुझपर बड़ा अच्छा पड़ा। इससे मुझे आत्म-निरीक्षण की लगन लग गई।

निरीक्षण का परिणाम

जब १८९३ में मैं ईसाई-मित्रों के निकट-परिचय में आया तब मैं एक विद्यार्थी की स्थिति में था। ईसाई-मित्र मुझे बाइबल का सन्देश सुनाने, समझाने और मुझसे स्वीकार कराने का उद्योग कर रहे थे। मैं नम्र-भाव से, एक तटस्थ की तरह, उनकी शिक्षाओं को सुन और समझ रहा था। इसके बदौलत मैं हिन्दू-धर्म का यथाशक्ति अध्ययन कर सका और दूसरे धर्मों को भी समझने की कोशिश की। पर अब १९०३ में स्थिति बदल गई। थियसफिस्ट मित्र मुझे अपनी संस्था में खींचने की इच्छा तो जरूर कर रहे थे; परन्तु

वह एक हिन्दू के तौर पर मुझसे कुछ प्राप्त करने के उद्देश्य से। थियसफी की पुस्तकों पर हिन्दू-धर्म की छाया और उसका प्रभाव बहुत-कुछ पड़ा है, इसलिए इन भाइयों ने यह मान लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकूँगा। मैंने उन्हें समझाया कि मेरा संस्कृत का अध्ययन बराय नाम ही है। मैंने हिन्दू-धर्म के प्राचीन ग्रन्थों को संस्कृत में नहीं पढ़ा है और अनुवादों के द्वारा भी मेरा पठन कम हुआ है। फिर भी, चूँकि वे संस्कारों को और पुनर्जन्म को मानते हैं, उन्होंने अपना यह खयाल बना लिया कि मेरी थोड़ी-बहुत मदद तो उन्हें अवश्य ही मिल सकती है और इस तरह मैं—'रूख नहीं वहँ रेंड प्रधान' बन गया। किसीके साथ विवेकानन्द का 'राजयोग' पढ़ने लगा तो किसीके साथ मणिलाल नभुभाई का राजयोग। एक मित्र के साथ 'पातंजल योगदर्शन' भी पढ़ना पड़ा। बहुतों के साथ गीता का अध्ययन शुरू किया। एक छोटा-सा 'जिज्ञासु-मण्डल' भी बनाया गया और नियम-पूर्वक अध्ययन आरम्भ हुआ। गीताजी के प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो पहले ही से थी। अब उसका गहराई के साथ रहस्य समझने की आवश्यकता दिखाई दी। मेरे पास एक-दो अनुवाद रक्खे थे। उनकी सहायता से मूल संस्कृत समझने का प्रयत्न किया और नित्य एक या दो श्लोक कण्ठ करने का निश्चय किया।

सुबह का दतौन और स्नान का समय मैं गीताजी कण्ठ करने में लगाता। दतौन में १५ और स्नान में २० मिनट लगते। दतौन अंग्रेजी रिवाज के मुताबिक खड़े-खड़े करता। सामने दीवार पर गीताजी के श्लोक लिखकर चिपका देता और उन्हें देख देख कर रटता रहता। इस तरह रटे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते। बीच में पिछले श्लोकों को भी दुहरा जाता। इस प्रकार मुझे याद पड़ता है कि १३ अध्याय तक गीता ज़बानी करली थी। पर बाद को काम की झंझटें बढ़ गई। सत्याग्रह का जन्म हो गया और उस बालक की परवरिश का भार आ पड़ा, जिससे विचार करने का समय भी उसके लालन-पालन में बीता और कह सकते हैं कि अब भी बीत रहा है।

इस गीता-पाठ का असर मेरे सहाध्यायियों पर तो जो-कुछ पड़ा हो वह वही बता सकते हैं; किन्तु मेरे लिए तो गीता आचार की एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोष हो गई है। अपरिचित अंग्रेजी शब्द के हिज्जे या अर्थ को देखने के लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोष को खोलता उसी तरह आचार सम्बन्धी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियों को गीताजी के द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दों ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूँ, कैसे उसका पालन करूँ ? जो अधिकारी

हमारा अपमान करें, जो रिश्वतखोर हैं, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं, जो कल के साथी हैं, उनमें और उन सज्जनों में जिन्होंने हमपर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नहीं है ? अपरिग्रह का पालन किस तरह मुमकिन है ? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है ? स्त्री-पुत्र आदि यदि परिग्रह नहीं है तो फिर क्या हैं ? क्या पुस्तकों से भरी इन अलमारियों में आग लगा दूँ ? यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ ! अन्दर से तुरन्त उत्तर मिला—हाँ, घर-बार को खाक किये बिना तीर्थ नहीं किया जा सकता । इसमें अंग्रेजी कानून के अध्ययन ने मेरी सहायता की । स्नेल रचित कानून के सिद्धान्तों की चर्चा याद आई । 'ट्रस्टी' शब्द का अर्थ गीताजी के अध्ययन के बदौलत अच्छी तरह समझ में आया । कानून-शास्त्र के प्रति मन में आदर बढ़ा । उसके अन्दर भी मुझे धर्म का तत्त्व दिखाई पड़ा । 'ट्रस्टी' यों करोड़ों की सम्पत्ति रखते हैं, फिर भी उसकी एक पाई पर उनका अधिकार नहीं होता । इसी तरह मुमुक्षु को अपना आचरण रखना चाहिए—यह पाठ मैंने गीताजी से सीखा । अपरिग्रही होने के लिए, सम-भाव रखने के लिए, हेतु का और हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी । बस, तुरन्त रेवाशंकर भाई को लिखा कि बीमा की पालिसी बन्द कर दीजिए । कुछ रुपया वापस मिल जाय तो

ठीक; नहीं तो खैर। बाल-बच्चों और गृहिणी की रक्षा वह ईश्वर करेगा, जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्र का था। पिता के समान अपने बड़े भाई को लिखा— 'आजतक मैं जो कुछ बचाता रहा आपके अर्पण करता रहा, अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो कुछ बच रहेगा वह यहीं के सार्वजनिक कामों में लगेगा।'

इस बात का औचित्य मैं भाईसाहब को जल्दी न समझा सका। शुरू में तो उन्होंने बड़े कड़े शब्दों में मुझे अपने प्रति मेरे धर्म का उपदेश दिया— पिताजी से बढ़कर अक्ल दिखाने की तुम्हें जरूरत नहीं। क्या पिताजी अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण नहीं करते थे? तुम्हें भी उसी तरह घर-बार सम्हालना चाहिए। आदि' मैंने विनय-पूर्वक उत्तर दिया—'मैं तो वही काम कर रहा हूँ, जो पिताजी करते थे। यदि कुटुम्ब की व्याख्या हम जरा व्यापक करदें तो मेरे इस कार्य का औचित्य तुरन्त आपके ख़याल में आ जायगा।'

अब भाईसाहब ने मेरी आशा छोड़ दी। करीब करीब अबोला ही रक्खा। मुझे इससे दुःख हुआ। परन्तु जिस बात को मैंने अपना धर्म मान लिया उसे यदि छोड़ता हूँ तो उससे भी अधिक दुःख होता था। अतएव मैंने इस थोड़े दुःख को सहन कर लिया। फिर भी भाई साहब के प्रति मेरी भक्ति उसी

तरह निर्मल और प्रचण्ड रही। मैं जानता था कि भाई साहब के इस दुःख का मूल है उनका प्रेम-भाव। उन्हें मेरे रुपये पैसे की अपेक्षा मेरे सद्व्यवहार की अधिक चाह थी।

पर अपने अन्तिम दिनों में भाईसाहब मुझपर पसीज गये थे। जब वह मृत्यु-शय्या पर थे तब उन्होंने मुझे सूचित कराया कि मेरा कार्य ही उचित और धर्म्य था। उनका पत्र बड़ा ही करुणाजनक था। यदि पिता पुत्र से माफी माँग सकता हो तो उन्होंने उसमें मुझसे माफी माँगी थी। लिखा कि मेरे लड़कों का तुम अपने ढंग से लालन-पालन और शिक्षण करना। वह मुझसे मिलने के लिए बड़े अधीर हो गये थे। मुझे तार दिया। मैंने तार द्वारा उत्तर दिया—'जरूर आजाइए।' पर हमारा मिलाप ईश्वर को मंजूर न था।

अपने पुत्रों के लिए जो इच्छा उन्होंने प्रदर्शित की थी वह भी पूरी न हुई। भाईसाहब ने तो देश में ही अपना शरीर छोड़ा था। लड़कों पर उनके पूर्व-जीवन का असर पड़ चुका था। उनके संस्कारों में परिवर्तन न हो पाया। मैं उन्हें अपने पास न खींच सका। इसमें उनका दोष नहीं है। स्वभाव को कौन बदल सकता है? बलवान संस्कारों को कौन मिटा सकता है? हम अक्सर यह मानते हैं कि जिस तरह हमारे विचारों में परिवर्तन हो जाता है, हमारा विकास हो जाता है, उसी तरह हमारे

आश्रित लोगों या साथियों में भी हो जाना चाहिए; पर यह मिथ्या है।

माता-पिता होनेवालों की जिम्मेवारी कितनी भयंकर है, यह बात इस उदाहरण से कुछ समझ में आ सकती है।

निरामिषाहार की वेदी पर—

जीवन में ज्यों-ज्यों त्याग और सादगी बढ़ते गये और धर्म-जागृति की वृद्धि होती गई त्यों-त्यों निरामिषाहार का और उसके प्रचार का शौक बढ़ता गया। प्रचार मैं एक ही तरह से करना जानता हूँ—आचार के द्वारा, और आचार के साथ ही साथ जिज्ञासु के साथ वार्तालाप करके।

जोहान्सबर्ग में एक निरामिषाहारी-गृह था। उसका संचालक एक जर्मन था, जोकि क्युनी के जलोपचार का कायल था। मैंने वहाँ जाना शुरू किया, और जितने अँग्रेज मित्रों को वहाँ ले जा सकता था, ले जाता था। परन्तु मैंने देखा कि यह भोजनालय

बहुत दिनों तक नहीं चल सकेगा; क्योंकि रुपये-पैसे की तंगी उसमें रहा ही करती थी। जितना मुझे वाजिब मालूम हुआ, मैंने उसमें मदद दी। कुछ रुपया गँवाया भी। अन्त को वह बन्द हो गया। थियसफिस्ट बहुतेरे निरामिषाहारी होते हैं। कोई पूरे और कोई अधूरे। इस मण्डल की एक बहन साहसी थी। उसने बड़े पैमाने पर एक निरामिष-भोजनालय खोला। यह बहन कला-रसिक थी। शाहखर्च थी। और हिसाब-किताब का भी बहुत ख्याल नहीं रखती थी। उसके मित्र-मण्डल की संख्या अच्छी कही जा सकती थी। पहले तो उसका काम छोटे पैमाने पर शुरू हुआ। परन्तु बाद को उसने उसे बढ़ाने का और बड़ी जगह लेलाने का निश्चय किया। इस काम में उसने मेरी सहायता चाही। उस समय उसके हिसाब-किताब की हालत का मुझे कुछ पता न था। मैंने मान लिया कि उसके हिसाब और अटकल में कोई भूल न होगी। मेरे पास रुपये पैसे की सुविधा रहती थी। बहुतेरे मवक्किलों के रुपये मेरे पास रहते थे। उनमें से एक सज्जन की इजाजत लेकर लगभग एक हजार पौंड मैंने उसे दे दिया। यह मवक्किल बड़े उदार हृदय और विश्वासशील थे। वह पहले-पहल गिरमिट में आये थे। उन्होंने कहा—'भाई, आपका दिल चाहे तो पैसे देदो। मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो आपही को जानता हूँ।' उनका नाम था बदरी। उन्होंने सत्याग्रह में बहुत योग दिया

था। जेल भी काटी थी। इतनी सम्मति पाकर ही मैंने उसमें रुपये लगा दिये। दो-तीन महीने में ही मैं जान गया कि ये रुपये वापस आने वाले नहीं हैं; इतनी बड़ी रकम खो देने का सामर्थ्य मुझे न था। मैं इस रकम को दूसरे काम मे लगा सकता था। वह रकम आखिर उसीमे डूब गई। परन्तु मैं इस बात को कैसे गवारा कर सकता था कि उस विश्वासी बद्री का रुपया चला जाय? वह तो मुझको ही पहचानता था। अपने पास से मैंने वह रकम भरदी।

एक मवक्किल मित्र से मैंने इस रुपये की बात की। उन्होंने मुझे मीठा उलहना देकर सचेत किया—

'भाई, (दक्षिण आफ्रिका में मैं "महात्मा" नहीं बन गया था और न 'बापू' ही बना था, मुवक्किल मित्र मुझे 'भाई, ही सम्बोधन करते थे) आपको ऐसे झगड़ों में न पड़ना चाहिए। हम तो ठहरे आपके विश्वास पर चलने वाले। ये रुपये आपको वापस नहीं मिलने के। बद्री को तो आप बचा लोगे, पर आपकी रकम बट्टे-खाते समझिए। पर ऐसे सुधार के कामों में यदि आप मवक्किलों का रुपया लगाने लगेंगे तो मवक्किल बेचारे पिस जायँगे और आप भिखारी बन कर घर बैठ रहेंगे। इससे आपके सार्वजनिक काम को भी धक्का पहुँचेगा।'

सद्भाग्य से यह मित्र अभी मौजूद हैं। दक्षिण आफ्रिका में

तथा दूसरी जगह इनसे अधिक स्वच्छ आदमी मैंने दूसरा नहीं देखा। किसीके प्रति यदि उनके मनमें सन्देह उत्पन्न होता और बाद को उन्हें मालूम हो जाता कि वह बे-बुनियाद था तो तुरंत जाकर उससे माफी मांगते और अपना दिल साफ कर लेते। मुझे इनकी यह चेतावनी बिलकुल ठीक मालूम हुई। बदरी का रुपया तो मैं चुका सका था; परन्तु यदि उस समय और एक हजार पौंड बरबाद किया होता तो उसको चुकाने की हैसियत मेरी बिलकुल नहीं थी और माथे कर्ज ही करना पड़ता। कर्ज के चक्कर में मैं अपनी जिन्दगी में कभी नहीं पड़ा और उससे मुझे हमेशा अरुचि ही रही है। इससे मैंने यह सबक सीखा कि सुधार-कार्यों के लिए भी हमें अपनी ताकत के बाहर पाँव न बढ़ाना चाहिए। मैंने यह भी देखा कि इस कार्य में मैंने गीता के तटस्थ निष्काम कर्म के मुख्य पाठ का अनादर किया था। इस भूल ने आगे को मेरे लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम दिया।

निरामिषाहार के प्रचार की वेदी पर मुझे इतना बलिदान करना पड़ेगा, इसका अनुमान मुझे न था। मेरे लिए यह अनिच्छित पुण्य था।

मिट्टी और पानी के प्रयोग

ज्यों-ज्यों मेरे जीवन में सादगी बढ़ती गई त्यों-त्यों बीमारियों के लिए दवा लेने की ओर जो अरुचि मुझे पहले ही से थी वह भी बढ़ती गई। जब मैं डरबन में वकालत करता था तब डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता मुझसे मिलने आये थे। उस समय मुझे कमजोरी रहा करती थी और कभी-कभी बदन सूज भी जाया करता था। उसका इलाज उन्होंने किया था और उससे मुझे लाभ भी हुआ था। इसके बाद देश आ जाने तक मुझे नहीं याद पड़ता कि मुझे कहने लायक कोई बीमारी हुई हो।

परन्तु जोहान्सबर्ग में मुझे कब्ज रहा करता था और जब-तब सिर में भी दर्द हुआ करता था। इधर-उधर की दस्तावर दवायें ले-लाकर तबियत को सम्हालता रहता था। खाने-पीने में तो मैं परहेज़गार शुरू से ही रहा हूँ, पर उससे मैं कतई रोग-मुक्त नहीं हुआ। मन बराबर यह कहता रहता था कि इस दवा के जंजाल से छूट जाऊँ तो बड़ा काम हो।

लगभग इसी समय मैनचेस्टर मे 'नो ब्रेकफास्ट एसोसियेशन' की स्थापना के समाचार मैंने पढ़े। उसकी खास दलील यह थी कि अंग्रेज लोग बहुत बार खाते हैं और बहुतेरा खा जाते हैं, रात के बारह-बारह बजे तक खाया करते हैं और फिर डाक्टरों का घर खोजते फिरते हैं। इस बखेड़े से यदि वे अपना पिण्ड छुड़ाना चाहें तो उन्हें ब्रेक-फास्ट अर्थात् सुबह का नाश्ता छोड़ देना चाहिए। यह बात मुझपर सर्वांश में तो नहीं पर कुछ अंश में जरूर घटित होती थी। मैं तीन बार पेट भर कर खाता और दो पहर को चाय भी पीता। मैं कभी अल्पाहारी न था। निरामिषारी होते हुए भी और बिना मसाले का खाना खाते हुए भी मैं जितनी हो सके चीजों को स्वादिष्ट बना कर खाता था। छः-सात बजे के पहले शायद ही कभी उठता। इससे मैंने यह नतीजा निकाला कि यदि मैं भी सुबह का खाना छोड़ दूँ तो जरूर मेरे सिर का दर्द जाता रहे। मैंने ऐसा ही

किया भी। कुछ दिन जरा मुश्किल तो मालूम पड़ा, पर साथ ही सिर का दर्द बिलकुल चला गया। इससे मुझे निश्चय हो गया कि मेरी खुराक जरूर आवश्यकता से अधिक थी।

परन्तु, कब्ज की शिकायत तो इस परिवर्तन से भी दूर नहीं हुई। क्यूनी के कटि-स्नान का प्रयोग किया। उससे कुछ फर्क पड़ा, पर जितना चाहिए उतना नहीं। इसी अरसे में उस जर्मन भोजनालय वाले ने या किसी दूसरे मित्र ने मेरे हाथ में जुस्ट-लिखित 'रिटर्न टू नेचर' (प्रकृति की ओर लौटो) नामक पुस्तक ला कर दी। उसमें मिट्टी के इलाज का वर्णन था। लेखक ने इस बात का भी बहुत समर्थन किया है कि हरे और सूखे फल ही मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है। केवल फलाहार का प्रयोग तो मैंने इस समय नहीं किया; पर मिट्टी का इलाज तुरन्त शुरू कर दिया। उसका जादू की तरह मुझपर असर हुआ। उसकी विधि इस प्रकार है। खेतों की साफ लाल या काली मिट्टी लाकर उसे आवश्यकतानुसार ठण्डे पानी में भिगो लेना चाहिए। फिर साफ पतले भीगे कपड़े में उसे लपेट कर पेट पर रखकर बाँध लेना चाहिए। मैं यह पट्टी रात को सोते समय बाँधता और सुबह अथवा रात को जब नींद खुल जाती उसे निकाल डालता। उससे मेरा कब्ज निर्मूल हो गया। उसके बाद मैंने मिट्टी के ये प्रयोग खुद अपने पर तथा अपने अनेक साथियों पर किये हैं,

पर मुझे ऐसा याद पड़ता है कि शायद ही कभी उनसे लाभ न पहुँचा हो।

पर, हाँ, यहाँ देश में आये बाद ऐसे उपचारों पर से मैं आत्म-विश्वास खो बैठा हूँ। प्रयोग करने का, एक जगह स्थिर होकर बैठने का, मुझे अवसर भी नहीं मिल सका है। फिर भी मिट्टी और पानी के उपचारों पर मेरा विश्वास बहुतांश में उतना ही बना हुआ है, जितना कि आरम्भ में था। आज भी एक सीमा के अन्दर रह कर, खुद अपने पर मिट्टी के प्रयोग करता हूँ और मौका पड़ जाने पर अपने साथियों को भी उसकी सलाह देता हूँ। मैं अपनी जिन्दगी में दो बार बहुत सख्त बीमार पड़ चुका हूँ। फिर भी मेरी यह दृढ़ धारणा है कि मनुष्य को दवा लेने की शायद ही आवश्यकता होती है। पथ्य और पानी, मिट्टी इत्यादि के घरेलू उपचारों से ही हजार में नौ-सौ निन्यानवे बीमारियाँ अच्छी हो सकती हैं।

बार-बार वैद्य, हकीम या डाक्टर के यहाँ दौड़-दौड़ कर जाने से शरीर में अनेक चूर्ण और रसायन भर कर मनुष्य अपने जीवन को कम कर देता है। इतना ही नहीं बल्कि अपने मन पर से अपना अधिकार भी खो बैठता है। इससे वह अपने मनुष्यत्व को भी गँवा देता है और शरीर का स्वामी रहने के बजाय उसका गुलाम बन जाता है।

यह अध्याय मैं रोग-शय्या पर पड़ा हुआ लिख रहा हूँ। इससे कोई इन विचारों की अवहेलना न करें। अपनी बीमारियों के कारणों का मुझे पता है। मैं अपनी ही खराबियों के कारण बीमार पड़ा हूँ, इस बात का ज्ञान और भान मुझे है, और मैं इसी कारण अपना धीरज नहीं छोड़ बैठा हूँ। इस बीमारी को मैंने ईश्वर का अनुग्रह माना है और दवा-दर्पन करने के लालचों से दूर रहा हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि मैं अपनी इस हठ-धर्मी के कारण अपने डाक्टर मित्रों का जी उकता देता हूँ, पर, वे उदार भाव से मेरी हठ को सहन कर लेते हैं और मुझे छोड़ नहीं देते।

पर मुझे अपनी वर्तमान स्थिति का लम्बा-चौड़ा वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इसलिए, अब हम फिर १९०४-५ में आ जावें।

परन्तु, इस विषय में आगे बढ़ने के पहले पाठक को एक चेतावनी देना जरूरी है। इसको पढ़कर जो लोग जुस्ट की पुस्तक लें वे उसकी सब बातों को वेद-वाक्य न समझ लें। सभी लेखों और पुस्तकों में लेखक की दृष्टि, प्रायः एकांगी रहती है। मेरे ख़याल में हरएक चीज़ कम से कम सात दृष्टिबिन्दुओं से देखी जा सकती है और उन-उन दृष्टिबिन्दुओं के अनुसार वह बात सच भी होती है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि सभी

दृष्टि-बिन्दु एक ही समय और एक ही मुकाम पर सही नहीं होते। फिर कितनी ही पुस्तकों में बिक्री के और नाम के लालच की बुराई भी रहती है। इसलिए जो सज्जन इस पुस्तक को पढ़ना चाहें वे इसे विवेक पूर्वक पढ़ें और यदि कोई प्रयोग करना चाहें तो किसी अनुभवी की सलाह से करें, या धीरज रख कर विशेष अभ्यास करने के बाद प्रयोग की शुरुआत करें।
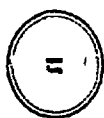
एक चेतावनी

अपनी इस कथा के धारा-प्रवाह को फिलहाल एक अध्याय तक रोक कर पहले इसी विषय पर कुछ और रोशनी डालने की आवश्यकता है।

पिछले अध्याय में मिट्टी के प्रयोगों के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ लिखा है उसी तरह भोजन के भी प्रयोग मैंने किये हैं। इसलिए उसके सम्बन्ध में भी यहाँ कुछ लिख डालना उचित है। इस विषय की और जो-कुछ बातें हैं वे प्रसंग-प्रसंग पर सामने आती जावेंगी।

भोजन-सम्बन्धी मेरे प्रयोगों और विचारों का सविस्तर

वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस विषय में मैंने अपनी 'आरोग्य विषे सामान्य ज्ञान' (आरोग्य-दिग्दर्शन) नामक पुस्तक में विस्तार-पूर्वक लिखा है। यह पुस्तक मैंने 'इण्डियन ओपीनियन' के लिए लिखी थी। मेरी छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में यह पुस्तक पश्चिम मे तथा यहाँ भी सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई है। इसका कारण मैं आजतक नहीं समझ सका हूँ। यह पुस्तक महज 'इण्डियन ओपीनियन' के पाठकों के लिए लिखी गई थी। परन्तु उसे पढ़ कर बहुतेरे भाई-बहनों ने अपने जीवन में परिवर्तन किया है और मेरे साथ चिट्ठी-पत्री भी की है और कर रहे हैं, इसलिए उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने की यहाँ आवश्यकता पैदा होगई है।

इसका कारण यह है कि यद्यपि उसमें लिखे अपने विचारों को बदलने की आवश्यकता मुझे अभीतक नहीं दिखाई पड़ी है, फिर भी अपने आचार में मैंने बहुत-कुछ परिवतन कर लिया है, जिसे इस पुस्तक के बहुतेरे पढ़ने वाले नहीं जानते और यह आवश्यक है कि वे उसे जल्दी जान लें।

इस पुस्तक को मैंने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर लिखा है. जिस तरह कि मैंने और लेख भी लिखे हैं और यही धर्म-भाव मेरे प्रत्येक कार्य में आज भी वर्तमान है। इसलिए इस बात पर मुझे बड़ा खेद रहता है और बड़ी शर्म मालूम होती है

कि आज मैं उनमें से कितने ही विचारों पर पूरा अमल नहीं कर सकता हूँ।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य जबतक बालक रहता है तबतक माता का जितना दूध पी लेता है उसके अलावा फिर उसे दूसरे दूध की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का भोजन वन-पके फल—हरे और सूखे के सिवा दूसरा नहीं है। बदामादि बीज तथा अंगूरादि फलों से उसे शरीर और बुद्धि के पोषण के लिए आवश्यक द्रव्य मिल जाते हैं। जो मनुष्य ऐसे भोजन पर रह सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्यादि आत्म-संयम बहुत आसान हो जाता है। 'जैसा आहार तैसी डकार' 'जैसा भोजन तैसा जीवन'। इस कहावत में बहुत तथ्य है। यह मेरे तथा मेरे साथियों के अनुभव की बात है। इन विचारों का सविस्तर प्रतिपादन मैंने अपनी आरोग्य-सम्बन्धी पुस्तक में किया है।

परन्तु मेरी तक़दीर में यह नहीं लिखा था कि हिन्दुस्तान में अपने प्रयोगों को पूर्णता तक पहुँचा दूँ। खेड़ा जिले में सैन्य-भर्ती का काम कर रहा था, कि अपनी एक भूल के बदौलत मृत्यु-शय्या पर जा पड़ा। विना दूध के जीवित रहने के लिए मैंने अबतक बहुतेरे निष्फल प्रयत्न किये हैं। जिन-जिन वैद्य डाक्टरों और रसायनशास्त्रियों से मेरी जान-पहचान थी उन सबसे मैंने मदद माँगी। किसी ने मूँगका पानी, किसीने महुए

का तेल, किसीने बदाम का दूध सुझाया। इन तमाम चीजों का प्रयोग करते हुए मैंने अपने शरीर को निचोड़ डाला, परन्तु मैं रोग-शय्या से न उठ सका।

वैद्यों ने तो मुझे चरक इत्यादि से ऐसे प्रमाण भी खोज कर बताये कि रोग-निवारण के लिए खाद्याखाद्य में दोष नहीं, और काम पड़ने पर मांसादि भी खा सकते है। ये वैद्य भला मुझे दूध त्यागने में मजबूत बने रहने में कैसे मदद दे सकते थे! जहाँ 'बीफ टी' और 'बराण्डी' भी जायज समझी जाती हो, वहाँ मुझे दूध-त्याग में कहाँ मदद मिल सकती है? गाय-भैंस का दूध तो मैं ले ही नहीं सकता था, क्योंकि मैंने व्रत ले रक्खा था। व्रत का हेतु तो यही था कि दूध-मात्र छोड़ दूँ, परन्तु व्रत लेते समय मेरे सामने गाय और भैंस माता ही थी इस कारण तथा जीवित रहने की आशा ने मन को ज्यों-त्यों करके फुसला लिया। इससे व्रत के अक्षरार्थ को ले बकरी का दूध लेने का निश्चय किया, यद्यपि बकरी माता का दूध लेते समय भी मेरा मन कह रहा था कि व्रत की आत्मा का यह हनन है।

पर मुझे तो रौलट-ऐक्ट के खिलाफ आन्दोलन खड़ा करना था। यह मोह मुझे नही छोड़ रहा था। इससे जीने की भी इच्छा बनी रही, और जिसे मैं अपने जीवन का महा-प्रयोग मानता हूँ, वह बात रुक गई।

खाने पीने के साथ आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं। वह न खाती है न पीती है। जो चीज पेट में जाती है वह नहीं बल्कि जो वचन अन्दर से निकलते हैं वे लाभ-हानि करते हैं, इत्यादि दलीलों को मैं जानता हूँ। इसमें तथ्यांश है। परन्तु दलीलों के झगड़े में पड़े बिना ही यहाँ तो मैं अपना निश्चय ही लिख रखना चाहता हूँ कि जो मनुष्य ईश्वर से डर कर चलना चाहता है, जो ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता है उस साधक या मुमुक्षु के लिए अपनी खूराक का चुनाव—त्याग और ग्रहण—उतना ही आवश्यक है जितना कि विचार और वाचा का चुनाव, त्याग और ग्रहण आवश्यक है।

पर जिन बातों में मैं खुद गिर गया हूँ उनमें दूसरों को मैं अपने सहारे चलने की सलाह न दूँगा। यही नहीं बल्कि चलने से रोकूँगा। इस कारण 'आरोग्य-दिग्दर्शन' के आधार पर प्रयोग करने वाले भाई-बहनों को मैं सावधान कर देना चाहता हूँ। जब दूध का त्याग सर्वांग में लाभदायक मालूम हो अथवा अनुभवी वैद्य-डाक्टर उसके छोड़ने की सलाह दें तब तो ठीक, नहीं तो सिर्फ मेरी पुस्तक पढ़ कर कोई सज्जन दूध न छोड़ दें। हिन्दुस्तान का मेरा अनुभव अबतक तो मुझे यही बताता है कि जिनकी जठराग्नि मन्द हो गई हो और जो बिछौने पर ही पड़े रहने लायक हो गये हैं उनके लिए दूध के बराबर हलका और पोषक

पदार्थ दूसरा नहीं। इसलिए पाठकों से मेरी विनती और सलाह है कि इस पुस्तक में दूध की मर्यादा सूचित की गई है उसपर वे आरूढ़ न रहें।

इन प्रकरणों को पढ़ने वाले कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम या दूसरे अनुभवी सज्जन दूध की एवज में उतना ही पोषक और पाचक वनस्पति—अपने अध्ययन के आधार पर ही नहीं बल्कि अनुभव के आधार पर—जानते हों तो मुझे सूचित कर उपकृत करें

ज़बरदस्त से मुकाबला

अब एशियाई कर्मचारियों की ओर दृष्टिपात करें। इन कर्मचारियों का सबसे बड़ा थाना जोहान्सबर्ग में था। मैं देखता था कि इन थानों में हिन्दुस्तानी, चीनी आदि लोगों का रक्षण नहीं बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज़ शिकायतें आतीं—"जिन लोगों को आने का अधिकार है वे तो दाखिल नहीं हो सकते और जिन्हें अधिकार नहीं हैं वे सौ-सौ पौण्ड देकर आते रहते हैं। इसका इलाज यदि आप न करेंगे तो कौन करेगा?" मेरा भी मन भीतर से यही कहता था। यह बुराई यदि दूर न हुई तो मेरा ट्रान्सवाल में रहना बेकार समझना चाहिए।

मैं इसके सबूत इकट्ठे करने लगा। जब मेरे पास काफी

सबूत जमा हो गया, तब मैं पुलिस-कमिश्नर के पास पहुँचा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसमें दया और न्याय का भाव है। मेरी बातों को एकदम उड़ा देने के बजाय उसने मन लगाकर सुनी और कहा कि इनका सबूत पेश कीजिए। मैंने जो गवाह पेश किये उनके बयान उसने खुद लिये। उसे मेरी बात का इत्मीनान हो गया। परन्तु जैसा कि मैं जानता था वैसे ही वह भी जानता था कि दक्षिण आफ्रिका में गोरे पञ्चों के द्वारा गोरे अपराधियों को दण्ड दिलाना मुश्किल था। पर उसने कहा—

"लेकिन फिर भी हमें अपनी तरफ से तो कोशिश करनी चाहिए। इस भय से कि ये अपराधी ज्युरी के हाथों छूट जायँगे, उन्हें गिरफ्तार न कराना भी ठीक नहीं। मैं तो उन्हें जरूर पकड़वाऊँगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं अपनी तरफ से कोई कसर नहीं रहने दूँगा।"

मुझे तो विश्वास था ही। दूसरे अफसरों के ऊपर मुझे शक तो था; लेकिन मेरे पास उनके खिलाफ कोई सबल प्रमाण नहीं था। दो के विषय में तो मुझे लेशमात्र सन्देह न था। इसलिए उन दोनों के नाम वारण्ट जारी हुए।

मेरा काम तो ऐसा ही था, जो छिपा नहीं रह सकता था। बहुत से लोग यह देखते थे कि मैं रोज पुलिस-कमिश्नर के पास जाता हूँ। इन दो कर्मचारियों के छोटे-बड़े कुछ जासूस लगे ही

रहते थे। वे मेरे दफ्तर के आस-पास मँडराया करते और मेरे आने-जाने के समाचार उन कर्मचारियों को सुनाते रहते। यहाँ मुझे यह भी कह देना चाहिए कि उन कर्मचारियों की ज्यादती, यहाँ तक बढ़ गई कि उन्हें बहुत जासूस नहीं मिलते थे। हिन्दुस्तानियों और चीनियों की यदि मुझे मदद न मिलती तो ये कर्मचारी नहीं पकड़े जा सकते थे।

उन दो कर्मचारियों में से एक भाग निकला। पुलिस कमिश्नर ने उसके नाम वारंट निकालकर उसे पकड़ मंगाया और मुकदमा चला। सबूत भी काफी पहुँच गया था। इधर ज्यूरी के पास एक के भाग जाने का तो प्रमाण भी था। फिर भी वे दोनों बरी हो गये।

इससे मैं स्वभावतः बहुत निराश हुआ। पुलिस-कमिश्नर को भी दुःख हुआ। वकीलों के रोजगार के प्रति मेरे मन में घृणा उत्पन्न हुई। बुद्धि का उपयोग अपराध को छिपाने में देख मुझे यह बुद्धि ही खलने लगी।

उन दोनों कर्मचारियों के अपराध की शोहरत इतनी फैल गई थी कि उनके छूट जाने पर भी सरकार उन्हें अपने पद पर न रख सकी। वे दोनों अपनी जगह से निकाले गये और इससे एशियाई थाने की गंदगी कुछ कम हुई और लोगों को भी अब धीरज बँधा और हिम्मत भी आई।

इससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई। मेरी वकालत भी चमकी। लोगों के जो सैकड़ो पौण्ड रिश्वत में जाते थे, वे सब के सब नहीं तो भी बहुत अधिक बच गये। रिश्वत ख़ोर तो अब भी हाथ मार ही लेते थे, पर यह कहा जा सकता है कि ईमानदार लोगो के लिए अपने ईमान को क़ायम रखने की सुविधा हो गई थी।

वे कर्मचारी इतने अधम थे; लेकिन, मैं कह सकता हूँ, उनके प्रति मेरे मन में कुछ भी दुर्भाव नहीं था। मेरे इस स्वभाव को वे जानते थे। और जब उनकी असहाय अवस्था में सहायता करने का मुझे अवसर मिला तो मैंने उनकी सहायता भी की है। ज़ोहान्सबर्ग की म्युनिसिपैलिटी में यदि मैं उनका विरोध न करूँ तो उन्हें नौकरी मिल सकती थी। इसके लिए उनका एक मित्र मुझसे मिला और मैंने उन्हें नौकरी दिलाने में मदद करना मंजूर किया। और उनकी नौकरी लग भी गई।

इसका यह असर हुआ कि जिन गोरे लोगों के संपर्क में मैं आया वे मेरे विषय में निःशंक होने लगे। और यद्यपि उनके महकमों के विरुद्ध मुझे कई बार लड़ना पड़ता, कठोर शब्द कहने पड़ते, फिर भी वे मेरे साथ मधुर संबन्ध रखते थे। ऐसा बर्ताव करना मेरा स्वभाव ही बन गया है, इसका ज्ञान मुझे उस समय न था। ऐसा बर्ताव सत्याग्रह की जड़ है, यह अहिंसा का ही एक अंग विशेष है, यह तो मैं बाद को समझा हूँ।

मनुष्य और उसका काम ये दो जुदा-जुदा चीजें हैं। अच्छे काम के प्रति मन मे आदर और बुरे के प्रति तिरस्कार अवश्य ही होना चाहिए। पर अच्छे-बुरे काम करने वाले के प्रति हमेशा मन में आदर अथवा दया का भाव होना चाहिए। यह बात समझने में तो बड़ी सरल है, लेकिन उसके अनुसार आचरण बहुत कम होता है। यही कारण है जो हम जगत् में हम इतना ज़हर फैला हुआ देखते हैं।

सत्य की खोज के मूल में ऐसी अहिंसा व्याप्त है। यह मैं प्रति क्षण अनुभव करता हूँ कि जबतक यह अहिंसा हाथ न लगेगी, तबतक सत्य हाथ नहीं आ सकता। किसी तंत्र या प्रणाली का विरोध तो अच्छा है, लेकिन उसके संचालक का विरोध करना मानों खुद अपना ही विरोध करना है। कारण यह है कि हम सबकी सृष्टि एक ही कूँची के द्वारा हुई है—हम सब एकही ब्रह्मदेव की प्रजा हैं। सञ्चालक अर्थात उस व्यक्ति के अन्दर तो अनंत शक्ति भरी हुई है; इसलिए यदि हम उसका अनादर—तिरस्कार करेंगे तो उसकी शक्तियों का, गुणों का भी अनादर होगा। और ऐसा करने से तो उस सञ्चालक को एवं प्रकारान्तर से सारे जगत् को हानि पहुँचेगी।

एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित

मेरे जीवन में ऐसी अनेक घटनायें होती रही हैं, जिनके कारण मैं अनेक धार्मिकों तथा जातियों के निकट-परिचय में आसका हूँ। इन सब अनुभवों पर से यह कह सकते हैं कि मैंने घर के या बाहर के, देशी या विदेशी, हिन्दू या मुसलमान तथा ईसाई, पारसी या यहूदियों से भेद-भाव का खयाल तक नहीं किया। मैं कह सकता हूँ कि मेरा हृदय इस प्रकार के भेद-भाव को जानता ही न था। इसको मैं अपना एक गुण नहीं मानता हूँ। क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि यम-नियमों के अभ्यास का तथा उनके लिए अब भी प्रयत्न

करते रहने का पूर्ण ज्ञान मुझे है उसी प्रकार इस अभेद-भाव को बढ़ाने के लिए मैंने कोई खास प्रयत्न किया है ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता।

जिस समय डर्बन में मैं वकालत करता था उस समय बहुत बार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। वे खासकर हिन्दू और ईसाई होते थे, अथवा प्रांतों के हिसाब से कहें तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नहीं आता कि कभी उनके विषय में मेरे मन में भेद-भाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें बिलकुल घर के जैसा समझता और उसमे मेरी धर्मपत्नी की ओर से यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मैं उससे लड़ता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मां-बाप पंचम जाति के थे। हमारे घरकी बँधाई पश्चिमी ढंग की थी। इस कारण कमरे में मोरी नहीं होती थी—और न होनी चाहिए थी। ऐसा मेरा मत है। इस कारण कमरों में मोरियो की जगह पेशाब के लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे साफ करने का काम हम दोनों—दम्पती—का था, नौकरों का नहीं। हाँ जो कारकुन लोग अपने को हमारा कुटुम्ब-सा मानने लगते थे वे तो खुद ही उसे साफ कर भी डालते थे। लेकिन ये पंचम जाति में जन्मे कारकुन नये थे। उनका बर्तन हमें ही उठा कर साफ करना चाहिए था। और बर्तन तो कस्तूर-बाई उठा कर साफ कर देती, लेकिन इन भाई का बर्तन—उठाना

उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनों के आपस में खूब चली। यदि मैं उठाता हूँ तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता था और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आँखों से मोती की बूँदे टपक रहीं हैं, एक हाथ में बर्तन है और अपनी लाल-लाल आँखों से उलहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियों से उतर रही हैं! उसका वह चित्र मैं आज भी ज्यों का त्यों खींच सकता हूँ।

परन्तु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निठुर और कठोर भी था। मैं अपने को उसका शिक्षक मानता था। इससे, अपने अन्धप्रेम के आधीन हो, मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बरतन उठा लेजाने भर से मुझे सन्तोष न हुआ। मैंने यह भी चाहा कि वह हँसते और हरखते हुए उसे ले जाय। इसलिए मैंने उसे डाँटा-डपटा भी। मैंने उत्तेजित होकर कहा—'देखो, यह बखेड़ा मेरे घर में न चल सकेगा।'

मेरा यह बोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। उसने धधकते हुए दिल से कहा—'तो लो रक्खो यह अपना घर। मैं चली।'

उस समय मैं ईश्वर को भूल गया था। दया का लेश-मात्र मेरे हृदय में न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ी के सामने ही बाहर निकलने का दरवाजा था। मैं उस दीन अबला का हाथ

पकड़ कर दरवाजे तक खींच कर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आँखों में से गंगा-जमना बहाती हुई कस्तूरबाई बोलीं—

'तुम्हें तो कुछ शरम है नहीं, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकल कर आखिर जाऊँ कहाँ? माँ-बाप भी तो यहाँ नहीं कि उनके पास चली जाऊँ। मैं ठहरी स्त्री-जाति। इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी। अब तो जरा शरम करो और दरवाजा बन्द करलो—कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।'

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रक्खा—पर मन में शरमा जरूर गया। दरवाजा बन्द कर दिया। जब कि पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी तब मैं भी उसे छोड़ कर कहाँ जा सकता था? इस तरह हमारे आपस में लड़ाई-झगड़े कई बार हुए हैं; परन्तु उनका परिणाम सदा अच्छा ही निकला है। उनमें पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा विजय प्राप्त की है।

ये घटनायें हमारे पूर्व-युग की हैं, इसलिए उनका वर्णन मैं आज अलिप्त भाव से कर सकता हूँ। आज मैं तब की तरह मोहान्ध पति नहीं हूँ, न उसका शिक्षक ही हूँ। यदि चाहें तो कस्तूरबाई आज मुझे धमका सकती हैं। हम आज एक दूसरे के भुक्त-भोगी मित्र हैं, एक दूसरे के प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूरबाई आज ऐसी सेविका बन गई हैं, जो मेरी बीमा-

रियों में बिना प्रतिफल की इच्छा किये सेवा सुश्रूषा करती हैं ।

यह घटना १८९८ की है। उस समय मुझे ब्रह्मचर्य-पालन के विषय मे कुछ ज्ञान न था। वह समय ऐसा था जब कि मुझे इस बात का स्पष्ट ज्ञान न था कि पत्नी तो केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दुःख की साथिन है। मैं यह समझ कर बरताव करता था कि पत्नी विषय-भोग की भाजन है, उसका जन्म पति की हर तरह की आज्ञाओं का पालन करने के लिए हुआ है।

किन्तु १९०० ईस्वी से मेरे इन विचारों मे गहरा परिवर्तन हुआ। १९०६ में उसका परिणाम प्रकट हुआ। परन्तु इसका वर्णन आगे प्रसंग आने पर होगा। यहाँ तो सिर्फ इतना ही बताना काफी है कि ज्यों-ज्यों मैं निर्विकार होता गया त्यों-त्यों मेरा घर संसार शान्त, निर्मल और सुखी होता गया और अब भी होता जाता है।

इस पुण्य-स्मरण से कोई यह न समझ लें कि हम आदर्श दम्पती हैं, अथवा मेरी धर्म-पत्नी में किसी किस्म का दोष नहीं है, अथवा हमारे आदर्श अब एक हो गये हैं। कस्तूरबाई अपना स्वतंत्र आदर्श रखती है या नहीं, यह तो वह बेचारी खुद भी शायद न जानती होंगी। बहुत संभव है कि मेरे आचरण की बहुतेरी बातें उसे अब भी पसन्द न आती हों। परन्तु अब हम

उनके बारे में एक दूसरे से चर्चा नहीं करते, करने में कुछ सार भी नहीं है। उसे न तो उसके माँ-बाप ने शिक्षा दी है; न मैं ही, जब समय था, शिक्षा दे सका। परन्तु उसमें एक गुण बहुत बड़े परिमाण में है, जो दूसरी कितनी ही हिन्दू स्त्रियों में थोड़ी-बहुत मात्रा में पाया जाता है। मन से हो या बे-मन से, जान में हो या अनजान में, मेरे पीछे पीछे चलने में उसने अपने जीवन की सार्थकता मानी है और स्वच्छ जीवन बिताने के मेरे प्रयत्नों में उसने कभी बाधा नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनों की बुद्धि-शक्ति में बहुत अन्तर है, फिर भी मेरा ख़याल है कि हमारा जीवन सन्तोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

अंग्रेजों से गाढ़ परिचय

इस अध्याय तक पहुँचने पर, अब ऐसा समय आगया है जब मुझे पाठकों को यह बताना चाहिए कि सत्य के प्रयोगों की यह कथा किस तरह लिखी जा रही है। जब कथा लिखने की शुरुआत की थी, तब मेरे पास उसका कोई ढाँचा तैयार न था। न अपने साथ पुस्तकें, डायरी अथवा दूसरे कागज-पत्र रख कर ही इन अध्यायों को लिख रहा हूँ। जिस दिन लिखने बैठता हूँ उस दिन अन्तरात्मा जैसी प्रेरणा करती है, वैसा लिखता जाता हूँ। मैं यह तो निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता कि जो क्रिया मेरे अन्दर चलती रहती है वह अन्तरात्मा की ही

प्रेरणा है; परन्तु बरसों से मैं जो अपने छोटे-छोटे और बड़े-बड़े कहे जाने वाले कार्य करता आया हूँ उनकी जब छानबीन करता हूँ तो मुझे यह कहना अनुचित नहीं मालूम होता कि वे अन्तरात्मा की प्रेरणा के ही फल हैं।

अन्तरात्मा को न तो मैंने देखा है, न जाना है। संसार की ईश्वर पर जो श्रद्धा है उसे मैंने अपनी बनाली है। यह श्रद्धा ऐसी नहीं है जो किसी प्रकार मिटाई जा सके। इसलिए अब वह मेरे नजदीक श्रद्धा नहीं बल्कि अनुभव हो गया है। फिर भी अनुभव के रूप में उसका परिचय कराना एक प्रकार से सत्य पर प्रहार करना है। इसलिए यही कहना शायद अधिक उचित होगा कि उसके शुद्ध रूप का परिचय देनेवाला शब्द मेरे पास नहीं है। मेरी यह धारणा है कि इसी अदृष्ट अन्तरात्मा के वशवर्ती होकर मैं यह कथा लिख रहा हूँ।

पिछला अध्याय जब मैंने शुरू किया तब उसका नाम रक्खा था—'अंग्रेजों से परिचय'। परन्तु उस अध्याय को लिखते हुए मैंने देखा कि उस परिचय का वर्णन करने के पहले मुझे 'पुण्य-स्मरण' लिखने की आवश्यकता है। तब 'पुण्य स्मरण' लिखा और बाद को उसका वह पहला नाम बदलना पड़ा।

अब इस प्रकरण को लिखते हुए फिर एक नया धर्म्म-संकट पैदा हो गया है। अंग्रेजों के परिचयों का वर्णन करते समय

क्या-क्या लिखूँ और क्या-क्या न लिखूँ, यह महत्त्व का प्रश्न उपस्थित हो गया है। यदि आवश्यक बात न लिखी जाय तो सत्य को दाग़ लग जाने का अन्देशा है। परन्तु सम्भव है कि इस कथा का लिखना भी आवश्यक न हो—ऐसी दशा में आवश्यक और अनावश्यक के झगड़े का न्याय सहसा कर देना कठिन हो जाता है।

आत्म-कथायें इतिहास के रूप में कितनी अपूर्ण होती हैं और उनके लिखने मे कितनी कठिनतायें आती हैं—इसके विषय में पहले मैंने कहीं पढ़ा था। पर उसका अर्थ मैं आज अधिक अच्छी तरह समझ रहा हूँ। सत्य के प्रयोगों की इस आत्मकथा में मैं वे सभी बातें नहीं लिख रहा हूँ जिन्हें मै जानता हूँ। कौन कह सकता है कि सत्य को दर्शाने के लिए मुझे कितनी बातें लिखना चाहिए और कितनी नहीं। या यों कहें कि एकतर्फा अधूरे सबूत की न्याय-मन्दिर में क्या कीमत हो सकती है? इन पिछले लिखे प्रकरणों पर यदि कोई फुरसतवाला आदमी मुझसे जिरह करने लगे तो न जाने कितनी रोशनी इन प्रकरणों पर पड़ सकती है। और यदि फिर एक आलोचक की दृष्टि से कोई उसकी छान-बीन करे तो वह कितनी ही पोल खोलकर दुनिया को हँसा सकता है और खुद फूलकर कुप्पा बन सकता है।

इन बातो पर जब विचार उठने लगते हैं तो ऐसा मालूम

होता है कि इन अध्यायों को लिखने का विचार स्थगित कर दिया जाय तो क्या ठीक न होगा ? परन्तु जबतक यह साफ़ तौर पर न मालूम हो कि स्वीकृत अथवा आरम्भित कार्य अनीतिमय है तबतक उसे न छोड़ना चाहिए—इस न्याय के आधार पर जब-तक अन्तरात्मा मुझे न रोके तबतक इन अध्यायों को लिखते जाने का निश्चय कायम रखता हूँ।

यह कथा टीकाकारों को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं लिखी जाती है। सत्य के प्रयोगों में इसे भी एक प्रयोग ही समझ लेना चाहिए। फिर इसमें यह दृष्टि तो हई है कि मेरे साथियों को इसके द्वारा कुछ न कुछ आश्वासन मिलेगा। इसका आरम्भ ही उनके सन्तोष के लिए किया गया है। स्वामी आनन्द और जयरामदास मेरे पीछे न पड़ते तो इसकी शुरुआत भी शायद ही हो पाती ! इस कारण यदि इस कथा के लिखने में कुछ बुराई होती हो तो इसके दोषभागी वे भी हैं।

अब इस अध्याय के मूल विषय पर आता हूँ। जिस तरह मैंने हिन्दुस्तानी कारकुनों तथा दूसरे लोगों को अपने घर में बगैर कुटुम्बी के रक्खा था, उसी तरह अंग्रेजों को भी रखने लगा। मेरा यह व्यवहार मेरे साथ रहने वाले दूसरे लोगों के लिए अनुकूल न था। परन्तु मैंने उसकी परवा न करके उन्हें रक्खा। यह नहीं कहा जा सकता कि सबको इस

तरह रखकर मैंने हमेशा बुद्धिमानी का ही काम किया है। कितने ही लोगों से ऐसा सम्बन्ध बाँधने का कटु अनुभव भी हुआ है। परन्तु ऐसे अनुभव तो क्या देशी या क्या विदेशी सबके सम्बन्ध में हुए हैं। उन कटु अनुभवों पर मुझे पश्चात्ताप नहीं हुआ है। कटु अनुभवों के होते रहते भी और यह जानते हुए भी कि दूसरे मित्रों को असुविधा होती है, उन्हें कष्ट सहना पड़ता है, मैंने अपने इस रवैये को नहीं बदला, और मित्रों ने मेरी इस ज्यादती को उदारतापूर्वक सहन किया है। नये-नये लोगों से बांधे गये ऐसे सम्बन्ध जब-जब मित्रों के लिए कष्टदायी साबित हुए हैं तब-तब उन्हीं को मैंने बेखटके कोसा है। क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि आस्तिक मनुष्य तो अपने अन्तरस्थ ईश्वर को सब में देखना चाहता है और इसलिए उसके अन्दर सबके साथ अलिप्तता से रहने की क्षमता अवश्य आनी चाहिए और उस शक्ति को प्राप्त करने का उपाय ही यह है कि जब जब ऐसे अनचाहे अवसर आवें तब-तब उनसे दूर न भागते हुए नये-नये सम्बन्धों में पड़ें और फिर भी अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाये रक्खें।

इस कारण जब बोअर-ब्रिटिश-युद्ध शुरू हुआ तब यद्यपि मेरा सारा घर भरा हुआ था तथापि मैंने जोहान्सबर्ग से आये दो अंग्रेजों को अपने यहाँ रक्खा। दोनों थियसॉफिस्ट थे। उनमें

मे एक का नाम था किचन, जिनके बारे में हमें और आगे जानना होगा। इन मित्रों के सहवास ने भी धर्मपत्नी को रुला कर छोड़ा था। मेरे निमित्त रोने के अवसर उसकी तकदीर में बहुतेरे आये हैं। बिना किसी परदे या परहेज के इतने निकट-संबन्ध में अंग्रेजों को घर में रखने का यह मुझे पहला अवसर था। हाँ, इंग्लैंड में अलबत्ते मैं उनके घरों में रहा था। पर वहाँ तो मैंने अपने को उनकी रहन-सहन के अनुकूल बना लिया था और वहाँ का रहना लगभग वैसा ही था जैसा कि होटल में रहना। पर यहाँ की हालत वहाँ से उलटी थी। ये मित्र मेरे कुटुम्बी बन कर रहे थे। बहुतांश में उन्होंने भारतीय रहन-सहन को अपना लिया था। मेरे घर का बाहरी साज-सामान यद्यपि अंग्रेजी ढंग का था फिर भी भीतरी रहन-सहन और खान-पान आदि प्रधानतः हिन्दुस्तानी था। यद्यपि मुझे याद पड़ता है कि उनके रखने में हमें बहुतेरी कठिनाइयाँ पैदा हुई थीं, फिर भी मैं यह कह सकता हूँ कि वे दोनों सज्जन हमारे घर के दूसरे लोगों के साथ मिल-जुल गये थे। डरबन की अपेक्षा जोहान्सबर्ग के ये सम्बन्ध बहुत आगे बढ़ गये थे।

अंग्रेजों का परिचय

जोहान्सबर्ग में मेरे पास एक बार चार हिन्दुस्तानी मुन्शी हो गये थे। उन्हें मुन्शी कहूँ या बेटा कहूँ, यह कहना कठिन है। परन्तु इतने से मेरा काम न चला। टाइपिंग के विना तो काम चल ही नहीं सकता था। इनमें से सिर्फ मुझ ही को टाइपिंग का थोड़ा ज्ञान था। सो इन चार युवकों में से दो को टाइपिंग सिखाया; परन्तु वे अंग्रेजी कम जानते थे इससे उनका टाइपिंग कभी शुद्ध और अच्छा न हो सका। फिर इन्हींमें से मुझे हिसाब-लेखक तैयार करना था। इधर नेटाल से मैं अपने मन-माफिक किसीको बुला नहीं सकता था; क्योंकि

परवाने के बग़ैर कोई हिन्दुस्तानी वहाँ आ नहीं सकता था। और अपनी सुविधा के लिए मैं राजकर्मचारियों से कृपा-भिक्षा माँगने को तैयार न था।

इससे मैं सोच में पड़ गया। काम इतना बढ़ गया कि पूरी-पूरी मेहनत करने पर भी मैं इधर वकालत का और उधर सार्वजनिक काम का भार सम्हल नहीं पाता था।

अंग्रेज कारकुन—फिर वह स्त्री हो या पुरुष—मिल जाने से भी मेरा काम चल सकता था। पर शंका यह थी कि 'काले' आदमी के पास भला कोई गोरा कैसे नौकरी करेगा? परन्तु मैंने तय किया कि कम से कम कोशिश तो कर देखनी चाहिए। टाइप-राइटिंग-एजंट से मेरा कुछ परिचय था। मैं उससे मिला और कहा कि यदि कोई टाइपिस्ट भाई या बहन ऐसा हो जिसे 'काले' आदमी के यहाँ काम करने में कोई उज्र न हो तो मेरे लिए तलाश कर दें। दक्षिण आफ्रिका में लघु लेखन अथवा टाइपिंग का काम करने वाली अधिकांश में स्त्रियां ही होती हैं। पूर्वोक्त एजेंट ने मुझे अश्वासन दिलाया कि मैं एक शार्टहैंड टाइपिस्ट आप को खोज दूँगा। मिस डिक नामक एक स्काच कुमारी उसके हाथ लगी। वह हाल ही स्काटलैंड से आई थी। जहाँ भी कहीं प्रामाणिक नौकरी मिल जाय वहाँ करने में इसे कोई आपत्ति न थी। उसे काम में लगने की जल्दी भी थी। उस

एजेंट ने उस कुमारिका को मेरे पास भेजा। उसे देखते ही मेरी नजर उसपर ठहर गई। मैंने उससे पूछा—

'तुमको एक हिन्दुस्तानी के यहाँ काम करने में आपत्ति तो नहीं है?'

उसने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—'बिलकुल नहीं।'

'क्या वेतन लोगी?'

'साढ़े सत्रह पौंड अधिक तो न होंगे?'

'तुमसे मैं जिस काम की आशा रखता हूँ वह ठीक ठीक कर दोगी तो इतनी रकम बिलकुल ज्यादा नहीं है। तुम कब काम पर आ सकोगी?'

'आप चाहें तो अभी।'

इस बहन को पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ और उसी समय उसे अपने सामने बैठा कर चिट्ठियाँ लिखवाने लगा। इस कुमारी ने अकेले मेरे कारकुन का ही नहीं, बल्कि सगी लड़की या बहन का भी स्थान सहज ही प्राप्त कर लिया। मुझे उसे कभी किसी बात पर डाँटना डँपटना नहीं पड़ा। शायद ही कभी उसके काम में ग़लती निकालनी पड़ी हो। हजारों पौंड के देन-लेन का काम एक बार उसके हाथ में था और उसका हिसाब-किताब भी वही रखती थी। वह हर तरह से मेरे विश्वास की पात्र हो गई थी। यह तो ठीक, पर मैं उसकी गुह्यतम भावनाओं को जानने योग्य

उसका विश्वास प्राप्त कर सका था और यह मेरे नज़दीक एक बड़ी बात थी। अपना जीवन-साथी पसंद करने में उसने मेरी सलाह ली थी। कन्यादान करने का सौभाग्य भी मुझीको प्राप्त हुआ था। मिस डिक जब मिसेज मैकडोनल्ड होगईं तब उन्हें मुझसे अलग होना आवश्यक था। फिर भी, विवाह के बाद भी, जब-जब जरूरत होती मुझे उनसे सहायता मिलती थी।

परन्तु दफ्तर में एक शार्टहैण्ड राइटर की जरूरत तो थी ही। वह भी पूरी हो गई। उस बहन का नाम था मिस श्लेशिन। मि० कैलनबेक उसे मेरे पास लाये थे। मि० कैलनबेक का परिचय पाठकों को आगे मिलेगा। यह बहन आज ट्रांसवाल में किसी हाईस्कूल में शिक्षिका का काम करती हैं। जब मेरे पास वह आई थी तब उसकी उम्र १७ वर्ष की होगी। उसकी कितनी ही विचित्रताओं के आगे मैं और मि० कैलनबेक हार खा जाते। वह नौकरी करने नहीं आई थी। उसे तो अनुभव प्राप्त करना था। उसके रगोरेशे में कहीं रंग-द्वेष का नाम न था। न उसे किसी की परवा ही थी। वह किसी का अपमान करने से भी नहीं हिचकती थी। अपने मन में जिसके सम्बन्ध में जो विचार आते हों उन्हें कह डालने में जरा संकोच न रखती थी। इस स्वभाव के कारण वह कई बार मुझे कठिनाइयों में डाल देती थी; परन्तु उसका हृदय शुद्ध था, इससे वे कठिनाइयाँ दूर भी हो

जाती थीं। उसका अँग्रेज़ी ज्ञान मैंने अपने से हमेशा अच्छा माना था, फिर उसकी वफ़ादारी पर भी मेरा पूर्ण विश्वास था। इससे उसके टाइप किये हुए कितने ही पत्रों पर मैं बिना दोहराये दस्तख़त कर दिया करता था।

उसके त्याग-भाव की सीमा न थी। बहुत समय तक तो उसने मुझसे सिर्फ़ ६ पौण्ड महीना लिया और अन्त में जाकर १०पौंड से अधिक लेने से इनकार कर दिया। यदि मैं कहता कि ज़्यादा ले लो तो मुझे डाट देती और कहती—'मैं यहाँ वेतन लेने नहीं आई हूँ। मुझे तो आपके साथ काम करना अच्छा लगता है और मुझे आपके आदर्श प्रिय हैं। इस कारण मैं आपके साथ रह रही हूँ।'

एक बार आवश्यकता पड़ने पर मुझसे उसने ४० पौण्ड उधार लिये थे—और पिछले साल सारी रकम उसने मुझे लौटा दी।

त्याग-भाव उसका जैसा तीव्र था। वैसी ही उसकी हिम्मत भी ज़बरदस्त थी! मुझे स्फटिक की तरह पवित्र और वीरता में क्षत्रिय को भी लज्जित करनेवाली जिन महिलाओं से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनमें मैं इस बालिका की गिनती करता हूँ। आज तो वह प्रौढ़ कुमारिका है। उसकी वर्त्तमान मानसिक स्थिति से मैं परिचित नहीं हूँ; परन्तु इस बालिका का अनुभव

मेरे लिए सदा एक पुण्य स्मरण रहेगा और यदि मैं इसके संबन्ध में अपना अनुभव न प्रकाशित करूँ तो मैं सत्य का द्रोही बनूँगा।

काम करने में वह न दिन देखती थी न रात। रात में जब भी कभी हो अकेली चली जाती और यदि मैं किसी को साथ भेजना चाहता तो लाल पीली आँखें दिखाती। हजारों दाढ़ी वाले भारतीय उसे आदर की दृष्टि से देखते थे। और उसकी बात मानते थे। जब हम सब जेल में थे, जब कि जिम्मेवार आदमी शायद ही कोई बाहर रहा था, तब उस अकेली ने सारी लड़ाई का काम सम्हाल लिया था। लाखों का हिसाब उसके हाथ में, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथ में और 'इण्डियन ओपिनियन' भी उसी के हाथ में—ऐसी स्थिति आ पहुँची थी। पर वह थकना नहीं जानती थी।

मिस श्लेशिन के बारे में लिखते हुए मैं नहीं थक सकता। पर यहाँ तो सिर्फ गोखलेजी का प्रमाणपत्र देकर इस अध्याय को समाप्त करता हूँ। गोखलेजी ने मेरे तमाम साथियों से परिचय कर लिया था और उससे उन्हें बहुतों से बहुत सन्तोष हुआ था। उन्हें सबके चरित्र के बारे में अन्दाज लगाने का शौक था। मेरे तमाम भारतीय और यूरोपीय साथियों में उन्होंने मिस श्लेशिन को पहला नम्बर दिया था। 'इतनी त्याग, इतनी पवित्रता, इतनी

निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने बहुत कम लोगों में देखी है। मेरी नज़र में तो मिस श्लेशिन का नम्बर तुम्हारे सब साथियों में पहला है।'

'इंडियन ओपिनियन'

अभी और यूरोपियन गाढ़ परिचयों का वर्णन करना बाकी है; किन्तु उसके पहले दो-तीन ज़रूरी बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

एक परिचय तो यहीं दे देता हूँ। अकेली मिस डिक के ही आ जाने से मेरा काम पूरा नहीं हो सकता था। मि० रिच का ज़िक मैं पहले कर चुका हूँ। उनके साथ तो मेरा ख़ासा परिचय था ही। वह एक व्यापारी गद्दी के व्यवस्थापक थे। मैंने उन्हें सुझाया कि वह उस काम को छोड़ कर मेरे साथ काम करें। उन्हें यह पसंद हुआ और वह मेरे दफ्तर में काम करने लगे। इससे मेरे काम का बोझ हलका हुआ।

इसी अरसे में श्री मदनजीत ने 'इंडियन ओपिनियन' नामक अखबार निकालने का इरादा किया। उन्होंने उसमें मेरी सलाह और मदद माँगी। छापाखाना तो उनका पहले ही से चल रहा था। इसलिए अखबार निकालने के प्रस्ताव से मैं सहमत हो गया। सन १९०४ में 'इंडियन ओपिनियन' का जन्म हो गया। मनसुखलाल नाजर उसके संपादक हुए। पर सच पूछिए तो सम्पादन का असली बोझ मुझपर ही आ पड़ा। मेरे नसीब में तो हमेशा प्रायः दूर रहकर ही पत्र-संचालन का काम रहा है।

पर यह बात नहीं कि मनसुखलाल नाजर संपादन का काम नहीं कर सकते थे। वह देश के कितने ही अखबारों में लिखा करते थे। परन्तु दक्षिण आफ्रिका के अटपटे प्रश्नों पर मेरे मौजूद रहते हुए स्वतंत्र रूप से लेख लिखने की हिम्मत उन्हें न हुई। मेरी विवेक शीलता पर उनका अतिशय विश्वास था। इसलिए जिन-जिन विषयों पर लिखना आवश्यक होता उनपर लेखादि लिखने का बोझ वह मुझीपर रख देते।

'इंडियन ओपिनियन' साप्ताहिक था और आज भी है। पहलेपहल वह गुजराती, हिन्दी, तामिल और अंग्रेजी इन चार भाषाओं में निकलता था, परन्तु मैंने देखा कि तामिल और हिन्दी-विभाग नाम-मात्र के लिए थे। मैंने यह भी अनुभव किया कि उनके द्वारा भारतीयों की सेवा नहीं हो रही थी। इन विभागों

को कायम रखने में मुझे झूठ का आश्रय लेने का आभास हुआ—इस कारण उन्हें बन्द करके शान्ति प्राप्त की।

मुझे यह ख़याल न था कि इस अख़बार में मुझे रुपया भी लगाना पड़ेगा। परन्तु थोड़े ही अरसे के बाद मैंने देखा कि यदि मैं उसमें रुपया नहीं लगाता हूँ तो वह बिलकुल चल ही नहीं सकता था। यद्यपि उसका संपादक मैं न था फिर भी भारतीय और गोरे सब लोग इस बात को जान गये थे कि उसके लेखों की जिम्मेवारी मुझीपर है। फिर अगर अख़बार नहीं निकला होता तो भी एक बात थी, पर निकल चुकने के बाद उसके बन्द होने से सारे भारतीय समाज की बदनामी होती थी और उसे हानि पहुँचने का भी पूरा भय था।

इसलिए मैं उसमें रुपये लगाता गया और अन्त को यहाँ तक नौबत आगई कि मेरे पास जो कुछ बच जाता था सब उसके अर्पण होता था। ऐसा भी समय मुझे याद है जब उसमें प्रति मास ७५ पौंड मुझे भेजना पड़ता था।

परन्तु इतना अरसा हो जाने के बाद मुझे प्रतीत होता है इस अख़बार के द्वारा भारतीय समाज की अच्छी सेवा हुई है। उसके द्वारा धन उपार्जन करने का तो इरादा ठेठ से ही किसी का न था।

जबतक उसका सूत्र मेरे हाथ में था, तबतक उसमें जो कुछ

परिवर्तन हुए वे मेरे जीवन के परिवर्तनों के सूचक थे। जिस प्रकार आज 'यंगइण्डिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवन के कितने ही अंश का निचोड़ हैं उसी प्रकार 'इण्डियन ओपिनियन' भी था। उसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्मा को उँडेलता और उस चीज़ को समझने का प्रयत्न करता जिसे मैं सत्याग्रह के नाम से पहचानता था। जेल के दिनों को छोड़ कर दस वर्ष तक अर्थात् १९१४ तक के 'इण्डियन ओपिनियन' का शायद ही कोई अंक ऐसा गया हो जिसमें मैंने कुछ न लिखा हो। मुझे नहीं याद पड़ता कि उसमें मैंने एक भी शब्द बिना विचारे, बिना तौले लिखा हो अथवा सहज किसी को खुश करने के लिए लिखा हो या जान बूझ कर अत्युक्ति की हो। यह अखबार मेरे लिए संयम की तालीम का काम देता था, मित्रों के लिए मेरे विचार जानने का साधन हो गया था और टीकाकारों को उसमें से टीका करने की सामग्री बहुत थोड़ी मिल सकती थी। मैं जानता हूँ कि उसके लेखों की बदौलत टीकाकारों को अपनी कलम पर अंकुश रखना पड़ता था। यदि यह अखबार न होता तो सत्याग्रह-संग्राम न चल सकता। पाठक इसे अपना पत्र समझते थे और इसमें उन्हें सत्याग्रह-संग्राम का तथा दक्षिण आफ्रिका-स्थित हिन्दुस्तानियों की दशा का सच्चा चित्र दिखाई पड़ता था।

इस पत्र के द्वारा मुझे रंग-बिरंगे मनुष्य-स्वभाव को परखने

का बहुत अवसर मिला। इसके द्वारा मैं संपादक और ग्राहक के बीच निकट और स्वच्छ संबन्ध बाँधना चाहता था। इसलिए मेरे पास ढेर की ढेर चिट्ठियाँ ऐसी आतीं जिनमें लेखक अपने अन्तरतर को मेरे सामने खोलते थे। इस सिलसिले में तीखे, कड़वे, मीठे तरह-तरह के पत्र और लेख मेरे पास आते। उन्हें पढ़ना, उनपर विचार करना, उनके विचारों का सार निकालकर उन्हें जवाब देना, यह मेरे लिए बड़ा शिक्षादायक काम हो गया था। इसके द्वारा मुझे ऐसा अनुभव होता था मानों मैं वहाँ की बातों और विचारों को अपने कानों से सुनता हूँ। इससे मैं सम्पादक की जिम्मेदारी को खूब समझने लगा और अपने समाज के लोगों पर जो नियंत्रण मेरा हो सका उसके बदौलत भावी संग्राम शक्य, सुशोभित और प्रबल हुआ।

'इण्डियन ओपिनियन' के प्रथम मास के कार्य-काल में ही मुझे यह अनुभव हो गया था कि समाचार-पत्रों का संचालन सेवा-भाव से ही होना चाहिए। समाचारपत्र एक भारी शक्ति है। परन्तु जिस प्रकार निरंकुश जल-प्रवाह कई गाँवों को डुबो देता है और फसल को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उसी प्रकार निरंकुश कलम की धारा भी सत्यानाश कर देती है। यह अंकुश यदि बाहरी हो तो वह इस निरंकुशता से भी अधिक जहरीला साबित होता है। अतः लाभदायक तो अन्दर का ही अंकुश हो सकता है।

यदि इस विचार-सरणि में कोई दोष न हो तो, भला बताइए, संसार के कितने अखबार कायम रह सकते हैं ? परन्तु सवाल यह है कि ऐसे फजूल अखबारों को बन्द भी कौन कर सकता है ? और कौन किसको फजूल बता सकता है ? सच बात तो यह है कि काम की और फजूल दोनों बातें संसार में एकसाथ चलती रहेंगी। मनुष्य के बस में तो सिर्फ इतना ही है कि वह काम की और अच्छी चीजों को ही पसंद करता रहे और अपनाता रहे।

'कुली लोकेशन' या भंगी-टोला ?

हिन्दुस्तान में हम उन लोगों को जो सबसे बड़ी समाज-सेवा करते हैं भंगी, मेहतर, ढेढ़ आदि कहते हैं और उन्हें अछूत मान कर उनके मकान गाँव के बाहर बनवाते हैं। उनके निवास-स्थान को भंगी टोला कहते हैं और उसका नाम लेते ही हमें घिन आने लगती है। इसी तरह ईसाइयों के यूरोप में एक जमाना था, जब यहूदी लोग अछूत माने जाते थे और उनके लिए जो अलग मुहल्ला बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे। यह नाम अमंगल समझा जाता था। इसी प्रकार से दक्षिण आफ्रिका में हम हिन्दुस्तानी लोग वहाँ के भंगी-

अस्पृश्य-बन गये हैं। अब यह देखना है कि एण्डरूज साहब ने हमारे लिए वहाँ जो त्याग किया है और शास्त्रीजी ने जो जादू की लकड़ी घुमाई है उसके फल-स्वरूप हम वहाँ अछूत न रहकर सभ्य माने जायँगे या नहीं ?

हिन्दुओं की तरह यहूदी भी अपने को ईश्वर के लाड़ले मानते थे और दूसरों को उसकी दृष्टि और सृष्टि में हेय समझते थे। अपने इस अपराध की सजा उन्हें विचित्र और अकल्पित रीति से मिली। लगभग इसी तरह हिन्दुओं ने भी अपने को संस्कृत अथवा आर्य समझ कर खुद अपने ही एक अंग को प्राकृत, अनार्य या अछूत मान रक्खा है। इस पाप का फल वे विचित्र रीति से—चाहे वह अनुचित रीति से क्यों न हो—दक्षिण आफ्रिका इत्यादि उपनिवेशों में पा रहे हैं और मैं मानता हूँ कि उसमे उनके पड़ोसी मुसलमान और पारसी भी, जोकि उन्हींके रंग और देश के हैं, उनके साथ दुःख भोग रहे हैं।

अब पाठक कुछ समझ सकेंगे कि क्यों यह एक अध्याय जोहान्सबर्ग के 'कुली लोकेशन' पर लिखा जा रहा है। दक्षिण आफ्रिका में हम हिन्दुस्तानी लोग 'कुली' के नाम से 'प्रसिद्ध' हैं। भारत में तो 'कुली' शब्द का अर्थ है सिर्फ मजदूर। परन्तु दक्षिण आफ्रिका में वह तिरस्कार-वाचक है और यह तिरस्कार भंगी, चमार, पंचम इत्यादि शब्दों के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता

है। दक्षिण आफ्रिका में जो स्थान 'कुलियों' के रहने के लिए अलग रक्खा जाता है उसे 'कुली लोकेशन' कहते हैं। ऐसा एक लोकेशन जोहान्सबर्ग में था। दूसरी जगह तो जो 'लोकेशन' रक्खे गये थे और अब भी हैं वहाँ हिन्दुस्तानियों को हक़ मिल्कियत नहीं है। परन्तु इस जोहान्सबर्ग के लोकेशन में जमीन का ९९ साल का पट्टा कर दिया गया था। इसमें हिन्दुस्तानियों की बड़ी खचाखच बस्ती थी। आबादी तो बढ़ती जाती थी; किन्तु लोकेशन जितने का उतना ही बना था। उसके पाखाने तो ज्यों-त्यों करके साफ किये जाते थे, परन्तु इसके अलावा म्युनिसिपैलिटी की तरफ से और कोई देख-भाल नहीं होती थी। ऐसी दशा में सड़क और रोशनी का तो पता ही कैसे चल सकता था? इस तरह जहाँ लोगों के पाखाने-पेशाब की सफाई के विषय में ही परवाह नहीं की जाती थी वहाँ दूसरी सफाई का तो पूछना ही क्या? फिर जो हिन्दुस्तानी वहाँ रहते थे वे नगर-सुधार, स्वच्छता, आरोग्य इत्यादि के नियमों के जानकार सुशिक्षित और आदर्श भारतीय नहीं थे कि जिन्हें म्युनिसिपैलिटी की सहायता की अथवा उनकी रहन-सहन पर देखभाल करने की जरूरत न थी। हाँ, यदि वहाँ ऐसे भारतवासी जा बसे होते जो जंगल में मंगल कर कर सकते हैं, जो मिट्टी में-से मेवा पैदा कर सकते हैं, तब तो उनका इतिहास जुदा ही होता। ऐसे बहु-संख्यक लोग दुनिया में कहीं

भी देश छोड़कर विदेशों में मारे-मारे फिरते देखे नहीं जाते। आम तौर पर लोग धन और धन्धे के लिऐ विदेशों में भटकते हैं। परन्तु हिन्दुस्तान से तो वहाँ अधिकांश में अपढ़ गरीब दीन-दुखी मजूर लोग ही गये थे। इन्हें तो कदम-कदम पर रहनुमाई और रक्षण की आवश्यकता थी। हाँ, उनके पीछे वहाँ व्यापारी तथा दूसरी श्रेणियों के स्वतंत्र भारतवासी भी गये; परन्तु वे तो उनके मुकाबले में मुट्ठ भर थे।

इस तरह स्वच्छता-रक्षक विभाग की अक्षम्य गफलत से और भारतीय निवासियों के अज्ञान से लोकेशन की स्थिति आरोग्य की दृष्टि से अवश्य बहुत खराब थी। उसे सुधारने की जरा भी उचित कोशिश सुधार-विभाग ने न की। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी ही इस गलती से उत्पन्न खराबी का बहाना बनाकर उसने इस लोकेशन को मिटा देने का निश्चय किया और उस जमीन पर कब्जा कर लेने की सत्ता वहाँ की धारा-सभा से प्राप्त कर ली। जब मैं जोहान्सबर्ग में रहने गया तब यह स्थिति वहाँ की हो रही थी।

वहाँ के निवासी अपनी-अपनी जमीन के मालिक थे इसलिए उन्हें कुछ हरजाना देना जरूरी था। हरजाने की रकम तय करने के लिए एक खास पंचायत बैठाई गई थी। म्युनिसिपैलटी जितना हरजाना देना चाहती उतनी रकम यदि मकान-मालिक लेना

मंजूर न करे तो उसका फैसला यह पंचायत करती और मालिक को वह मंजूर करना पड़ता। यदि पंचायत म्युनिसिपैलिटी से ज्यादा रकम देना तय करे तो मकान-मालिक के वकील का खर्च म्युनिसिपैलिटी को चुकाना पड़ता था।

ऐसे बहुतेरे दावों में मकान मालिकों ने मुझे अपना वकील बनाया था। पर मैं इनके द्वारा रुपया पैदा करना नहीं चाहता था। मैंने उनसे पहले ही कह दिया था—"यदि तुम्हारी जीत होगी तो म्युनिसिपैलिटी की ओर से खर्च की जो कुछ रकम मिलेगी उसीपर मैं सन्तोष कर लूँगा। तुम तो मुझे फी पट्टा दस पौंड दे देना, बस। फिर तुम्हारी जीत हो या हार।' इसमें से भी लगभग आधी रकम गरीबों के लिए अस्पताल बनवाने या ऐसे ही किसी सार्वजनिक काम में लगाने का अपना इरादा मैंने उनपर प्रकट कर दिया था। स्वभावत ही इससे सब लोग बहुत खुश हुए।

लगभग ७० दावों में सिर्फ एक में मेरे मवक्किल की हार हुई। इससे फीस में मुझे भारी रकम मिल गई। परन्तु इसी समय 'इण्डियन ओपिनियन' की माँग मेरे सिर पर सवार ही थी। इसलिए, मुझे याद पड़ता है कि लगभग १६०० पौण्ड का चेक उसीमें काम आ गया था।

इन दावों की पैरवी में मैंने अपने खयाल के अनुसार काफी

परिश्रम किया था। मवक्किलों की तो मेरे आस-पास भीड़ ही लगी रहती थी। इनमें से लगभग सब या तो बिहार इत्यादि उत्तर तरफ के या तामिल, तेलगू इत्यादि दक्षिण प्रदेश के लोग थे। वे पहली गिरमिट मे आये थे और अब मुक्त होकर स्वतन्त्र पेशा कर रहे थे।

इन लोगों ने अपने दुःखों को मिटाने के लिए, भारतीय व्यापारी-वर्ग से पृथक् अपना एक मण्डल बनाया था। उसमें कितने ही बड़े सच्चे दिल के, उदारभाव रखने वाले और सच्चरित्र भारतवासी थे। उनके अध्यक्ष का नाम था श्री जेरामसिंह, और अध्यक्ष न रहते हुए भी अध्यक्ष के जैसे ही दूसरे सज्जन थे श्री बदरी। अब दोनों स्वर्गवासी हो चुके हैं। दोनो की तरफ से मुझे अतिशय सहायता मिली थी। श्री बदरी के परिचय में मैं बहुत ज्यादा आया था और उन्होंने सत्याग्रह में आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। इन तथा ऐसे भाइयों के द्वारा मैं उत्तर-दक्षिण के बहु-संख्यक भारतवासियों के गाढ़-सम्पर्क में आया और केवल उनका वकील नहीं, बल्कि भाई बनकर रहा और उनके तीनों प्रकार के दुःखों में उनका साझी हुआ। सेठ अबदुल्ला ने मुझे 'गांधी' नाम से सम्बोधन करने से इन्कार कर दिया। और 'साहब' तो मुझे कहता और मानता ही कौन ? इसलिए उन्होंने एक बड़ा ही प्रिय शब्द ढूँढ निकाला। मुझे वे लोग 'भाई' कह

कर पुकारने लगे। यह नाम अन्त तक दक्षिण आफ्रिका में चला। पर जब ये गिरमिट-मुक्त भारतीय मुझे 'भाई' कहकर बुलाते तब मुझे उसमें एक खास मिठास मालूम होती थी।

महामारी—१

इस लोकेशन का कब्जा म्युनिसिपैलिटी ने ले तो लिया; परन्तु तुरन्त ही हिन्दुस्तानियों को वहाँ से हटाया नहीं था। हाँ, यह तय जरूर हो गया था कि उन्हे दूसरी अनुकूल जगह दे दी जायगी। वह जगह अबतक म्युनिसिपैलिटी निश्चित न कर पाई थी। इस कारण भारतीय लोग उस 'गन्दे' लोकेशन में ही रहते थे। इससे दो बातों में फर्क हुआ। एक तो यह कि भारतवासी मालिक न रहकर सुधार-विभाग के किरायेदार बने, और दूसरे गन्दगी पहले से अधिक बढ़ गई। इससे पहले तो भारतीय लोग मालिक समझे जाते थे, इससे वे

अपनी राजी से नहीं तो डर से ही पर कुछ न कुछ तो सफाई रखते थे; किन्तु अब 'सुधार' का किसे डर था ? मकानों में किरायेदारों की भी तादाद बढ़ी और उसके साथ ही गन्दगी और अव्यवस्था की भी बढ़ती हुई।

यह हालत हो रही थी, भारतवासी अपने मन में झल्ला रहे थे, कि एकाएक 'काला प्लेग' फैल निकला। यह महामारी मारक थी। यह फेफड़े का प्लेग था। यह गाँठवाले प्लेग की अपेक्षा भयंकर समझा जाता था।

किन्तु खुशकिस्मती से इस प्लेग का कारण यह लोकेशन न था, बल्कि एक सोने की खान थी। जोहान्सबर्ग के आसपास सोने की अनेक खानें हैं। उनमें अधिकाँश हब्शी लोग काम करते हैं। उनकी सफाई की जिम्मेवारी थी सिर्फ गोरे मालिकों के सिर। इन खानों पर कितने ही हिन्दुस्तानी भी काम करते थे। उनमें से २३ एकाएक प्लेग के शिकार हुए और अपनी भयंकर अवस्था लेकर वे लोकेशन में अपने घर आये।

इन दिनों भाई मदनजीत 'इण्डियन ओपिनियन' के ग्राहक बनाने और चन्दा वसूल करने यहाँ आये हुए थे। वह लोकेशन में चक्कर लगा रहे थे। वह काफी हिम्मतवर थे। इन बीमारों को देखते ही उनका दिल टूक-टूक होने लगा। उन्होंने मुझे पेन्सिल से लिखकर एक चिट भेजी, जिसका भावार्थ यह था—

'यहाँ एकाएक काला प्लेग फैल गया है। आपको तुरन्त यहाँ आकर कुछ-सहायता करनी चाहिए, नहीं तो बड़ी खराबी होगी। तुरन्त आइए।'

मदनजीत ने बेधड़क होकर एक खाली मकान का ताला तोड़ डाला और उसमें इन बीमारों को लाकर रक्खा। मैं साइकिल पर चढ़कर 'लोकेशन' में पहुँचा। वहाँ से टाउन-क्लर्क को खबर भेजी और कहलाया कि किस हालत में मकान का ताला तोड़ लेना पड़ा।

डाक्टर विलियम गाडफ्रे जोहान्सबर्ग में डाक्टरी करते थे। उन्हें खबर मिलते ही दौड़ आये और बीमारों के डाक्टर और परिचारक दोनों बन गये। परन्तु बीमार थे २३ और हम थे तीन। इतने से काम चलना कठिन था।

अनुभवों के आधार पर मेरा यह विश्वास बन गया है कि यदि नीयत साफ़ हो तो संकट के समय सेवक और साधन कहीं न कहीं से आ जुटते हैं। मेरे दफ़्तर में कल्याणदास, माणिकलाल और दूसरे दो हिन्दुस्तानी थे। आखिरी दो के नाम इस समय मुझे याद नहीं हैं। कल्याणदास को उसके बाप ने मुझे सौंप रक्खा था। उनके जैसे परोपकारी और केवल आज्ञा-पालन से काम रखने वाले सेवक मैंने वहाँ बहुत थोड़े देखे होंगे। सौभाग्य से कल्याणदास उस समय ब्रह्मचारी थे। इसलिए उन्हें मैं

कैसे भी खतरे का काम सौंपते हुए कभी न हिचकता। दूसरे व्यक्ति माणिकलाल मुझे जोहान्सबर्ग में ही मिले थे। मेरा ख़याल है कि वह भी कुँआरे ही थे। इन चारों को चाहे कारकुन कहिए, चाहे साथी या पुत्र कहिए, मैंने इसमें होम देने का निश्चय कर लिया। कल्याणदास से तो पूछने की जरूरत ही नहीं थी, और दूसरे लोग पूछते ही तैयार हो गये। 'जहाँ आप तहाँ हम,' यह उनका संक्षिप्त और मीठा जवाब था।

मि० रीच का परिवार बड़ा था। वह खुद तो कूद पड़ने के लिए तैयार थे, किन्तु खुद मैंने उन्हें इससे रोका। उन्हें इस खतरे में डालने के लिए मैं बिलकुल तैयार न था, मेरी हिम्मत ही नहीं होती थी। अतएव उन्होंने ऊपर का सब काम सम्हाला।

शुश्रूषा की यह रात भयानक थी। मैं इससे पहले बहुत से रोगियों की सेवा-शुश्रूषा कर चुका था। परन्तु प्लेग के रोगी की सेवा करने का अवसर मुझे कभी न मिला था। डाक्टरों की हिम्मत ने हमें निडर बना दिया था। रोगियों की शुश्रूषा का काम बहुत न था। उन्हें दवा देना दिलासा देना, पानी-वानी दे देना, उनका मैला वगैरा साफ कर देना—इसके सिवा अधिक काम न था।

इन चारों नवयुवकों के प्राण-पण से किये गये परिश्रम और

ऐसे साहस और निडरता को देख कर मेरे हर्ष की सीमा न रही।

डाक्टर गाडफ्रे की हिम्मत समझ में आ सकती है, मदनजीत की भी समझ में आ जाती है—पर इन युवकों की हिम्मत पर आश्चर्य होता है। ज्यों-त्यों करके रात बीती। जहाँ-तक मुझे याद पड़ता है, उस रात तो हमने एक भी बीमार को नहीं खोया।

परन्तु यह प्रसंग जितना ही करुणाजनक है उतना ही मनोरंजक और मेरी दृष्टि में धार्मिक भी है। इस कारण इसके लिए अभी दो और अध्यायों की आवश्यकता होगी।

महामारी—२

इस प्रकार एकाएक मकान का ताला तोड़ कर बीमारों की सेवा शुश्रूषा करने के लिए टाउन क्लर्क ने हमारा उपकार माना और सच्चे दिल से कबूल किया, "ऐसी हालत का एकाएक सामना और प्रबन्ध करने की सहूलियत हमारे पास नहीं है। आपको जिस किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो, आप अवश्य कहिएगा, टाउन-कौंसिल अपने बस-भर जरूर आपकी सहायता करेगी।" परन्तु वहाँ की म्युनिसिपैलिटी उचित प्रबन्ध करने के लिए सावधान हो चुकी थी और उसने बीमारों का प्रबंध करने में अपनी तरफ से विलंब न होने दिया।

दूसरे दिन एक खाली गोदाम हमारे हवाले किया गया और कहा गया कि उसमें सब बीमार रक्खे जायँ। उसे साफ करने की जिम्मेवारी म्युनिसिपैलिटी ने न ली। मकान बड़ा मैला और गंदा था। हम लोगों ने खुद भिड़ कर उसे साफ किया। उदार-चेता भारतीयों की सहायता से चारपाई इत्यादि मिल गई और उस समय काम चलाने के लिए एक खासा अस्पताल बन गया। म्युनिसिपैलिटी ने एक नर्स—परिचारिका—भेजी और उसके साथ बरांडी की बोतल और बीमारों के लिए अन्य आवश्यक चीजें दीं। डाक्टर गाडफ्रे ज्यों के त्यों तैनात रहे।

नर्स को हम शायद ही कहीं रोगियों को छूने देते थे। उसे खुद तो छूने से परहेज न था। वह थी भी भली मानुसा। किन्तु हमारी कोशिश यह रही कि जहाँतक हो वह खतरे में न पड़े। तजवीज यह हुई थी कि बीमारों को समय-समय पर बरांडी पिलाई जाय। हम से भी नर्स कहती कि बीमारी से अपनेको बचाने के लिए आप लोग भी थोड़ी-थोड़ी बरांडी पिया करो। वह खुद तो पीती ही थी। पर मेरा मन गवाही नहीं देता था कि बीमारों को भी बरांडी पिलाई जाय। तीन बीमार ऐसे थे जो बिना बरांडी के रहने को तैयार थे। डा॰ गाडफ्रे की इजाजत से मैंने उनपर मिट्टी के प्रयोग किये। छाती में जहाँ-जहाँ दर्द होता था तहाँ तहाँ मैंने मिट्टी की पट्टी बँधवाई। इनमें से दो बच गये

और शेष सब चल बसे। बीस रोगी तो इस गोदाम में ही मर गये।

म्युनिसिपैलिटी की ओर से दूसरे प्रबन्ध भी जारी थे। जोहान्सबर्ग से सात मील दूर एक लेजरेटो अर्थात् संक्रामक रोगियों का अस्पताल था, वहाँ तम्बू खड़ा किया गया था और उसमें ये तीन रोगी ले जाये गये थे। प्लेग के दूसरे रोगी हों तो उन्हें भी वहीं ले जाने का इन्तजाम करके हम इस कार्य से मुक्त हो गये। थोड़े ही दिन बाद हमें मालूम हुआ कि उस भली नर्स को भी प्लेग हो गया और उसीमें बेचारी का देहान्त हो गया। यह कहना कठिन है कि वे रोगी क्यों बच गये और हम लोग प्लेग के शिकार क्यों न हो सके? पर इससे मिट्टी के उपचार पर मेरा विश्वास और दवा के तौर पर भी ब्रांडी का उपयोग करने में मेरी अश्रद्धा बहुत बढ़ गई। मैं जानता हूँ कि श्रद्धा और अश्रद्धा को निराधार कह सकते हैं। पर उस समय इन दो बातों की जो छाप मेरे दिल पर पड़ी और जो अबतक कायम है उसे मैं मिटा नहीं सकता और इस मौके पर उसका जिक्र कर देना आवश्यक समझता हूँ।

इस महामारी के फैल निकलते ही मैंने एक कड़ा पत्र अखबारों में लिखा था। उसमें यह बताया गया था कि लोकेशन के म्युनिसिपलिटी के कब्जे में आने के बाद जो लापरवाही वहाँ

दिखाई गई उसकी तथा जो प्लेग फैला उसकी जिम्मेवार म्युनिसिपैलिटी है। इस पत्र के बदौलत मि० हेनरी पोलक से मेरी मुलाकात हुई और वह स्वर्गीय जोसेफ डोक से भी मुलाकात होने का एक कारण बन गया था।

पिछले अध्यायों में मैं इस बात का जिक्र कर चुका हूँ कि मैं एक निरामिष भोजनालय में भोजन करने जाता था। वहाँ मेरी मिस्टर आल्बर्ट वेस्ट से भेंट हुई थी। रोज हम साथ ही भोजनालय में जाते और खाने के बाद साथ ही घूमने निकलते। मि० वेस्ट एक छोटे से छा खाने में साझीदार थे। उन्होंने अखबारों में प्लेग संबंधी मेरा वह पत्र पढ़ा और जब भोजन के समय भोजनालय मे मुझे नहीं पाया तो बेचैन हो उठे।

मैंने तथा मेरे साथी सेवकों ने प्लेग के दिनों में अपनी खूराक कम करली थी। बहुत समय से मैंने यह नियम बना रक्खा था कि जबतक किसी संक्रामक रोग का प्रकोप हो तबतक पेट जितना हलका रक्खा जा सके उतना ही अच्छा। इसलिए मैंने शाम का खाना बंद कर दिया था। और दोपहर को भी ऐसे समय जाकर वहाँ भोजन कर आता जबकि इस तरह के खतरों से अपनेको बचाने की इच्छा करने वाले कोई भोजनालय मे न आते हो। भोजनालय के मालिक के साथ तो मेरा घनिष्ट परिचय था ही। उससे मैंने यह बात कह रक्खी थी कि मै इन दिनों

प्लेग के रोगियों की सेवा-शुश्रूषा में लगा हुआ हूँ, इसलिए औरों को अपनी छूत से दूर रखना चाहता हूँ।

इस तरह भोजनालय में मुझे न देखकर मि० वेस्ट दूसरे या तीसरे ही दिन सुबह मेरे यहाँ आ धमके। मैं अभी बाहर निकलने की तैयारी कर ही रहा था कि उन्होंने आकर मेरे कमरे का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही वेस्ट बोले—

'आपको भोजनालय में न देखकर मैं चिंतित हो उठा कि कहीं आप भी प्लेग के सपाटे में न आगये हों! इसलिए इस समय इसी विश्वास से आया हूँ कि आपसे अवश्य भेंट हो जायगी। मेरी किसी मदद की जरूरत हो तो जरूर कहिएगा। मैं रोगियों की सेवा-शुश्रूषा के लिए भी तैयार हूँ। आप जानते ही हैं कि मुझपर सिवा अपना पेट भरने के और किसी तरह की जिम्मेवारी नहीं है।'

मैंने मि० वेस्ट को इसके लिए धन्यवाद दिया। मुझे नहीं याद पड़ता कि मैंने एक मिनट भी विचार किया होगा। मैंने कहा—

'नर्स का काम तो मैं आपसे नहीं लेना चाहता। यदि और लोग बीमार न हों तो हमारा काम एक-दो दिन में ही पूरा हो जायगा। पर एक काम आपके लायक जरूर है।'

'सो क्या है?'

"आप डरबन जाकर 'इंडियन ओपिनियन' प्रेस का काम देख

सकेंगे ? मदनजीत तो अभी यहाँ रुके हुए हैं। वहाँ किसी न किसी के जाने की आवश्यकता तो हुई है। यदि आप वहाँ चले जायँ तो वहाँ के काम से मैं बिलकुल निश्चिन्त हो जाऊँ।"

वेस्ट ने जवाब दिया—'आप जानते हैं कि मेरे खुद एक छापखाना है। बहुत करके तो मैं वहाँ जाने के लिए तैयार हो सकूँगा, पर निश्चित उत्तर आज शाम को दे सकूँ तो हर्ज तो नहीं है ? आज शाम को घूमने चल सकें तो बातें कर लेंगे।'

उनके आश्वासन से मुझे आनन्द हुआ। उसी दिन शाम को कुछ बातचीत हुई। यह तय पाया कि वेस्ट को १० पौंड मासिक वेतन और छापखाने के मुनाफ़े का कुछ अंश दिया जाय। महज़ वेतन के लिए वेस्ट वहाँ नहीं जा रहे थे। इसलिए यह सवाल उनके सामने नहीं था। अपनी उगाही मुझे सौंप कर दूसरे ही दिन रात की मेल से वेस्ट डरबन रवाना हो गये। तबसे लेकर मेरे दक्षिण आफ्रिका छोड़ने तक वह मेरे दुख-सुख के साथी रहे। वेस्ट का जन्म विलायत के लाउथ नामक गाँव में एक किसान कुटुम्ब में हुआ था। पाठशाला में उन्होंने बहुत मामूली शिक्षा प्राप्त की थी। वह अपने ही परिश्रम से अनुभव की पाठशाला में पढ़कर और तालीम पाकर होशियार हुए थे। मेरी दृष्टि में वह एक शुद्ध, संयमी, ईश्वर-भीरु, साहसी और परोपकारी अँग्रेज थे। उनका व उनके कुटुम्ब का परिचय अभी हमें इन अध्यायों में और होगा।

लोकेशन की होली

रोगियों की सेवा-शुश्रूषा से यद्यपि मैं और मेरे साथी फ़ारिग़ हो गये थे, तथापि इस प्लेग-प्रकरण के बदौलत दूसरे नये काम भी हमारे लिए पैदा हो गये थे।

वहाँ की म्युनिसिपैलिटी लोकेशन के संबन्ध में भले ही लापरवाही रखती हो, किन्तु गोरे-निवासियों के आरोग्य के विषय में तो उसे चौबीसों घण्टे सतर्क रहना पड़ता था। उनके आरोग्य की रक्षा के लिए रुपया फूँकने में भी उसने कोताही नहीं की थी। और इस समय तो प्लेग को वहाँ न फैलने देने के लिए उसने पानी की तरह पैसा बहाया। भारतीयों के प्रति इस म्युनिसि-

पैलिटी के व्यवहार की मुझे बहुत शिकायत थी, फिर भी गोरों की रक्षा के लिए वह जितनी चिन्ता कर रही थी उसके प्रति अपना आदर प्रदर्शित किये बिना मैं न रह सका और उसके इस शुभ प्रयत्न में मुझसे जितनी मदद दी जा सकी मैंने दी। मैं मानता हूँ कि यदि वह मदद मैंने न दी होती तो म्युनिसिपैलिटी को दिक्कत पड़ती और शायद उसे बन्दूक के बल का प्रयोग करना पड़ता, और अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए ऐसा करने में वह बिलकुल न हिचकती।

परन्तु ऐसा करने की नौबत न आने पाई। उस समय भारतीयों के व्यवहार से म्युनिसिपैलिटी के अधिकारी सन्तुष्ट हो गये और उसके बाद का काम बहुत सरल हो गया। म्युनिसिपैलिटी की माँग को हिन्दुस्तानियों से पूरा कराने में मैंने अपना सारा प्रभाव खर्च कर डाला था। यह काम भारतीयों के लिए था तो बड़ा दुष्कर, परन्तु मुझे याद नहीं पड़ता कि किसी एक ने भी मेरे वचन को टाला हो।

लोकेशन के चारों ओर पहरा बैठा दिया गया था। बिना इजाजत न कोई अन्दर जा पाता था, न बाहर आ सकता था। मुझे तथा मेरे साथियों को बिना रुकावट वहाँ आने-जाने के लिए पास दे दिये गये थे। म्युनिसिपैलिटी की तजवीज यह थी कि लोकेशन के सब लोगों को जोहान्सबर्ग से तेरह मील दूर खुले मैदान

में तंबुओं में रक्खा जाय और लोकेशन में आग लगा दी जाय। डेरे-तंबुओं का ही क्यों न हो, पर वह एक नया गाँव बसाना पड़ा था और वहाँ खाद्य आदि सामग्री का प्रबन्ध करने में कुछ समय लगना स्वाभाविक था। तबतक के लिए यह पहरे का प्रबन्ध किया गया था।

इससे लोगों में बड़ी चिन्ता फली; परन्तु मैं उनके साथ, उनका सहायक था—इससे उन्हें, बहुत तस्कीन थी। इनमें कितने ही ऐसे ग़रीब लोग भी थे, जो अपना रुपया-पैसा घर में गाड़ कर रखते थे। अब उसे खोदकर उन्हें कहीं रखना था। वे न बैंक को जानते थे, न बैंक उन्हें। मैं उनका बैंक बना। मेरे घर रुपयों का ढेर हो गया। ऐसे समय में मैं भला मेहनताना क्या ले सकता था? किसी तरह मुश्किल से इसका प्रबन्ध कर पाया। हमारे बैंक के मैनेजर के साथ मेरा अच्छा परिचय था। मैंने उन्हें कहलाया कि मुझे बैंक में बहुतेरे रुपये जमा कराने हैं। बैंकें आम तौर पर ताँबे या चाँदी के सिक्के लेने के लिए तैयार नहीं होतीं। फिर यह भी अंदेशा था कि प्लेग-स्थानों से आये सिक्कों को छूने में क्लर्क लोग आनाकानी करें। किन्तु मैनेजर ने मेरे लिए सब तरह की सुविधा कर दी। यह बात तय पाई कि रुपये-पैसे जन्तु-नाशक पानी में धोकर बैंक में जमा कराये जायँ। इस तरह मुझे याद पड़ता है कि लगभग ६०,००० पौंड बैंक में

जमा हुए थे। मेरे जिन मवक्किलों के पास अधिक रकम थी उन्हें खुद मैंने एक निश्चित अवधि के लिए बैंक में जमा कराने की सलाह दी, जिससे उन्हें अधिक ब्याज मिल सके। इससे कितने ही रुपये उन मवक्किलों के नाम से बैंक में जमा हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि कितने ही लोगों को बैंकों में रुपया रखने की आदत पड़ी।

जोहान्सबर्ग के पास 'क्लिपस्प्रुट फार्म' नामक एक स्थान है। लोकेशन-निवासियों को वहाँ एक स्पेशल ट्रेन से ले गये। यहाँ म्युनिसिपलटी ने उन्हें अपने खर्च से घर बैठे पानी पहुँचाया। इस तम्बू के गाँव का नजारा सैनिकों के पड़ाव की तरह था। लोग ऐसी स्थिति में रहने के आदी नहीं थे, इससे उन्हें मानसिक दुःख तो हुआ, नई जगह अटपटी मालूम हुई, किन्तु उन्हें कोई खास कष्ट नहीं उठाना पड़ा। मैं रोज बाइसिकल पर जाकर वहाँ एक चक्कर लगा आता। तीन सप्ताह तक इस तरह खुली हवा में रहने से लोगों की तन्दुरुस्ती पर जरूर अच्छा असर हुआ। और मानसिक दुःख तो प्रथम चौबीस घण्टे पूरे होने के पहले ही चला गया था। फिर तो वे आनन्द से रहने लगे। मैं जहाँ जाता वहाँ कहीं भजन-कीर्तन और कहीं खेल-कूद आदि होते हुए देखता।

जहाँ तक मुझे याद है, लोकेशन जिस दिन खाली कराया

गया, या तो उस दिन या उसके दूसरे दिन उसमें आग लगा दी गई। एक भी चीज को वहाँ से बचा लाने का लोभ म्युनिसिपैलिटी ने नहीं किया। इन्हीं दिनों में और इसी कारण से म्युनिसिपैलिटी ने अपने मारकेट की सारी लकड़ी-इमारतें भी जला डालीं, जिससे उसे कोई १० हजार पौंड की हानि सहनी पड़ी। मारकेट में मरे चूहे पाये गये थे—इसलिए म्युनिसिपैलिटी को इतने साहस का काम करना पड़ा। इसमें नुकसान तो बहुत बरदाश्त करना पड़ा, किन्तु यह फल जरूर हुआ कि प्लेग आगे न बढ़ पाया और नगरवासी निःशंक हो गये।

एक पुस्तक का चमत्कारी प्रभाव

इस प्लेग के बदौलत गरीब भारतवासियों पर मेरा प्रभाव, मेरी वकालत और मेरी जिम्मेवारी बहुत बढ़ गई। फिर यूरोपियन लोगों से जो मेरा परिचय था वह भी इतना निकट होता गया कि उससे भी मेरी नैतिक जवाबदेही बढ़ने लगी।

जिस तरह वेस्ट से मेरी मुलाकात निरामिष भोजनालय में हुई उसी तरह पोलक से भी हो गई। एक दिन मेरे खाने की मेज़ से दूर की मेज पर एक नवयुवक भोजन कर रहा था। उसने मुझसे मिलने की इच्छा से अपना नाम मुझ तक पहुँचाया। मैंने उन्हें अपनी मेज पर खाने के लिए बुलाया और वह आये।

'मैं 'क्रिटिक' का उपसंपादक हूँ। प्लेग सम्बन्धी आपका पत्र पढ़ने के बाद आपसे मिलने की मुझे बड़ी उत्कण्ठा हुई। आज आपसे मिलने का अवसर मिला है।'

मि० पोलक के शुद्ध भाव ने मुझे उनकी ओर खींचा। उस रात को हमारा एक दूसरे से परिचय हो गया और जीवन-सम्बन्धी अपने विचारों में हम दोनों को बहुत साम्य दिखाई दिया। सादा जीवन उन्हें पसंद था। किसी बात के पट जाने के बाद तुरन्त उसपर अमल करने की उनकी शक्ति आश्चर्यजनक मालूम हुई। उन्होंने अपने जीवन में कितने ही परिवर्त्तन तो एक-दम कर डाले।

'इंडियन ओपिनियन' का खर्च बढ़ता जाता था। वेस्ट ने जो विवरण वहाँ का पहली ही बार भेजा उसने मेरे कान खड़े कर दिये। उन्होंने लिखा कि जैसा आपने कहा था वैसा मुनाफा इस काम में नहीं है। मुझे तो उलटा नुकसान दिखाई पड़ता है। हिसाब-किताब की व्यवस्था ठीक नहीं है। लेना बहुत है, पर वह बेसिर-पैर का है। बहुतेरा रद्दोबदल करना होगा। परन्तु यह हाल पढ़कर आप चिन्ता न करें; मुझसे जितना हो सकेगा अच्छा प्रबंध करूँगा। मुनाफा न होने के कारण मैं इस काम को छोड़ न दूँगा।

जब कि मुनाफा नहीं दिखाई दिया था तब वेस्ट चाहते तो

वहाँ के काम को छोड़ सकते थे, और मैं उन्हें किसी तरह दोष नहीं दे सकता था। इतना ही नहीं, उलटा उन्हें यह अधिकार था कि वह मुझे बिना पूछ-ताछ किये उस काम में मुनाफ़ा बताने का दोषभागी ठहराते। इतना होते हुए भी उन्होंने मुझे कभी इसका उलहना तक न दिया; पर मैं समझता हूँ कि इस बात के मालूम होने पर वेस्ट की नजर में मैं एक जल्दी में विश्वास कर लेने वाला आदमी जँचा हूँगा। मदनजीत की राय को मान कर बिना पूछ-ताछ किये ही मैंने वेस्ट से मुनाफे का जिक्र किया था। पर मेरी यह राय है कि सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं को वही बात दूसरे से कहनी चाहिए, जिसकी खुद उन्होंने जाँच कर ली है। सत्य के पुजारी को तो बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। बिना अपना इत्मीनान किये किसी के दिल पर आवश्यकता से अधिक असर डालना भी सत्य को दाग़ लगाना है। मुझे यह कहते हुए बहुत दुःख होता है कि इस बात को जानते हुए भी, जल्दी में विश्वास रखकर काम लेने की अपनी प्रकृति को मैं पूरा-पूरा सुधार नहीं सका। इसका कारण है शक्ति से अधिक काम करने का लोभ। यह दोष है। इस लोभ से कई बार मुझे दुःख हुआ है और मेरे साथियों को तो मुझसे भी अधिक मनःक्लेश सहना पड़ा है।

वेस्ट का ऐसा पत्र पाकर मैं नेटाल के लिए रवाना हुआ।

पोलक मेरी सब बातों को जान गये थे। स्टेशन पर मुझे पहुँचाने आये और रस्किन-रचित 'अन्टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक मेरे हाथों में रख कर कहा—'यह पुस्तक रास्ते में पढ़ने लायक है। आपको जरूर पसंद आयेगी।'

पुस्तक को मैंने जो एक बार पढ़ना शुरू किया तो खतम किये बिना न छोड़ सका। उसने तो बस मुझे पकड़ ही लिया! जोहान्सबर्ग से नेटाल २४ घंटे का रास्ता है। ट्रेन शाम को डरबन पहुँचती थी। पहुँचने के बाद रातभर नींद न आई। इस पुस्तक के विचारों के अनुसार जीवन बनाने की धुन लग रही थी।

इससे पहले मैंने रस्किन की एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी। विद्यार्थी-जीवन में पाठ्य-पुस्तकों के अलावा मेरा वाचन नहीं-के बराबर समझना चाहिए। और कर्म-भूमि में प्रवेश करने के बाद तो समय ही बहुत कम रहता है। इस कारण आज तक भी मेरा पुस्तक-ज्ञान बहुत ही थोड़ा है। मैं मानता हूँ कि इस अनायास के अथवा जबर्दस्ती के संयम से मुझे कुछ भी नुकसान नहीं पहुँचा है। पर, हाँ, यह कह सकता हूँ कि जो कुछ थोड़ी पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं उन्हें ठीक तौर पर हजम करने की कोशिश अलबत्ते मैंने की है। और मेरे जीवन में यदि किसी पुस्तक ने तत्काल महत्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला हो तो वह यही पुस्तक

है। बाद को मैंने इसका गुजराती में अनुवाद किया था और वह 'सर्वोदय' के नाम से प्रकाशित भी हुआ है।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज़ मेरे अन्तरतर में बसी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थ-रत्न में देखा और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया एवं अपने विचारो के अनुसार मुझसे आचरण करवाया। हमारी अन्तरस्थ सुप्त भावनाओं को जाग्रत करने का सामर्थ्य जिसमें होता है वह कवि है। सब कवियों का प्रभाव सबपर एकसा नहीं होता। क्योंकि सब लोगों में सभी अच्छी भावनायें एक-मात्रा में नहीं होतीं।

'सर्वोदय' के सिद्धान्त को मैं इस प्रकार समझा—

१—सबके भले में अपना भला है।

२—वकील और नाई दोनो के काम की क़ीमत एकसी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का हक़ दोनों को एकसा है।

३—सादा, मजदूर का और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली बात तो मैं जानता था। दूसरी का मुझे आभास हुआ करता था। पर तीसरी तो मेरे विचार क्षेत्र में आई तक न थी। पहली बात में पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं, यह बात

'सर्वोदय' से मुझे सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवन को बनाने की चिन्ता में लगा।

फ़िनिक्स की स्थापना

सुबह होते ही मैंने सबसे पहले वेस्ट से इस सम्बन्ध में बातें कीं। 'सर्वोदय' का जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा वह मैंने उन्हें कह सुनाया। और सुझाया कि 'इण्डियन ओपिनियन' को एक खेत पर ले जायँ तो कैसा? वहाँ सब एक-साथ रहें, एक-सा भोजन-खर्च लें, अपने लिए सब खेती कर लिया करें और बचत के वक्त में 'इण्डियन ओपिनियन' का काम करें। वेस्ट को यह बात पसन्द हुई। भोजन-खर्च का हिसाब लगाया गया तो कम से-कम तीन पौण्ड प्रति मनुष्य आया। इसमें काले-गोरे का भेद-भाव नहीं रक्खा गया था।

परन्तु प्रेस में काम करनेवाले तो कुल ८-१० आदमी थे। फिर सवाल यह था कि जंगल में जाकर बसने में सबको सुविधा होगी या नहीं? दूसरा सवाल यह था कि सब एक-सा भोजन-खर्च लेने के लिए तैयार होंगे या नहीं? आखिर हम दोनों ने तो यही तय किया कि जो इस तजवीज में शरीक न हो सकें वे अपना वेतन ले लिया करें—किन्तु आदर्श यही रक्खा जाय कि धीरे-धीरे सब कार्यकर्ता संस्थावासी हो जायँ।

इसी दृष्टि से मैंने समस्त कार्यकर्ताओं से बातचीत शुरू की। मदनजीत को यह बात बिलकुल पसन्द न हुई। उन्हें अन्देशा हुआ कि जिस चीज में उन्होंने अपना जी-जान लगाया है उसे मैं कहीं अपनी मूर्खता से एकाध महीने में ही मिट्टी में न मिला दूँ। उन्हें भय हुआ कि इस तरह 'इण्डियन ओपिनियन' बन्द हो जायगा, प्रेस भी टूट जायगा और कार्यकर्ता सब भाग खड़े होंगे।

मेरे भतीजे छगनलाल गाँधी उस प्रेस में काम करते थे। उनसे भी मैंने वेस्ट के साथ ही बात की थी। उनपर परिवार का बोझ था, किन्तु बचपन से ही उन्होंने मेरे नीचे तालीम लेना और काम करना पसंद किया था। मुझपर उनका बहुत विश्वास था। इसलिए उन्होंने तो बिना दलील और हुज्जत के ही 'हाँ' करली और तबसे आज तक वह मेरे साथ ही हैं।

तीसरे थे एक गोविंदसामी मशीनमैन। वह भी शामिल हो

गये। दूसरे लोग यद्यपि संस्थावासी न बने, पर फिर भी उन्होंने जहाँ प्रेस जाय वहाँ जाना स्वीकार किया।

इस तरह कार्यकर्ताओं के साथ बातचीत करने में दो से अधिक दिन गये हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। तुरन्त ही मैंने अखबार मे विज्ञापन दिया कि डरबन के नजदीक किसी भी स्टेशन के पास जमीन की आवश्यकता है। उत्तर मे फिनिक्स की जमीन का संदेसा आया। वेस्ट और मैं जमीन देखने गये और सात दिन के अंदर २० एकड़ जमीन ले ली। उसमें एक छोटा-सा पानी का झरना भी था। कुछ आम के और नारंगी के पेड़ थे। पास ही ८० एकड़ का एक और टुकड़ा था। उसमे फलो के पेड़ ज्यादा थे और एक झोंपड़ा भी था। कुछ समय बाद उसे भी खरीद लिया। दोनो के मिल कर १००० पौंड लगे।

सेठ पारसी रुस्तमजी मेरे ऐसे तमाम साहस के कामों में मेरे साथी होते थे। उन्हे मेरी यह तजवीज पसद आई। इसलिए उन्होंने अपने एक गोदाम के टीन वगैरा, जो उनके पास पड़े थे, मुफ्त में हमें दे दिये। कितने ही हिंदुस्तानी बढ़ई और सिलावट, जो मेरे साथ लड़ाई में थे, इसमें मदद देने लगे और कारखाना बनने लगा। एक महीने मे मकान तैयार हो गया। ७५ फीट लंबा और ५० फीट चौड़ा था। वेस्ट आदि अपने शरीर को खतरे में डाल कर भी बढ़ई आदि के साथ रहने लगे।

फिनिक्स में घास खूब थी और आबादी बिलकुल नहीं थी। इससे साँप आदि का उपद्रव रहता था, और खतरा भी था। शुरुआत में तो हम लोग तम्बू तान कर ही रहने लगे।

मुख्य मकान तैयार होते ही, हम लोग एक सप्ताह में बहुतेरा सामान गाड़ियों पर लाद कर फिनिक्स चले गये। डरबन और फिनिक्स में तेरह मील का फासला था। फिनिक्स स्टेशन से ढाई मील दूर था। इस स्थान-परिवर्तन के कारण सिर्फ एक ही सप्ताह 'इण्डियन ओपिनियन' मरक्यूरी प्रेस में छपाना पड़ा था।

मेरे साथ मेरे जो-जो रिश्तेदार वग़ैरा वहाँ गये और व्यापार आदि में लग गये थे उन्हें अपने मत में मिलाने का और फिनिक्स में दाखिल करने का प्रयत्न मैंने शुरू किया। वे सब तो धन जमा करने की उमङ्ग से दक्षिण-आफ्रिका आये थे। उनको राजी कर लेना बड़ा कठिन काम था। परन्तु कितने ही लोगों को मेरी बात जँच गई। इन सबमें से आज तो मगनलाल गाँधी का ही नाम मैं चुन कर पाठकों के सामने रखता हूँ, क्योंकि दूसरे लोग जो राजी हुए थे, वे थोड़े-बहुत समय फिनिक्स में रहकर फिर धन-संचय के फेर में पड़ गये। मगनलाल गाँधी तो अपना काम छोड़ कर जो मेरे साथ आये, सो अबतक रह रहे हैं और अपने बुद्धि-बल से, त्याग-शक्ति से एवं अनन्य भक्ति-भाव से मेरे

आन्तरिक प्रयोगों में मेरा साथ देते हैं एवं मेरे मूल साथियों में आज उनका स्थान सबसे प्रधान है। फिर एक स्वयं-शिक्षित कारीगर के रूप में तो उनका स्थान मेरी दृष्टि में अद्वितीय है।

इस तरह १९०४ ईस्वी में फिनिक्स की स्थापना हुई, और विघ्नों और कठिनाइयों के रहते हुए भी फिनिक्स-संस्था एवं "इण्डियन ओपिनियन" दोनों आजतक चल रहे हैं। परन्तु इस संस्था के आरम्भ-काल की मुसीबतें और उस समय की आशा-निराशायें जानने लायक हैं। उनपर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

पहली रात

फिनिक्स में "इण्डियन ओपिनियन" का पहला अङ्क प्रकाशित करना आसान न साबित हुआ। यदि दो बातों में मैंने पहले ही से सावधानी न रक्खी होती तो अङ्क एक सप्ताह बन्द रहता या देर से निकलता। इस संस्था में मेरी यह इच्छा कम ही रही थी कि एञ्जिन से चलने वाले यन्त्रादि मंगाये जायँ। मेरी भावना यह थी कि जब हम खेती भी खुद हाथों से ही करने की चाह रखते हैं तब फिर छापे की कल भी ऐसी ही लाई जाय जो हाथ से चल सके। पर उस समय यह अनुभव हुआ कि यह बात सध न सकेगी। इसलिए ऑयल-

एञ्जिन मँगवाया गया था। परन्तु मुझे यह खटका रहा कि कहीं वहाँ पर यह तेल-यंत्र बन्द न हो जाय, इसलिए मैंने वेस्ट को सुझाया कि ऐसे समय के लिए कोई काम-चलाऊ साधन भी हम अभी से जुटा रक्खें तो अच्छा। इसलिए उन्होंने हाथ से चलाने का भी एक चक्र मँगा रक्खा था, और ऐसी तजवीज कर रक्खी थी कि मौका पड़ने पर उससे छापे की कल चलाई जा सके। फिर "इण्डियन ओपिनियन" का आकार दैनिक पत्र के बराबर लम्बा-चौड़ा था। और यदि बड़ी कल अड़ जाय तो ऐसी सुविधा वहाँ नहीं थी कि इतने बड़े आकार का पत्र तुरन्त छापा जा सके। इससे पत्र के उस अंक के बन्द रहने का ही अन्देशा था। इस दिक़्क़त को दूर करने के लिए अखबार का आकार छोटा कर दिया कि जिससे कठिनाई के समय पर छोटी कल को भी पांव से चला कर अखबार, थोड़े ही पन्ने क्यों न हों, प्रकाशित हो सके।

आरम्भ-काल में 'इण्डियन ओपिनियन' की प्रकाशन-तिथि की अगली रात को सबको थोड़ा-बहुत जागरण करना ही पड़ता था। पन्नों को भाँजने में छोटे-बड़े सब लग जाते और रात को दस-बारह बजे यह काम खतम होता। परन्तु पहली रात तो इस प्रकार बीती जिसे कभी नहीं भूल सकते। पन्नों का चौकठा तो मशीन पर कस गया, पर एञ्जिन अड़ गया, उसने चलने से

इन्कार कर दिया। एञ्जिन को जमाने और चलाने के लिए एक इञ्जिनियर बुलाया गया था। उसने और वेस्ट ने खूब माथापच्ची की; पर एञ्जिन टस से मस न हुआ। तब सब चिन्ता में अपना सा मुँह लेकर बैठ गये। अन्त को वेस्ट निराश होकर मेरे पास आये। उनकी आँखें आँसुओं से छलछला रही थीं। उन्होंने कहा—"अब आज तो एञ्जिन के चलने की आशा नहीं, और इस सप्ताह हम अखबार समय पर न निकाल सकेंगे।"

'अगर यही बात है तब तो अपना कुछ बस नहीं, पर इस तरह आँसू बहाने की कोई आवश्यकता नहीं। और कुछ कोशिश कर सकते हों तो कर देखें। हाँ, वह हाथ से चलाने का चक्र जो हमारे पास रक्खा है, वह किस दिन काम आयेगा?' यह कह-कर मैंने उन्हें आश्वासन दिया।

वेस्ट ने कहा—'पर उस चक्र को चलानेवाले आदमी हमारे पास कहाँ हैं? हम लोग जितने हैं उनसे वह नहीं चल सकता, उसे चलाने के लिए पारी-पारी से चार-चार आदमियों की जरूरत है। और इधर हम लोग थक भी चुके हैं।'

बढ़ई लोगों का काम अभी पूरा नहीं हुआ था, इससे वे लोग अभी छापेखाने में ही सो रहे थे। उनकी तरफ इशारा करके मैंने कहा—'ये मिस्त्री लोग यहाँ मौजूद हैं। इनकी मदद क्यों न लें? और आज की रातभर हम सब जागकर छापने की

कोशिश करेंगे। बस इतना ही कर्तव्य हमारा और बाकी रह जाता है।'

'मिस्त्रियों को जगाने की और उनसे मदद माँगने की मेरी हिम्मत नहीं होती। और हमारे जो लोग थक गये हैं उन्हें भी कैसे कहूँ?'

'यह काम मेरे जिम्मे रहा,' मैंने कहा।

'तब तो मुमकिन है कि सफलता मिल जाय।'

मैंने मिस्त्रियों को जगाया और उनकी मदद माँगी; मुझे उनको मिन्नत-खुशामद नहीं करनी पड़ी। उन्होंने कहा—'वाह! ऐसे वक्त हम यदि काम न आयँ तो हम आदमी ही क्या? आप आराम कीजिए, हम लोग घोड़ा (चक्र) चला देंगे। हमें इसमें कुछ मिहनत नहीं है।' और इधर छापेखाने के लोग तैयार थे ही।

अब तो वेस्ट के हर्ष की सीमा न रही। वह काम करते-करते भजन गाने लगे। घोड़ा चलाने में मैंने भी मिस्त्रियों का साथ दिया और दूसरे लोग भी बारी-बारी से चलाने लगे, साथ ही पन्ने भी छपने लगे।

सुबह के सात बजे होंगे। मैंने देखा कि अभी बहुत काम बाकी पड़ा है। मैंने वेस्ट से कहा—'अब हम इञ्जिनियर को क्यों न जगा लें? अब दिन की रोशनी में वह और सिर खपा

कर देखें तो अच्छा हो। अगर एञ्जिन चल जाय तो अपना काम समय पर पूरा हो सकता है।'

वेस्ट ने इञ्जिनियर को जगाया। वह उठ खड़ा हुआ और एञ्जिन के कमरे में गया। शुरू करते ही एञ्जिन चल निकला। प्रेस हर्षनाद से गूँज उठा। सब कहने लगे 'यह कैसे हो गया? रात को तो इतनी मिहनत करने पर भी नहीं चला और अब हाथ लगाते ही इस तरह चल पड़ा, मानों कुछ बिगड़ा ही न था!'

वेस्ट ने या इञ्जिनियर ने जवाब दिया—'इसका उत्तर देना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है, मानों यन्त्र भी हमारी तरह आराम चाहते । कभी-कभी तो उनकी हालत ऐसी देखी जाती है।'

मैंने तो यह माना कि एञ्जिन का न चलना हमारी परीक्षा थी और ऐन मौके पर उसका चल जाना हमारी शुद्ध मिहनत का शुभ फल था।

इसका परिणाम यह हुआ कि 'इण्डियन ओपिनियन' नियत समय पर स्टेशन पहुँच गया। और हम सब निश्चिन्त हुए।

हमारे इस आग्रह का फल यह हुआ कि 'इण्डियन ओपिनियन' की नियमितता की छाप लोगों के दिल पर पड़ी और फिनिक्स मेहनत का वातावरण फैला। इस संस्था के जीवन में ऐसा भी एक युग आगया था, जब जान-बूझकर एञ्जिन बन्द

रक्खा गया था और दृढ़तापूर्वक हाथ के चक्र से ही काम चलाया गया था। मैं कह सकता हूं कि फ़िनिक्स के जीवन में वह ऊँचे से ऊँचा नैतिक काल था।

पोलक भी कूद पड़े

फिनिक्स जैसी संस्था स्थापित करने के बाद मैं खुद थोड़े ही समय उसमें रह सका। इस बात पर मुझे हमेशा बड़ा दुःख रहा है। उसकी स्थापना के समय मेरी यह कल्पना थी कि मैं भी वहीं बसूँगा। अपनी आजीविका भी उसीमें से प्राप्त करूँगा। धीरे-धीरे वकालत छोड़ दूँगा, फिनिक्स में रहकर जो-कुछ सेवा हो सकेगी, वह करूँगा, और फिनिक्स की सफलता को ही अपनी सेवा समझूँगा। परन्तु इन विचारों के अनुसार निश्चित व्यवहार न हो सका। अपने अनुभव में मैंने यह बहुत बार देखा है कि हम सोचते कुछ हैं और हो कुछ

ओर जाता है। परन्तु इसके साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया है कि जहाँ सत्य की ही चाह और उपासना है वहाँ परिणाम चाहे हमारी धारणा के अनुसार न निकले, कुछ और ही निकले, परन्तु वह अकुशल—बुरा—नहीं होता और कर्माकर्म तो आशा से भी अधिक अच्छा हो जाता है। फिनिक्स में जो अन्कल्पित परिणाम पैदा हुए और फिनिक्स को जो अन्कल्पित रूप प्राप्त हुआ, वह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि अकुशल नहीं। हाँ, यह बात अलबत्ता निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि उन्हें अधिक अच्छा कह सकते हैं या नहीं।

हमारी धारणा यह थी कि हम लोग खुद मिहनत करके अपनी रोजी कमायेंगे, इसलिए छापेखाने के आसपास हरएक निवासी को तीन-तीन एकड़ जमीन का टुकड़ा दिया गया। इसमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी नापा गया। हम सब लोगों की इच्छा के खिलाफ उनपर टीन के घर बनाये। इच्छा तो हमारी यह थी कि हम मिट्टी और फूस के किसानोचित अथवा ईंट के मकान बनावें; पर वह न हो सका। उसमे अधिक रुपया लगाता था, और अधिक समय भी जाता था। फिर सब लोग इस बात के लिए आतुर थे कि कब अपने घर बसा लें और काम में लग जायँ।

यद्यपि 'इंडियन ओपिनियन' के संपादक तो मनसुख-

लाल नाजर ही माने जाते थे, तथापि वह इस योजना में सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका घर डरबन में ही था। डरबन में 'इंडियन ओपिनियन' की एक छोटी-सी शाखा भी थी।

छापखाने में कंपोज करने यानी अक्षर जमाने के लिए यद्यपि वैतनिक कार्यकर्त्ता थे, फिर भी उसमें दृष्टि यह रक्खी गई थी कि अक्षर जमाने की क्रिया सब संस्थावासी जान लें और करें। क्यों कि यह है तो आसान, पर इसमें समय बहुत जाता है, इसलिए जो लोग कंपोज करना नहीं जानते थे वे सब तैयार हो गये। मैं इस काम में अन्त तक सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ रहा और मगनलाल गाँधी सबसे आगे निकल गये। मेरा यह मत रहा है कि उन्हें अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं रहता था। उन्होंने इससे पहले छापखाने का कोई काम नहीं किया था, फिर भी वह एक कुशल कंपोजिटर बन गये और अपनी गति भी बहुत बढ़ा ली। इतना ही नहीं बल्कि थोड़े ही समय में छापखाने की सब क्रियाओं में काफी प्रवीणता प्राप्त करके, उन्होंने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया।

यह काम अभी ठिकाने लगा ही न था, मकान भी अभी तैयार न हुए थे, कि इतने ही में इस नये रचे कुटुम्ब को छोड़कर मुझे जोहान्सबर्ग भागना पड़ा। ऐसी हालत न थी कि मैं वहाँ का काम बहुत समय तक यों ही पटक रखता।

जोहान्सबर्ग आकर मैंने पोलक को इस महत्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना दी। अपनी दी हुई पुस्तक का यह परिणाम देखकर उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने बड़ी उमङ्ग के साथ पूछा—'तो क्या मैं भी इसमें किसी तरह योग नहीं दे सकता?'

मैंने कहा—"हां, क्यो नहीं; अवश्य दे सकते हैं। आप चाहें तो इस योजना मे भी शरीक हो सकते हैं।"

'मुझे आप शामिल करलें तो मुझे तैयार ही समझिए।' पोलक ने जवाब दिया।

उनकी इस दृढ़ता ने मुझे मुग्ध कर लिया। पोलक ने 'क्रिटिक' के मालिक को एक महीने का नोटिस देकर अपना इस्तीफा पेश कर दिया और मीयाद खतम होने पर फिनिक्स आ पहुँचे। अपनी मिलनसारी से उन्होंने सबका मन हर लिया और हमारे कुटुम्बी बनकर वहाँ बस गये। सादगी तो उनके रगोरेशे मे भरी हुई थी। इसलिए उन्हें फिनिक्स का जीवन ज़रा भी अटपटा या कठिन न मालूम हुआ, बल्कि स्वाभाविक और रुचिकर जान पड़ा।

पर खुद मैं ही उन्हे वहाँ अधिक समय तक न रख सका। मि० रीच ने विलायत मे रहकर कानून के अध्ययन को पूरा करने का निश्चय किया। दफ्तर के काम का बोझा मुझ अकेले के बस का न था। इसलिए मैंने पोलक से दफ्तर मे रहने और

वकालत करने के लिए कहा—इसमें मैंने यह सोचा था कि उनके वकील हो जाने के बाद अन्त को हम दोनों फिनिक्स में जा पहुँचेंगे।

हमारी ये सब कल्पनायें अन्त को झूठी साबित हुई; परन्तु पोलक के स्वभाव में एक प्रकार की ऐसी सरलता थी कि जिस-पर उनका विश्वास बैठ जाता उसके साथ वह हुज्जत न करते और उसकी सम्मति के अनुकूल चलने का प्रयत्न करते। पोलक ने मुझे लिखा—'मुझे तो यही जीवन पसन्द है और मैं यहीं सुखी हूँ। और मुझे आशा है कि हम इस संस्था का खूब विकास कर सकेंगे, परन्तु यदि आपका यह खयाल हो कि मेरे वहाँ आने से हमारे आदर्श जल्दी सफल होंगे तो मैं आने को भी तैयार हूँ।'

मैंने इस पत्र का स्वागत किया और पोलक फिनिक्स छोड़ कर जोहान्सबर्ग आये और मेरे दफ्तर में मेरे सहायक का काम करने लगे। इसी समय मेकिनटायर नामक एक स्कॉच युवक हमारे साथ शरीक हुआ। वह थियसफिस्ट था और उसे मैं कानून की परीक्षा की तैयारी में मदद करता था। मैंने उसे पोलक का अनुकरण करने का निमन्त्रण दिया था।

इस तरह फिनिक्स के आदर्श को शीघ्र प्राप्त कर लेने के शुभ उद्देश्य से मैं उसके विरोधक जीवन में दिन-दिन गहरा पैठता गया और यदि ईश्वरीय संकेत दूसरा न होता तो सादा जीवन

के बहाने फैलाये इस मोह-जाल में मैं खुद ही फँस जाता।

परन्तु हमारे आदर्श की रक्षा इस तरह हुई कि जिसकी हम किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। परन्तु उस प्रसङ्ग का वर्णन करने के पहले अभी कुछ और अध्याय लिखने पड़ेंगे।

'जाको राखे साइयाँ'

इस समय तो मैंने निकट-भविष्य में देश जाने की अथवा वहां जाकर स्थिर होने की आशा छोड़ दी थी। इधर मैं पत्नी को एक साल का दिलासा देकर दक्षिण आफ्रिका आया था, परन्तु साल तो बीत गया और मैं लौट न सका, इसलिए निश्चय किया कि बाल-बच्चों को यहीं बुलवा लूं।

बाल-बच्चे आ गये। उनमें मेरा तीसरा पुत्र रामदास भी था। रास्ते में जहाज के नाखुदा के साथ वह खूब हिल-मिल गया था और उसके साथ खिलवाड़ करते हुए उसका हाथ टूट गया था। कप्तान ने उसकी खूब सेवा की थी। डाक्टर ने हड्डी जोड़ दी थी। और

जब वह जोहान्सबर्ग पहुँचा तो उसका हाथ लकड़ी की पट्टी से बाँध कर रूमाल में लटकाया हुआ अधर रक्खा गया था। जहाज के डाक्टर की हिदायत थी कि जख्म का इलाज किसी डाक्टर से ही कराना चाहिए।

परन्तु यह जमाना मेरे मिट्टी के प्रयोगो के दौर-दौरे का था। अपने जिन मवकिलों का विश्वास मुझ अनाड़ी वैद्य पर था उनसे भी मैं मिट्टी और पानी का प्रयोग कराता था। तब रामदास के लिए दूसरा क्या इलाज हो सकता था? रामदास की उमर उस समय आठ वर्ष की थी। मैंने उससे पूछा—'मैं तुम्हारे जख्म की मरहम-पट्टी खुद करूँ तो तुम डरोगे तो नहीं?' रामदास ने हँस कर मुझे प्रयोग करने की छुट्टी देदी। इस उम्र में उसे अच्छे-बुरे की पहचान नहीं हो सकती थी, फिर भी डाक्टर और 'नीम-हकीम' का भेद वह अच्छी तरह जानता था। इसके अलावा उसे मेरे प्रयोगों का हाल मालूम था और मुझपर उसका विश्वास था। इसलिए उसको कुछ डर नहीं मालूम हुआ।

मैंने उसकी पट्टी खोली। पर उस समय मेरे हाथ काँप रहे थे और दिल धड़क रहा था। मैंने जख्म को धोया और साफ मिट्टी की पटी रख कर पूर्ववत् पट्टी बांध दी। इस तरह रोज मैं जख्म साफ करके मिट्टी की पट्टी चढ़ा देता। कोई महीने-भर मे घाव सूख गया। किसी भी दिन उसमें कोई खराबी न

पैदा हुई और दिन-दिन वह सूखता ही गया। जहाज के डाक्टर ने भी कहा था कि डाक्टरी मरहम-पट्टी से भी इतना समय तो लग ही जायगा।

इससे घरेलू इलाज पर मेरा विश्वास और उसका प्रयोग करने का मेरा साहस बढ़ गया। इसके बाद तो मैंने अपने प्रयोगों की सीमा बहुत बढ़ा दी थी। ज़ख्म, बुखार, अजीर्ण, पीलिया इत्यादि रोगों पर मिट्टी, पानी और उपवास के प्रयोग कई छोटे-बड़े स्त्री-पुरुषों पर किये और उनमें अधिकांश में सफलता मिली। इतने पर भी जो हिम्मत इस विषय में मुझे दक्षिण आफ्रिका में थी वह अब नहीं रही, और अनुभव से ऐसा भी देखा गया है कि इन प्रयोगों में खतरा तो है ही।

इन प्रयोगों के वर्णन में मेरा हेतु यह नहीं है कि इनकी सफलता सिद्ध करूँ। मैं ऐसा दावा नहीं कर सकता कि इनमें से एक भी प्रयोग सर्वांश में सफल हुआ हो, पर कोई डाक्टर भी तो अपने प्रयोगों के लिए ऐसा दावा नहीं कर सकता। मेरे कहने का भाव सिर्फ यही है कि जो लोग नये अपरिचित प्रयोग करना चाहते हैं उन्हें अपने ही से उसकी शुरुआत करनी चाहिए। ऐसा करने से सत्य जल्दी प्रकाशित होता है और ऐसे प्रयोग करने वाले को ईश्वर खतरों से बचा लेता है।

मिट्टी के प्रयोगों में जो जोखिम थी वही यूरोपियन लोगों

के निकट-समागम में भी थी। भेद सिर्फ दोनों के प्रकार का था। परन्तु इन खतरों का तो मेरे मन में विचार तक नहीं आया।

पोलक को मैंने अपने साथ रहने का निमन्त्रण दिया और हम सगे भाई की तरह रहने लगे। पोलक का विवाह जिस देवी के साथ हुआ उनसे उनकी मैत्री बहुत समय से थी। उचित समय पर विवाह कर लेने का निश्चय दोनो ने कर रक्खा था। परन्तु मुझे याद पड़ता है कि पोलक कुछ रुपया जुटा लेने की फिराक में थे। रस्किन के ग्रन्थों का अध्ययन और विचारों का मनन उन्होंने मुझसे बहुत अधिक कर रक्खा था। परन्तु पश्चिम के वातावरण में रस्किन के विचारो के अनुसार जीवन बिताने की कल्पना मुश्किल से ही हो सकती थी। एक रोज मैंने उनसे कहा, 'जिसके साथ प्रेम-गाँठ बँध गई है उसका वियोग केवल धनाभाव से सहना उचित नहीं है'। इस तरह अगर विचार किया जाय तब तो कोई ग़रीब बेचारा विवाह कर ही नहीं सकता। फिर आप तो मेरे साथ रहते हैं। इसलिए घर-खर्च का सवाल ही नहीं है। सो मुझे तो यही उचित मालूम पड़ता है कि आप शादी करलें।'

पोलक से मुझे कभी कोई बात दुबारा कहने का मौका नहीं आया। उन्हें तुरन्त मेरी दलील पट गई। भावी श्रीमती पोलक विलायत मे थीं, उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। वह

सहमत हुईं और थोड़े ही महीनों में वह विवाह के लिए जोहान्स-बर्ग आगईं।

विवाह में खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ा। विवाह के लिए खास कपड़े तक नहीं बनाये गये और धर्म-विधि की भी कोई आवश्यकता नही समझी। श्रीमती पोलक जन्मत ईसाई और पोलक यहूदी थे। दोनों नीति-धर्म के माननेवाले थे।

परन्तु इस विवाह के समय एक मनोरंजक घटना हो गई थी। ट्रान्सवाल में जो राज कर्मचारी गोरों के विवाह की रजिस्ट्री करता वह काले के विवाह की नहीं करता। इस विवाह में दोनों का पुरोहित या साथी मैं ही था। हम चाहते तो किसी गोरे मित्र की भी तजवीज कर सकते थे, परन्तु पोलक इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकते थे। इसलिए हम तीनों उस कर्मचारी के पास गये। जिस विवाह का मध्यस्थ एक काला आदमी हो उसमें वर-वधू दोनो गोरे ही होंगे, इस बात का विश्वास सहसा उस कर्मचारी को कैसे हो सकता था? उसने कहा कि मैं जाँच करने के बाद विवाह रजिस्टर करूँगा। दूसरे दिन बड़े दिन का त्यौहार था। विवाह की सारी तैय्यारी किये हुए वर-वधू के विवाह की रजिस्टरी की तारीख का इस तरह बदला जाना सबको बड़ा नागवार गुजरा। बड़े मजिस्ट्रेट से मेरा परिचय था। वह इस विभाग का अफसर था। मैं इन दम्पती को लेकर उनके पास गया।

किस्सा सुन कर वह हँसे और एक चिट्ठी लिखदी। तब जाकर यह विवाह रजिस्टर हुआ।

आज तक तो थोड़े-बहुत परिचित गोरे पुरुष ही हम लोगो के साथ रहे थे, पर अब एक अपरिचित अंग्रेज महिला हमारे परिवार में दाखिल हुई। मुझे तो बिलकुल याद नहीं पड़ता कि खुद मेरा कभी उनके साथ कोई झगड़ा हुआ हो। परन्तु जहाँ अनेक जाति के और प्रकृति के हिन्दुस्तानी आया-जाया करते थे और जहाँ मेरी पत्नी को अभी ऐसे जीवन का अनुभव थोड़ा था वहाँ उन दोनों को कभी-कभी उद्वेग के अवसर मिले हों तो आश्चर्य नहीं। परन्तु यह मैं कहसकता हूँ कि एक ही जाति और कुटुम्ब के लोगों में कटु अनुभव जितनें होते हैं, उनसे तो अधिक इस विजातीय कुटुम्ब में नहीं हुए। बल्कि ऐसे जिन प्रसंगों का स्मरण मुझे है वे बहुत मांमूली कहे जा सकते हैं। बात यह है कि सजातीय-विजातीय हमारे मनकी तरंगें हैं, वास्तव में तो हम सब एक ही परिवार के लोग हैं।

अब, वेस्ट का विवाह भी यहीं क्यों न मना लूँ? उस समय ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व नहीं हुए थे। इसलिए कुंवारे मित्रों का विवाह करा देना उन दिनों मेरा एक पेशा हो बैठा था। वेस्ट जब अपनी जन्मभूमि में पितृ-यात्रा के लिए गये तो मैंने उन्हें सलाह दी थी कि जहाँ तक हो सके विवाह करके ही लौटना।

क्योंकि फिनिक्स हम सबका घर होगया था, और हम सब किसान बन बैठे थे, इसलिए विवाह या वंश-वृद्धि हमारे लिए भयंकर विषय नहीं था।

वेस्ट लेस्टर की एक सुन्दरी को विवाह लाये। इस कुमारिका के परिवार के लोग लेस्टर के जूते के एक बड़े कारखाने में काम करते थे। श्रीमती वेस्ट भी कुछ समय तक उस जूते के कारखाने में काम कर चुकी थी। उसे मैंने सुन्दरी कहा है; क्योंकि मैं उसका गुणों का पुजारी हूँ और सच्चा सौंदर्य तो मनुष्य का गुण ही होता है। वेस्ट अपनी सास को भी साथ लाये थे। यह भली बुढ़िया अभी जिन्दा है। अपनी उद्यमशीलता और हँस-मुख स्वभाव से वह हम सबको हमेशा शर्माया करती थी।

इधर तो मैंने गोरे मित्रों का विवाह कराया, उधर हिन्दुस्तानी मित्रों को अपने बाल-बच्चों को बुलवा लेने के लिए उत्साहित किया। इससे फिनिक्स एक छोटासा गाँव बन गया था। वहाँ पाँच-सात हिन्दुस्तानी कुटुम्ब रहने और वृद्धि पाने लगे थे।

घर में फेरफार और बाल-शिक्षा

डरबन में जो घर बनाया था उसमें भी कितने ही फेर-फार कर डाले थे। पर वहाँ खर्च बहुत रक्खा था। फिर भी झुकाव सादगी की तरफ था। परन्तु जोहान्सबर्ग में सर्वोदय के आदर्श और विचारों ने बहुत परिवर्तन कराया।

एक बैरिस्टर के घर में जितनी सादगी रक्खी जा सकती थी उतनी तो रक्खी ही गई थी; फिर भी कितनी ही सामग्री के बिना काम चलाना कठिन था। सच्ची सादगी तो मन की बढ़ी। हर काम हाथ से करने का शौक बढ़ा और उसमें बालकों को भी शामिल करने का उद्योग किया गया।

बाजार से रोटी (डबलरोटी) खरीदने के बदले घर में हाथ से बिना खमीर की, क्यूने की बताई पद्धति से, बनाना शुरू किया। ऐसी रोटी में मिल का आटा काम नहीं दे सकता। फिर मिल के आटे के बजाय हाथ का आटा इस्तेमाल करने में सादगी, तन्दुरुस्ती और धन सबकी अधिक रक्षा होती थी। इसलिए ७ पौण्ड खर्च करके हाथ से आटा पीसने की एक चक्की खरीदी। इसका पहिया भारी था। इसलिए एक को दिक्कत होती थी और दो आदमी आसानी से चला सकते थे। चक्की चलाने का काम खासकर पोलक, मैं और बच्चे करते थे। कभी-कभी कस्तूरबाई भी आजाती। प्राय: वह उस समय रसोई करने में लगी रहती। श्रीमती पोलक के आने पर वह भी उसमें जुट जाती। यह कसरत बालकों के लिए बहुत अच्छी साबित हुई। उनसे मैंने यह अथवा दूसरा काम कभी जबरदस्ती नहीं करवाया। परंतु वे एक खेल समझ कर उसका पहिया घुमाते रहते। थक जाने पर पहिया छोड़ देने की उन्हें छुट्टी थी। मैं नहीं कह सकता क्या बात है कि क्या बालक और क्या दूसरे लोग, जिनका परिचय हम आगे करेंगे, सबने मुझे तो हमेशा बहुत ही काम दिया है।

यह नहीं कि मन्द और ढीठ लड़के मेरे नसीब मे न हो परंतु इस युग के ऐसे थोड़े ही बालक मुझे याद पड़ते जिन्होंने उस समय कहा हो, 'अब तो हम थक गये।'

घर साफ रखने के लिए एक नौकर था। वह कुटुम्बी की तरह रहता था और बड़े लोग उसके काम में पूरी-पूरी मदद करते थे। पाखाना उठा ले जाने के लिए म्युनिसिपैलिटी का नौकर आता था। परन्तु पाखाने का कमरा साफ रखना, बैठक धोना वगैरा काम नौकर से नहीं लिया जाता था और न इसकी आशा ही रक्खी जाती थी। यह काम हम लोग खुद करते, क्योंकि उसमें भी बच्चों को तालीम मिलती थी। इसका फल यह हुआ कि मेरे किसी भी लड़के को ठेठ से ही पाखाना साफ करने की घिन न रही और आरोग्य के सामान्य नियम भी वे सहज ही सीख गये हैं। जोहान्सबर्ग में कोई बीमार तो शायद ही पड़ते, परन्तु यदि कोई बीमार होता तो उसकी सेवा आदि में बालक अवश्य शामिल होते और वे इस काम को बड़ी खुशी से करते। यह तो नहीं कह सकते कि उनके अक्षर-ज्ञान अर्थात् पुस्तकी शिक्षा को मैंने कोई परवाह नहीं की; परन्तु हाँ, मैंने उसका त्याग करने में कुछ संकोच नहीं किया। इस कमी के लिए मेरे लड़के मेरी शिकायत कर सकते हैं और कई बार उन्होंने अपना असन्तोष प्रदर्शित भी किया है। मैं मानता हूँ कि उसमें कुछ अंश तक मेरा दोष है। उन्हें पुस्तकी शिक्षा देने की इच्छा मुझे बहुत हुआ करती, कोशिश भी करता, परन्तु इस काम में हमेशा कुछ न-कुछ विघ्न आ खड़ा होता। उनके लिए घर पर

दूसरी शिक्षा का प्रबन्ध नही किया था। इसलिए मैं उन्हें अपने साथ पैदल दफ्तर ले जाता। दफ्तर ढाई मील था। इसलिए सुबह-शाम मिलकर पाँच मील की कसरत उनको और मुझे हो जाया करती। रास्ते चलते हुए उन्हें कुछ सिखाने की कोशिश करता। पर वह भी तभी जब दूसरे कोई साथ चलनेवाले न होते। दफ्तर में मवक्किलो और मुन्शियों के सम्पर्क मे वे आते, मैं पढ़ा देता था तो कुछ पढ़ते, इधर-उधर घूमते, बाजार से कोई सामान-सौदा लाना हो तो लाते। सबसे जेठे हरिलाल को छोड़कर सब बच्चे इसी तरह परवरिश पाये। हरिलाल देश में रह गया था। यदि मैं अक्षर-ज्ञान के लिए एक घण्टा भी नियमित रूप से दे पाता तो मैं मानता कि उन्हें आदर्श शिक्षण मिला है। किन्तु मैं यह निश्चय न रख सका, इसका दु:ख उनको और मुझको रह गया है। सबसे बड़े बेटे ने तो अपने जी की जलन मेरे तथा सर्व-साधारण के सामने प्रकट की है। दूसरों ने अपने हृदय की उदारता से काम लेकर, इस दोष को अनिवार्य समझकर उसको सहन कर लिया है। पर इस कमी के लिए मुझे पछतावा नहीं होता और यदि कुछ है भी तो इतना ही कि मैं एक आदर्श पिता न साबित हुआ। परन्तु यह मेरा मत है कि मैंने अक्षर-ज्ञान की आहुति भी लोक-सेवा के लिए दी है। हो सकता है कि उसके मूल में अज्ञान हो, पर मैं इतना कह सकता हूँ कि वह सद्भावपूर्ण थी। उनके

चरित्र और जीवन के निर्माण करने के लिए जो-कुछ उचित और आवश्यक था, उसमें मैंने कोई कसर नहीं रहने दी है और मैं मानता हूँ कि प्रत्येक माता-पिता का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है। मेरी इतनी कोशिश के बाद भी मेरे बालकों के जीवन में जो खामियाँ दिखाई दी हैं, मेरा यह दृढ़ मत है कि वे हम दम्पती की खामियों का प्रतिबिम्ब हैं।

बालकों को जिस तरह माँ-बाप की आकृति विरासत में मिलती है उसी तरह उनके गुण-दोष भी विरासत में मिलते हैं। हाँ, आसपास के वातावरण के कारण तरह-तरह की घटा-बढ़ी जरूर हो जाती है; परन्तु मूल-पूँजी तो वही रहती है, जो उन्हें बाप दादों से मिली होती है। यह भी मैंने देखा है कि कितने ही बालक दोषों की इस विरासत से अपने को बचा लेते हैं; पर यह तो आत्मा का मूल स्वभाव है। उसकी बलिहारी है।

मेरे और पोलक के दरमियान इन लड़कों के अंग्रेजी-शिक्षण के विषय में गरमागरम बातचीत होती रही है। मैंने शुरू से ही यह माना है कि जो हिन्दुस्तानी माता-पिता अपने बालकों को बचपन से ही अंग्रेजी पढ़ना और बोलना सिखा देते हैं वे उनका और देश का द्रोह करते हैं। मेरा यह भी मत है कि इससे बालक अपने देश की धार्मिक और सामाजिक विरासत से वंचित रह जाते हैं और उस देश की और जगत् की सेवा करने के कम योग्य

अपने को बनाते हैं। इस कारण मैं हमेशा जान-बूझकर बालकों के साथ गुजराती में ही बातचीत करता। पोलक को यह पसन्द न आया। वह कहते—आप बालकों के भविष्य को बिगाड़ते हैं। वह मुझे बड़े आग्रह और प्रेम से समझाते कि अंग्रेजी जैसी व्यापक भाषा को यदि बच्चे बचपन से ही सीख लें तो संसार में जो आज जीवन-संघर्ष चल रहा है उसकी एक बड़ी 'मंजिल' वे आज सहज ही में तय कर लेंगे। मुझे यह दलील न पटी। अब मुझे यह याद नहीं पड़ता कि अन्त को मेरा जवाब उन्हें जँच गया या मेरी हठ को देखकर वह खामोश हो रहे। कोई २० बरस पहले की यह बातचीत है। फिर मेरे उस समय के विचार अनुभव से और भी दृढ़ हो गये हैं और यद्यपि मेरे बालक अक्षर-ज्ञान मे कच्चे रह गये हों, फिर भी उन्हे मातृ-भाषा का जो सामान्य ज्ञान सहज ही मिल गया है उससे उनको और देश को लाभ ही हुआ है और आज वे परदेशी जैसे नहीं हो रहे हैं। वे दुभाषिया तो आसानी से हो गये थे। क्योंकि बड़े अंग्रेज-मित्र-मण्डल के सहवास में आने से और ऐसे देश में रहने से जहाँ अंग्रेजी विशेष रूप से बोली जाती है, वे अंग्रेजी बोलना और मामूली लिखना सीख गये थे।

जुलू बलवा

घर बनाकर बैठने के बाद जमकर एक जगह बैठना मेरे नसीब में लिखा ही नहीं। जोहान्सबर्ग में जमाव जमने लगा था कि एक अकल्पित घटना हो गई। यह समाचार आये कि जुलू लोगों ने बलवा खड़ा कर दिया। मुझे जुलू लोगों से कोई दुश्मनी नहीं थी। उन्होंने एक भी हिन्दुस्तानी को नुकसान नहीं पहुँचाया था। मुझे खुद बलवे के विषय में भी सन्देह था। परन्तु मैं उस समय अंग्रेजी सल्तनत को संसार के लिए कल्याण-कारी मानता था। मैं हृदय से उसका वफ़ादार था। उसका क्षय मैं नहीं चाहता था। इसलिए बल-प्रदर्शन-

विषयक नीति-अनीति के विचार मुझे रोक नहीं सकते थे। नेटाल पर आपत्ति आवे तो उसके पास रक्षा के लिए स्वयं-सेवक सेना थी और आपत्ति के समय उसमें जरूरत के लायक और भरती भी हो सकती थी। मैंने अखबारों में पढ़ा कि स्वयं-सेवक सेना इस बलवे को मिटाने के लिए चल पड़ी थी।

मैं अपने को नेटाल-वासी मानता था और नेटाल के साथ मेरा निकट सम्बन्ध तो था ही। इसलिए मैंने वहाँ के गवर्नर को पत्र लिखा कि यदि जरूरत हो तो मैं घायलों की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए हिन्दुस्तानियों की एक टुकड़ी लेकर जाने को तैयार हूँ। गवर्नर ने तुरंत ही इसको स्वीकार कर लिया। मैंने अनुकूल उत्तर की अथवा इतनी जल्दी उत्तर आजाने की आशा नहीं की थी। फिर भी यह पत्र लिखने के पहले मैंने अपना इन्तजाम करही लिया था। यह तय किया था कि यदि गवर्नर हमारे प्रस्ताव को स्वीकार करलें तो जोहान्सबर्ग का घर तोड़ दें। पोलक एक अलग छोटा घर लेकर रहें और कस्तूरबाई फिनिक्स जाकर रहें। कस्तूरबाई इस योजना से पूर्ण सहमत हुईं। ऐसे कामों में उसकी तरफ से कभी रुकावट आने का स्मरण मुझे नहीं होता। गवर्नर का जवाब आते ही मैंने मकान-मालिक को घर खाली करने का एक महीने का बाकायदा नोटिस दे दिया। कुछ सामान फिनिक्स गया और कुछ पोलक के पास रह गया।

डरबन पहुँचकर मैंने आदमी माँगे। बहुत लोगों की जरूरत न थी। हम चौबीस आदमी तैयार हुए। उनमें मेरे अलावा चार गुजराती थे, शेष मदरास-प्रान्त के गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानी थे और एक पठान था।

मुझे औषधि-विभाग के मुख्य अधिकारी ने इस टुकड़ी में 'सारजन्ट मेजर' का अस्थायी पद दिया और मेरे पसन्द किये दूसरे दो सज्जनों को सारजन्ट की और एक को 'कारपोरल' की पदवियाँ दीं। वर्दी भी सरकार की तरफ से मिली। इसका कारण यह था कि एक तो काम करनेवालों के आत्म-सम्मान की रक्षा हो, दूसरे काम सुविधा-पूर्वक हो, और तीसरे ऐसी पदवी देने का वहाँ रिवाज भी था।

इस टुकड़ी ने छः सप्ताह तक सतत सेवा की। 'बलवे' के स्थल पर जाकर मैंने देखा कि वहाँ 'बलवे' जैसा कुछ नहीं था। कोई सामना करता हुआ दिखाई नहीं पड़ा। उसे 'बलवा' मानने का कारण यह था कि एक जुलू सरदार ने जुलू लोगों पर बैठाये नये कर को न देने की सलाह उन्हें दी थी और एक सारजन्ट को जो वहाँ कर वसूल करने के लिए गया था, काट डाला था। जो हो; मेरा हृदय तो इन जुलुओं की तरफ था और अपने छावनी पर पहुँचने पर जब हमें खास करके जुलू घायलों ही की शुश्रूषा का काम दिया गया तब तो मुझे बड़ी ही खुशी हुई। उस

डाक्टर-अधिकारी ने हमारी इस सेवा का स्वागत करते हुए कहा—"गोरे लोग इन घायलों को सेवा करने के लिए तैयार नहीं होते। मैं अकेला क्या करता ? इनके घाव खराब हो रहे हैं। आप आ गये, यह अच्छा हुआ। इसमें इन निरपराध लोगों पर ईश्वर की कृपा ही समझता हूँ।" यह कह कर मुझे पट्टियाँ और जन्तु-नाशक पानी दिया और उन घायलों के पास ले गये। घायल देखकर बड़े आनन्दित हुए। गोरे सिपाही जंगले में से झाँक झाँक कर हमको घाव धोने से रोकने की चेष्टा करते और हमारे न सुनने पर वे ज़ुलू लोगों को जो बुरी-बुरी गालियाँ देते उन्हें सुन कर हमें कानों में अँगुलियाँ देनी पड़तीं।

धीरे-धीरे इन गोरे सिपाहियों के साथ भी मेरा परिचय हुआ और फिर उन्होंने मुझे रोकना बन्द कर दिया। इस सेना में कर्नल स्पाक्स और कर्नल वायली थे, जिन्होंने १८९६ में मेरा घोर विरोध किया था। वे मुझे इस काम में सम्मिलित देख कर चकित हो गये। मुझे खास तौर पर बुला कर उन्होंने धन्यवाद दिया और जनरल मेकेन्ज़ी के पास ले जाकर उनसे मेरी मुलाकात करवाई।

पाठक यह न समझ लें कि ये लोग फौज में एक पेशे के तौर पर काम करते थे। कर्नल वायली का पेशा था वकालत। कर्नल स्पाक्स कसाई-खाने के एक प्रसिद्ध मालिक थे। जनरल मेकेन्ज़ी

नेटाल के एक प्रसिद्ध किसान थे। ये सब स्वयं-सेवक थे और स्वयं-सेवक बन कर ही उन्होंने सैनिक शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था।

जिन रोगियों की शुश्रूषा का काम हमें सौंपा गया था, वे लड़ाई में घायल लोग न थे। उनमें एक हिस्सा तो था उन कैदियों का जो शुबह पर पकड़े गये थे। जनरल ने उन्हें कोड़े मारने की सज़ा दी थी। इससे उन्हे जख्म पड़ गये थे और उनका इलाज न होने के कारण पक गये थे। दूसरा हिस्सा था उन लोगों का जो जुलू-मित्र कहलाते थे। ये मित्रता-दर्शक चिन्ह पहने हुए थे। फिर भी इन्हे सिपाहियों ने भूल से जख्मी कर दिया था।

इसके उपरान्त खुद मुझे गोरे सिपाहियों के लिए दवा लाने का और उन्हे दवा देने का काम सौंपा गया था। पाठको को याद होगा कि डाक्टर बूथ के छोटे से अस्पताल मे मैंने एक साल तक इसकी तालीम हासिल की थी। इसलिए यहाँ मुझे दिक्कत न पड़ी। इसकी बदौलत बहुतेरे गोरों से मेरा परिचय हो गया।

परन्तु युद्ध-स्थल पर गई हुई सेना एक ही जगह नही पड़ी रहती। जहाँ-जहाँ से खतरे के समाचार आते वहीं जा दौड़ती। उनमें बहुतेरे तो घुड़-सवार थे।

हमारी फौज अपने पड़ाव से चली। उसके पीछे-पीछे हम

भी डोलियाँ कंधों पर रख कर चले। दो-तीन बार तो एक दिन में चालीस मील तक चलने का प्रसङ्ग आगया था। यहाँ भी हमें तो बस वही ईश्वर का ही काम मिला। जो जुलू-मित्र भूल से घायल हो गये थे उन्हें डोलियों में उठाकर पड़ाव पर लेजाना था और वहाँ उनकी शुश्रूषा करनी थी।

हृदय-मन्थन

'जुलू-विद्रोह' में मुझे बहुतेरे अनुभव हुए और विचार करने की बहुत सामग्री मिली। बोअर-संग्राम में युद्ध की भयंकरता मुझे इतनी नहीं मालूम हुई जितनी इस बार। यह लड़ाई नहीं, पर मनुष्य का शिकार था। अकेले मेरा ही नहीं, बल्कि दूसरे अँग्रेजों का भी यही खयाल था। सुबह होते ही हमें उन सैनिकों की गोले-बारी की आवाज पटाखे की तरह सुनाई पड़ती, जो गाँवों में जाकर गोलियाँ झाड़ते।

इन शब्दों को सुनना और ऐसी स्थिति में रहना मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ। परन्तु मैं इस कड़वी घूँट को पीकर रह गया और

ईश्वर-कृपा से काम भी जो मुझे मिला वह भी ज़ुलू लोगों की सेवा का ही। मेरा यह तो विश्वास हो गया था कि यदि हमने इस काम के लिए कदम न बढ़ाया होता तो दूसरे कोई इसके लिए तैयार न होते। इस बात को स्मरण करके मैंने अन्तरात्मा को शान्त किया।

इस विभाग में आबादी बहुत कम थी। पहाड़ों और कन्दराओं में भले, सादे और जंगली कहलानेवाले ज़ुलू लोगों के कूबों (झोंपड़ों) के सिवा वहाँ कुछ नहीं था। इससे वहाँ का दृश्य बड़ा भव्य दिखाई पड़ता था। मीलों तक जब हम बिना बस्ती के प्रदेश में लगातार किसी घायल को लेकर अथवा खाली हाथ मंजिल तय करते तब मेरा मन तरह-तरह के विचारों में डूब जाता।

यहाँ ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व हुए। अपने साथियों के साथ भी मैंने उसकी चर्चा की। हाँ, यह बात अभी मुझे स्पष्ट नहीं दिखाई देती थी कि ईश्वर-दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। परन्तु यह बात मैं अच्छी तरह जान गया कि सेवा के लिए उसकी बहुत आवश्यकता है। मैं जानता था कि इस प्रकार की सेवायें मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेंगी और यदि मैं भोग-विलास में, प्रजोत्पत्ति में और सन्तति-पालन में लगा रहा तो मैं पूरी तरह सेवा न कर सकूँगा। मैं दो घोड़े पर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी इस समय गर्भवती होती तो

मैं निश्चिन्त होकर आज इस सेवा-कार्य में नहीं कूद सकता था। यदि ब्रह्मचर्य का पालन न किया जाय तो कुटुम्ब-वृद्धि मनुष्य के उस प्रयत्न की विरोधक हो जाय जो उसे समाज के अभ्युदय के लिए करना चाहिए; पर यदि विवाहित होकर भी ब्रह्मचर्य का पालन हो सके तो कुटुम्ब-सेवा समाज-सेवा की विरोधक नहीं हो सकती। मैं इन विचारों के भँवर में पड़ गया और ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेने के लिए कुछ अधीर हो उठा। इन विचारों से मुझे एक प्रकार का आनन्द हुआ और मेरा उत्साह बढ़ा। इस समय कल्पना ने सेवा का क्षेत्र बहुत विशाल कर दिया।

ये विचार अभी मैं अपने मन में गढ़ रहा था और शरीर को कस ही रहा था कि इतने में कोई यह अफवाह लाया कि 'बलवा' शान्त हो गया है और अब हमें छुट्टी मिल जायगी। दूसरे ही दिन हमें घर जाने का हुक्म हुआ और थोड़े ही दिन बाद हम सब अपने-अपने घर पहुँच गये। इसके थोड़े ही दिनों बाद गवर्नर ने उस सेवा के निमित्त मेरे नाम धन्यवाद का एक खास पत्र भेजा।

फिनिक्स में पहुँचकर मैंने ब्रह्मचर्य-विषयक अपने विचार बड़ी तत्परता से छगनलाल, मगनलाल, वेस्ट इत्यादि के सामने रक्खे। सबको वे पसन्द आये। सबने ब्रह्मचर्य की आवश्यकता समझी। परन्तु सबको उसका पालन बड़ा कठिन मालूम हुआ। कितनोंही

ने प्रयत्न करने का साहस किया। और मैं मानता हूँ कि कुछ तो उसमें अवश्य सफल हुए हैं।

मैंने तो उसी समय व्रत ले लिया कि आज से जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। इस व्रत का महत्व और उसकी कठिनता मैं उस समय पूरी तरह न समझ सका था। कठिनाइयों का अनुभव तो मैं आज तक भी करता रहता हूँ। साथ ही उस व्रत का महत्व भी दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्य-हीन जीवन मुझे शुष्क और पशुवत् मालूम होता है। पशु स्वभावतः निरंकुश है। परन्तु मनुष्यत्व इसी बात में है कि वह स्वेच्छा से अपने को अंकुश में रक्खे। ब्रह्मचर्य की जो स्तुति धर्मग्रन्थों में की गई है, उसमें पहले मुझे अत्युक्ति मालूम होती थी। परन्तु अब दिन दिन यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह बहुत ही उचित और अनुभव-सिद्ध है।

वह ब्रह्मचर्य जिसके ऐसे महान फल प्रकट होते हैं, कोई हँसी खेल नहीं है, केवल शारीरिक वस्तु नहीं है।

शारीरिक अंकुश से तो ब्रह्मचर्य का श्रीगणेश होता है। परन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्य में तो विचार तक की मलिनता न होनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचारी स्वप्न में भी बुरे विचार नहीं करता। जब तक बुरे सपने आया करते हैं, स्वप्न में भी विकार प्रबल होता रहता है तबतक यह मानना चाहिए कि अभी ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

मुझे तो कायिक-ब्रह्मचर्य के पालन में भी महा-कष्ट सहना पड़ा। इस समय तो यह कह सकता हूँ कि मैं अपने ब्रह्मचर्य के विषय में निर्भय हो गया हूँ; परन्तु अपने विचारों पर अभी पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सका हूँ। मैं नहीं समझता कि मेरे प्रयत्न में कहीं कसर हो रही है; परन्तु मैं अबतक नहीं जान सका कि ऐसे-ऐसे विचार जिन्हें हम नहीं चाहते हैं, कहाँ से और किस तरह हम पर चढ़ाई कर देते हैं। हाँ, इस बात में मुझे कुछ भी संदेह नहीं है कि विचारों को भी रोक लेने की कुञ्जी मनुष्य के पास है। पर अभी तो मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि वह चाबी प्रत्येक को अपने लिए खोजनी पड़ती है। महापुरुष जो अनुभव अपने पीछे छोड़ गये हैं वे हमारे लिए मार्ग-दर्शक हैं, उन्हें हम पूर्ण नहीं कह सकते। पूर्णता मेरी समझ में केवल प्रभु-प्रसादी है और इसीलिए भक्त लोग अपनी तपश्चर्या से पुनीत करके राम-नामादि मंत्र हमारे लिए छोड़ गये हैं। मुझे विश्वास होता है कि अपने को पूर्ण-रूप से ईश्वरार्पण किये बिना विचारों पर पूरी विजय कभी नहीं मिल सकती। समस्त धर्म-पुस्तकों में मैंने ऐसे वचन पढ़े हैं और अपने ब्रह्मचर्य के सूक्ष्म-तम पालन के प्रयत्न के सम्बन्ध में मैं उसकी सत्यता का अनुभव भी कर रहा हूँ।

परन्तु मेरी इस छटपटाहट का थोड़ा-बहुत इतिहास अगले

अध्यायों में आने ही वाला है, इसलिए इस प्रकरण के अन्त में तो इतना ही कह देता हूँ कि अपने उत्साह के आवेश में पहले-पहल तो मुझे इस व्रत का पालन सहल मालूम हुआ। परन्तु एक बात तो मैंने व्रत लेते ही शुरू करदी थी। पत्नी के साथ एक-शय्या अथवा एकान्त-सेवन का त्याग कर दिया था। इस तरह इच्छा या अनिच्छा से जिस ब्रह्मचर्य का पालन मैं १९०० से करता आया हूँ उसका आरम्भ व्रत के रूप में १९०६ के मध्य में हुआ।

सत्याग्रह की उत्पत्ति

जोहान्सबर्ग में मेरे लिए ऐसी रचना तैयार हो रही थी कि मेरी यह एक प्रकार की आत्म शुद्धि मानों सत्याग्रह के ही निमित्त हुई हो। ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेने तक मेरे जीवन की तमाम मुख्य घटनायें मुझे छिपे-छिपे सत्याग्रह के लिए ही तैयार कर रही थीं, ऐसा अब दिखाई पड़ता है।

'सत्याग्रह' शब्द की उत्पत्ति होने के पहले सत्याग्रह वस्तु की उत्पत्ति हुई है। जिस समय उसकी उत्पत्ति हुई उस समय तो मैं खुद भी नहीं जान सका कि यह चीज़ दरअसल क्या है।

गुजराती में हम उसे 'पैसिव रेजिस्टेन्स' इस अँग्रेजी नाम

से पहचानने लगे, पर जब एक गोरों की सभा में मैंने देखा कि 'पसिव रेजिस्टेन्स' का सकुचित अर्थ किया जाता है, वह निर्बल का हथियार समझा जाता है, उसमें द्वेष के अस्तित्व की भी सम्भावना है और उसका अन्तिम रूप हिंसा में परिणत हो सकता है, तब मुझे उस शब्द का विरोध करना पड़ा और भारतीयों के संग्राम का सच्चा रूप लोगों को समझाना पड़ा—और उस समय हिन्दुस्तानियों को अपने संग्राम का परिचय कराने के लिए एक नया शब्द गढ़ने की जरूरत पड़ी।

परन्तु मुझे इसके लिए कोई स्वतंत्र शब्द सूझ नहीं पड़ता था। अतएव उसके नाम के लिए एक इनाम रक्खा गया और 'इंडियन ओपिनियन' के पाठकों में उसके लिए एक होड़ शुरू कराई। इसके फल-स्वरूप मगनलाल गाँधी ने सत् + आग्रह = 'सदाग्रह' शब्द बना कर भेजा। उन्हें इनाम मिला, परन्तु सदाग्रह शब्द को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैंने बीच में 'य' जोड़ कर सत्याग्रह शब्द बनाया, और फिर इस नाम से वह संग्राम पुकारा जाने लगा।

इस युद्ध के इतिहास को दक्षिण आफ्रिका के मेरे जीवन का और विशेष करके मेरे सत्य-के प्रयोगों का इतिहास कह सकते हैं। इस युद्ध का इतिहास मैंने बहुत-कुछ यरोड़ा-जेल में लिख डाला था और शेषांश बाहर निकलने पर पूरा कर डाला। वह सब 'नव-

जीवन' में क्रमशः प्रकाशित हुआ है और बाद को "दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास" नाम से पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित हुआ है। *

जिन सज्जनों ने उसे न पढ़ा हो उन्हें मैं पढ़जाने की सिफारिश करता हूँ। उस इतिहास में जिन बातों का उल्लेख हो चुका है उनको छोड़कर दक्षिण आफ्रिका के मेरे जीवन के कुछ खानगी प्रसंग जो उसमें रह गये हैं वही इन अध्यायों में देने का विचार करता हूँ और उनके पूरा हो जाने के बाद ही हिन्दुस्तान के प्रयोगों का परिचय पाठकों को कराने की इच्छा रखता हूँ।

इसलिए इन प्रयोगों के प्रसङ्गों के क्रम को जो सज्जन अविच्छिन्न रखना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे अब अपने सामने दक्षिण आफ्रिका के इतिहास के उन अध्यायों को रख लें।

* इसका हिन्दी-अनुवाद सस्ता-साहित्य-मण्डल से और अँग्रेज़ी श्रीगणेशन द्वारा मद्रास से प्रकाशित हो चुका है। —अनुवादक

भोजन के और प्रयोग

अब मुझे फ़िक्र तो यह लगी कि मन, कर्म, वचन से ब्रह्मचर्य का पालन किस प्रकार हो, और दूसरी यह कि सत्याग्रह-संग्राम के लिए अधिक से अधिक समय किस तरह बचाया जाय। इन दो फ़िक्रों ने मुझे अपने भोजन में अधिक संयम और अधिक परिवर्तन की प्रेरणा की। फिर जो परिवर्तन मैं पहले मुख्यतः आरोग्य की दृष्टि से करता था वे अब धार्मिक दृष्टि से होने लगे।

इसमें उपवास और अल्पाहार ने अधिक स्थान लिया। जिनके अन्दर विषय-वासना रहती है उनकी जीभ बहुत स्वाद-लोलुप रहती है। यही स्थिति मेरी भी थी। जननेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय

पर कब्ज़ा करते हुए मुझे बहुत विडम्बनायें सहनी पड़ी हैं और अब भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि इन दोनों पर मैंने पूरी विजय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने को अत्याहारी माना है। मित्रों ने जिसे मेरा संयम माना है उसे मैंने कभी वैसा नहीं माना। जितना अंकुश मैं रख सका हूँ उतना यदि न रख सका होता तो मैं पशु से भी गया-बीता होकर अबतक कभी का नाश को प्राप्त हो गया होता। मैं अपनी खामियों को ठीक-ठीक जानता हूँ और कह सकता हूँ कि उन्हें दूर करने के लिए मैंने भारी प्रयत्न किये हैं। और उसीसे मैं इतने साल तक इस शरीर को टिका सका हूँ और उससे कुछ काम ले सका हूँ।

इस बात का भान होने के कारण और इस प्रकार की संगति अनायास मिल जाने के कारण मैंने एकादशी के दिन फलाहार अथवा उपवास शुरू किये, जन्माष्टमी इत्यादि दूसरी तिथियों को भी पालन करने लगा। परन्तु संयम की दृष्टि से फलाहार और अन्नाहार में मुझे बहुत भेद न दिखाई दिया। अनाज के नाम से हम जिन वस्तुओं को जानते हैं उनमें से जो रस मिलता है वही फलाहार से भी मिलता है और आदत पड़ने के बाद तो मैंने देखा कि उनसे अधिक ही रस मिलता है। इस कारण इन तिथियों के दिन सूखा उपवास अथवा एकासने* को अधिक महत्व

* 'एकासना'—एक बार भोजन करना।

देता गया। फिर प्रायश्चित्त आदि का भी कोई निमित्त मिल जाता तो उस दिन भी एकासना कर डालता। इससे मैंने यह अनुभव किया कि शरीर के अधिक स्वच्छ हो जाने से रसों की वृद्धि हुई। भूख बढ़ी और मैंने देखा कि उपवासादि जहाँ एक ओर संयम के साधन हैं वहाँ दूसरी ओर वे भोग के साधन भी बन सकते हैं। यह ज्ञान हो जाने पर इसके समर्थन में उसी प्रकार के मेरे तथा दूसरों के कितने ही अनुभव हुए हैं। मुझे तो यद्यपि अपना शरीर अधिक अच्छा और सुगठित बनाना था तथापि अब तो मुख्य हेतु था संयम को साधना और रसों को जीतना। इसलिए भोजन की चीजों में और उनकी मात्रा में परिवर्तन करने लगा; परन्तु रस तो हाथ धोकर पीछे पड़े रहते। एक वस्तु को छोड़कर जब उसकी जगह दूसरी वस्तु लेता तो उसमें से भी नये और अधिक रस उत्पन्न होने लगते। इन प्रयोगों में मेरे साथ और साथी भी थे। हरमान केलनबेक इनमें मुख्य थे। इनका परिचय दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में दे चुका हूँ। इसलिए फिर यहाँ देने का इरादा छोड़ दिया है। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवास में, एकासने में एवं दूसरे परिवर्तनों में मेरा साथ दिया था। जब हमारे आन्दोलन का रंग खूब जमा था तब तो मैं उन्हींके घर में रहता था। हम दोनों अपने इन परिवर्तनों के विषय में चर्चा करते और नये परिवर्तनों में से पुराने रसों से भी

अधिक रस पीते। उस समय तो ये संवाद बड़े मीठे लगते थे। यह नहीं मालूम होता था कि उनमें कोई बात अनुचित होती थी। पर अनुभव ने सिखाया कि ऐसे रसों में गोते खाना भी अनुचित था। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को रस के लिए नहीं बल्कि शरीर को कायम रखने के लिए ही भोजन करना चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय जब केवल शरीर के और शरीर के द्वारा आत्मा के दर्शन के ही लिए काम करती है तब उसके रस शून्यवत् हो जाते हैं। और तभी कह सकते हैं कि वह स्वाभाविक रूप में अपना काम करती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करने के लिए जितने प्रयोग किये जायँ उतने ही कम हैं और ऐसा करते हुए यदि अनेक शरीरों की आहुति देना पड़े तो भी हमें उसकी परवा न करनी चाहिए। अभी आजकल उलटी गंगा बह रही है। नाशवान शरीर को सुशोभित करने, उसकी आयु को बढ़ाने के लिए हम अनेक प्राणियों का बलिदान करते हैं। पर यह नहीं समझते कि उससे शरीर और आत्मा दोनों का हनन होता है। एक रोग को मिटाते हुए, इन्द्रियों के भोगों को भोगने का उद्योग करते हुए, हम नये-नये रोग पैदा करते हैं और अन्त को भोग भोगने की शक्ति भी खो बैठते हैं। एवं सबसे बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह है कि इस क्रिया को अपनी आँखों के सामने होते देखते हुए भी हम इसे देखना नहीं चाहते।

भोजन के प्रयोगों का अभी मैं और वर्णन करना चाहता हूँ; इसलिए उसका उद्देश्य और तद्-विषयक मेरी विचार-सरणि पाठकों के सामने रख देना आवश्यक था।

पत्नी की दृढ़ता

कस्तूरबाई पर तीन घातें हुईं और तीनों में वह घरेलू इलाज से बच गईं। पहली बात तो तब की है जब सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था। उसको बार-बार रक्तस्राव हुआ करता। एक डाक्टर मित्र ने नश्तर लगवाने की सलाह दी थी। बड़ी आनाकानी के बाद पत्नी नश्तर के लिए राजी हुईं। शरीर बहुत क्षीण हो गया था। डाक्टर ने बिना ही बेहोश किये नश्तर लगाया। उस समय उसे दर्द तो हो रहा था, पर जिस धीरज से कस्तूरबाई ने उसे सहन किया है उसे देखकर मैं दांतों-तले अँगुली देने लगा। नश्तर अच्छी तरह लग गया। डाक्टर और उनकी धर्मपत्नी ने कस्तूरबाई की खूब शुश्रूषा की।

यह घटना डरबन की है। दो या तीन दिन बाद डाक्टर ने मुझे निश्चिन्त होकर जोहान्सबर्ग से जाने की छुट्टी देदी। मैं चला भी गया. पर थोड़े ही दिन में समाचार मिले कि कस्तूरबाई का शरीर बिलकुल सिमटता नहीं है और वह बिछौने से उठ बैठ भी नहीं सकती। एक बार बेहोश भी हो गई थी। डाक्टर जानते थे कि मुझसे पूछे बिना कस्तूरबाई को शराब या मांस दवा में अथवा भोजन में नहीं दिया जा सकता। सो उन्होंने मुझे जोहान्सबर्ग टेलीफोन किया—

"आपकी पत्नी को मैं मांस का शोरबा और 'बीफटी' देने की ज़रूरत समझता हूँ। मुझे इजाजत दीजिए।"

मैंने जवाब दिया, "मैं तो इजाजत नहीं दे सकता। परन्तु कस्तूरबाई आज़ाद है। उसकी हालत पूछने लायक हो तो पूछ देखिए और वह लेना चाहे तो जरूर दीजिए।"

"बीमार से ऐसी बातें नहीं पूछना चाहता। आप खुद यहाँ आ जाइए। जो चीजें मैं बताता हूँ उनके खाने की इजाजत यदि आप न दें तो आपकी पत्नी की जिन्दगी के लिए मैं जिम्मेवार नहीं हूँ।"

यह सुनकर मैं उसी दिन डरबन रवाना हुआ। डाक्टर से मिलने पर उन्होंने कहा—"मैंने तो शोरबा पिलाकर आपको टेलीफोन किया था।"

मैंने कहा—'डाक्टर, विश्वासघात है।'

'इलाज करते वक्त मैं दगा-वगा कुछ नहीं समझता। हम डाक्टर लोग ऐसे समय बीमार को या उसके रिश्तेदारों को धोखा देना पुण्य समझते हैं। हमारा धर्म तो है, जिस तरह हो सके रोगी को बचाना!' डाक्टर ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया।

यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। पर मैंने शान्ति धारण की। डाक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उनका और उनकी पत्नी का मुझपर बड़ा अहसान था। पर मैं उनके इस व्यवहार को बर्दाश्त करने के लिए तैयार न था।

'डाक्टर, अब साफ-साफ बातें कर लीजिए। बताइए, आप क्या करना चाहते हैं? मेरी पत्नी को बिना उसकी इच्छा के मांस नहीं देने दूँगा, उसके न लेने से यदि वह मरती हो तो इसे सहन करने के लिए मैं तैयार हूँ।'

डाक्टर बोले—'आपका यह ज्ञान मेरे घर नहीं चल सकता। मैं तो आपसे कहता हूँ कि आपकी पत्नी जबतक मेरे यहाँ है तबतक मैं मांस अथवा जो कुछ देना मुनासिब समझूँगा जरूर दूँगा। अगर आपको यह मंजूर नहीं है तो आप अपनी पत्नी को यहाँ से ले जाइए। अपने ही घर में मैं इस तरह उन्हें नहीं मरने दूँगा।"

"तो क्या आपका यह मतलब है कि मैं पत्नी को अभी ले जाऊँ?'

'मैं कहाँ कहता हूँ कि ले जाओ। मैं तो यह कहता हूँ कि मुझपर कोई शर्त न लादो तो हम दोनों ने इनकी जितनी सेवा हो सकेगी करेंगे और आप आराम से जाइए। जो यह सीधी-सी बात समझ में न आती हो तो मुझे मजबूरी से कहना होगा कि आप अपनी पत्नी को मेरे घर से ले जाइए।'

मेरा खयाल है कि मेरा पुत्र उस समय मेरे साथ था। उससे मैंने पूछा, तो उसने कहा—'हाँ, आपका कहना ठीक है। बा(माँ) को मांस कैसे दे सकते हैं?'

फिर मैं कस्तूरबाई के पास गया। वह बहुत कमजोर थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुःखदायी था। पर अपना धर्म समझकर मैंने ऊपर की बातचीत उसे थोड़े में समझा दी। उसने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया—'मैं मांस का शोरबा नहीं लूँगी। यह मनुष्य-देह बार-बार नहीं मिला करती। आपकी गोदी में मैं मर जाऊँ तो परवाह नहीं पर अपनी देह को मैं भ्रष्ट नहीं होने दूँगी।'

मैंने उसे बहुतेरा समझाया और कहा कि तुम मेरे विचारों के अनुसार चलने के लिए बाध्य नहीं हो। मैंने उसे यह भी बता दिया कि कितने ही अपने परिचित हिन्दू भी दवा के लिए शराब और मांस लेने में परहेज नहीं करते। पर वह अपनी बात से न डिगी और मुझसे कहा—'मुझे यहाँ से ले चलो।'

यह देखकर मैं बड़ा खुश हुआ। किन्तु ले जाते हुए बड़ी

चिन्ता हुई। पर मैंने तो निश्चय कर ही डाला और डाक्टर को भी पत्नी का निश्चय सुना दिया।

वह बिगड़कर बोले—'आप तो बड़े घातक पति मालूम होते हैं। ऐसी नाजुक हालत में उस बेचारी से ऐसी बात करते हुए आपको शरम नहीं मालूम हुई? मैं कहता हूँ कि आपकी पत्नी की हालत यहाँ से ले जाने लायक नहीं है। उनके शरीर की हालत ऐसी नहीं है कि जरा भी धक्का सहन कर सके। रास्ते में दम निकल जाय तो ताज्जुब नहीं। फिर भी आप हठ-धर्मी से न मानें तो आप जानें। यदि शोरबा न देने दें तो एक रात भी उन्हें मेरे घर में रखने का जिम्मा मैं नहीं लेता।'

रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था। स्टेशन दूर था। डरबन से फिनिक्स तक रेल-रास्ते और फिनिक्स से लगभग डेढ़ मील तक पैदल जाना था। खतरा पूरा-पूरा था। पर मैंने यही सोच लिया कि ईश्वर सब तरह मदद करेगा। पहले एक आदमी को फिनिक्स भेज दिया। फिनिक्स में हमारे यहाँ एक हैमक था। हैमक कहते हैं, जालीदार कपड़े की झोली अथवा पालने को। उसके सिरों को बाँस से बाँध देने पर बीमार उसमें आराम से झूला करता है। मैंने वेस्ट को कहलाया कि वह हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छः आदमियों को लेकर फिनिक्स स्टेशन पर आ जायँ।

जब दूसरी ट्रेन चलने का समय हुआ, तब मैंने रिक्शा मँगाई और उसमें उस भयंकर स्थिति में पत्नी को लेकर चल दिया।

पत्नी को हिम्मत दिलाने की मुझे जरूरत नहीं पड़ी, उलटा मुझीको हिम्मत दिलाते हुए उसने कहा—'मुझे कुछ नुकसान न होगा, आप चिन्ता न करें।'

इस ठठरी में वजन तो कुछ रही नहीं गया था। खाना पेट में जाता ही न था। ट्रेन के डब्बे तक पहुँचने के लिए स्टेशन के लम्बे-चौड़े प्लेटफार्म पर दूर तक चलकर जाना था, क्योंकि रिक्शा वहाँ तक पहुँच नहीं सकती थी। मैं उसे सहारा देकर डब्बे तक ले गया। फिनिक्स स्टेशन पर तो वह झोली आ गई थी, उसमें हम रोगी को आराम से घर तक ले गये। वहाँ केवल पानी के उपचार से धीरे-धीरे उसका शरीर पनपने लगा। फिनिक्स पहुँचने के दो-तीन दिन बाद एक स्वामीजी हमारे यहाँ पधारे। जब हमारी हठधर्मी की कथा उन्होंने सुनी, हमपर उनको बड़ी तरस आई और वह हम दोनों को समझाने लगे।

मुझे जहाँ तक याद पड़ता है, मणिलाल और रामदास भी उस समय मौजूद थे। जब स्वामीजी आये, स्वामीजी ने मांसाहार की निर्दोषता पर एक व्याख्यान झाड़ा; मनुस्मृति के श्लोक सुनाये। पत्नी के सामने जो इसकी बहस उन्होंने छेड़ी, वह मुझे अच्छा न मालूम हुआ; परन्तु शिष्टाचार की खातिर मैंने उसमें

दखल न दिया। मुझे मांसाहार के समर्थन में मनुस्मृति के प्रमाणों की आवश्यकता न थी। उनका पता मुझे था। मैं यह भी जानता था कि ऐसे लोग भी हैं जो उन्हें प्रक्षिप्त समझते हैं। यदि वे प्रक्षिप्त न हों तो भी अन्नाहार-संबन्धी मेरे विचार स्वतंत्र-रूप से बन चुके थे। पर कस्तूरबाई की तो श्रद्धा ही काम कर रही थी, वह बेचारी शास्त्रों के प्रमाणों को क्या जानती? उसके नजदीक तोपरम्परा-गत रूढ़ि ही धर्म था। लड़कों को अपने पिता के धर्म पर विश्वास था, इससे वे स्वामीजी के साथ विनोद करते जाते थे। अन्त को कस्तूरबाई ने यह कह कर इस बहस को बन्द कर दिया—

'स्वामीजी, आप कुछ भी कहिए, मैं मांस का शोरवा खाकर चंगी होना नहीं चाहती। अब बड़ी दया होगी, अगर आप मेरा सिर न खपावें। मैंने तो अपना निश्चय आपसे कह दिया। अब और बातें रह गई हों तो आप इन लड़कों के बाप से जाकर कीजिएगा।'

घर में सत्याग्रह

१९०८ में मुझे पहली बार जेल का अनुभव हुआ। इसमें मुझे यह बात मालूम हुई कि जेल में जो कितने ही नियम कैदियों से पालन कराये जाते हैं, वे एक संयमी को अथवा ब्रह्मचारी को स्वेच्छापूर्वक पालन करना चाहिए। * जैसे कि, कैदियों को सूर्यास्त के पहले पाँच बजे तक भोजन कर लेना चाहिए। उन्हें—फिर वे हबशी हों या हिन्दुस्तानी—चाय

---

* ये अनुभव हिन्दी में 'मेरे जेल के अनुभव' के नाम से प्रताप-प्रेस, कानपुर, से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। १९१६-१७ में मैंने इनका अनुवाद प्रताप-प्रेस के लिए किया था।—अनुवादक

न्या काफी न दी जाय, नमक खाना हो तो अलहदा लें, स्वाद के लिए कोई चीज न खिलाई जाय। जब मैंने जेल के डाक्टर से कैदियों के लिए 'करी पाउडर' माँगा और नमक रसोई पकाते वक्त ही डालने के लिए कहा, तो उन्होंने जवाब दिया कि 'आप लोग यहाँ स्वादिष्ट चीजें खाने के लिए नहीं आये हैं। आरोग्य के लिए 'करी पाउडर' की बिलकुल जरूरत नहीं। आरोग्य के लिए नमक चाहे ऊपर से लिया जाय, चाहे पकाते वक्त डाल दिया जाय, एक ही बात है।'

खैर, वहाँ तो बड़ी मुश्किल से हम लोग भोजन में आवश्यक परिवर्तन करा पाये थे, परन्तु संयम की दृष्टि से जब उनपर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि ये दोनों प्रतिबन्ध अच्छे ही थे। किसी की जबरदस्ती से नियमों का पालन करने से उसका फल नहीं मिलता। परन्तु स्वेच्छा से ऐसे प्रतिबन्ध का पालन किया जाय तो वह बहुत उपयोगी हो सकता है। अतएव जेल से निकलने के बाद मैंने तुरन्त इन बातों का पालन शुरू कर दिया। जहाँ तक हो सके चाय पीना बन्द कर दिया और शाम के पहले भोजन करने की आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो बैठी है।

परंतु ऐसी भी एक घटना घटी, जिसके बदौलत मैंने नमक भी छोड़ दिया था। यह क्रम लग-भग १० बरस तक नियमित

रूप से जारी रहा। अन्नाहार-संबन्धी कुछ पुस्तकों में मैंने पढ़ा था कि मनुष्य के लिए नमक खाना आवश्यक नहीं है, जो नमक नहीं खाता है आरोग्य की दृष्टि से उसे लाभ ही होता है। और मेरी तो यह भी कल्पना दौड़ गई थी कि ब्रह्मचारी को भी उससे लाभ होगा। जिसका शरीर निर्बल हो उसे दाल न खानी चाहिए, यह मैंने पढ़ा था और अनुभव भी किया था। परन्तु मैं उसी समय इन्हें छोड़ न सका था। क्योंकि दोनों चीजें मुझे प्रिय थीं।

नश्तर लगाने के बाद यद्यपि कस्तूरबाई का रक्तस्राव कुछ समय के लिए बन्द हो गया था, तथापि बाद को वह फिर जारी हो गया। अब की वह किसी तरह मिटाया न मिटा। पानी के इलाज बेकार साबित हुए। मेरे इन उपचारों पर पत्नी की बहुत श्रद्धा न थी, पर साथ ही तिरस्कार भी न था। दूसरा इलाज करने का भी उसे आग्रह न था, इसीलिए जब मेरे दूसरे उपचारों में सफलता न मिली, तब मैंने उसको समझाया कि दाल और नमक छोड़ दो। मैंने उसे समझाने की हद कर दी, अपनी बात के समर्थन में कुछ साहित्य भी पढ़कर सुनाया, पर वह नहीं मानती थी। अन्त को उसने झुंझला कर कहा—'दाल और नमक छोड़ने के लिए तो आपसे भी कोई कहे तो आप भी न छोड़ेंगे।'

इस जवाब को सुनकर, एक ओर जहाँ मुझे दुःख हुआ तहाँ दूसरी ओर हर्ष भी हुआ। क्योंकि इससे मुझे अपने प्रेम का परिचय देने का अवसर मिला। उस हर्ष में मैंने तुरंत कहा, 'तुम्हारा खयाल गलत है; मैं यदि बीमार होऊँ और मुझे यदि वैद्य इन चीजों को छोड़ने के लिए कहें तो जरूर छोड़ दूँ। पर ऐसा क्यों ? लो, तुम्हारे लिए मैं आज ही से दाल और नमक एक साल तक छोड़े देता हूँ। तुम छोड़ो या न छोड़ो; मैंने तो छोड़ दिया।'

यह देखकर पत्नी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी—'माफ करो, आपका मिजाज जानते हुए भी यह बात मेरे मुख से निकल गई। अब मैं तो दाल और नमक न खाऊँगी, पर आप अपना वचन वापस ले लीजिए। यह तो मुझे भारी सजा दे दी।'

मैंने कहा—'तुम दाल और नमक छोड़ दो तो बहुत ही अच्छा होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ ही होगा, परन्तु मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ वह नहीं टूट सकती। मुझे भी उससे लाभ ही होगा। हर किसी निमित्त से मनुष्य यदि संयम का पालन करता है तो इससे उसे लाभ ही होता है। इसलिए तुम इस बात पर जोर न दो। क्योंकि इससे मुझे भी अपनी आजमाइश कर लेने का मौका मिलेगा और तुमने जो

इनको छोड़ने का निश्चय किया है, उसपर दृढ़ रहने में भी तुम्हें मदद मिलेगी।' इतना कहने के बाद तो मुझे मनाने की आवश्यकता रह नहीं गई थी। 'आप तो बड़े हठी हैं, किसीका कहा मानना आपने सीखा ही नहीं' यह कहकर वह आँसू बहाती हुई चुप हो रही।

इसको मैं पाठकों के सामने सत्याग्रह के तौर पर पेश करना चाहता हूँ और मैं कहना चाहता हूँ कि मैं इसे अपने जीवन की मीठी स्मृतियों में गिनता हूँ।

इसके बाद तो कस्तूरबाई का स्वास्थ्य खूब सम्हलने लगा। अब यह नमक और दाल के त्याग का फल है, या उस त्याग से हुए भोजन के छोटे-बड़े परिवर्तनों का फल था, या उसके बाद दूसरे नियमों का पालन कराने की मेरी जागरूकता का फल था, या इस घटना के कारण जो मानसिक उल्लास हुआ उसका फल था, यह मैं नहीं कह सकता। परन्तु यह बात जरूर हुई कि कस्तूरबाई का सूखा शरीर फिर पनपने लगा। रक्त-स्राव बन्द हो गया और 'वैद्यराज' के नाम से मेरी साख कुछ बढ़ गई।

खुद मुझपर भी इन दोनों चीजों को छोड़ देने का अच्छा ही असर हुआ। छोड़ने के बाद तो नमक या दाल खाने की इच्छा तक न रही। यों एक साल बीतते देर न लगी। इससे इन्द्रियों की शान्ति का अधिक अनुभव होने लगा और संयम

की वृद्धि की तरफ मन अधिक दौड़ने लगा। एक वर्ष पूरा हो आने पर भी दाल और नमक का त्याग तो ठेठ देश में आने तक जारी रहा। हाँ, बीच में सिर्फ एक ही बार विलायत में, १९१४ में, दाल और नमक खाया था। पर इस घटना का तथा देश में आने के बाद इन चीजों को शुरू करने के कारणों का वर्णन पीछे करूँगा।

नमक और दाल छुड़ाने के प्रयोग मैंने दूसरे साथियों पर खूब किये हैं और दक्षिण आफ्रिका में तो उसके परिणाम अच्छे ही आये थे। वैद्यक की दृष्टि से इन दोनों चीजों के त्याग के सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं। परन्तु संयम की दृष्टि से तो इनके त्याग में लाभ ही है, इसमें सन्देह नहीं। भोगी और संयमी का भोजन और मार्ग अवश्य ही जुदा-जुदा होना चाहिए। ब्रह्मचर्य पालन करने की इच्छा करनेवाले लोग भोगी का जीवन बिता कर ब्रह्मचर्य को कठिन और कितनी ही बार प्रायः अशक्य कर डालते हैं।

संयम की ओर

पिछले अध्याय में यह बात कह चुका हूँ कि भोजन में कितने ही परिवर्तन कस्तूरबाई की बीमारी की बदौलत हुए। पर अब तो दिन दिन उसमें ब्रह्मचर्य की दृष्टि से परिवर्तन करता गया।

पहला परिवर्तन हुआ दूध का त्याग। दूध से इन्द्रिय-विकार पैदा होते हैं, यह बात मैं पहले-पहल रायचन्द भाई से समझा था। अन्नाहार-संबंधी अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ने से इस विचार में वृद्धि हुई। परन्तु जबतक ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं लिया था तबतक दूध छोड़ने का इरादा खास तौर पर नहीं कर सका था। यह

बात तो मैं कभी से समझ गया था कि शरीर की रक्षा के लिए दूध की आवश्यकता नहीं है, पर उसका सहसा छूट जाना कठिन था। एक ओर मैं यह बात अधिकाधिक समझता ही जा रहा था कि इन्द्रिय-दमन के लिए दूध छोड़ देना चाहिए, कि दूसरी ओर कलकत्ते से ऐसा साहित्य मेरे पास पहुँचा जिसमें ग्वाले लोगों के द्वारा गाय-भैंसों पर होने वाले अत्याचारों का वर्णन था। इस साहित्य का बड़ा बुरा असर मुझपर हुआ और उसके सम्बन्ध में मैंने मि० केलनबेक से भी बात-चीत की।

हालाँ कि मि० केलनबेक का परिचय मैं 'सत्याग्रह के इतिहास' में करा चुका हूँ और पिछले एक अध्याय में भी उनका उल्लेख कर गया हूँ, परन्तु यहाँ उनके सम्बन्ध में दो शब्द अधिक कहने की आवश्यकता है। उनकी मेरी मुलाकात अनायास हो गई थी। मि० खान के वह मित्र थे। मि० खान ने देखा कि उनके अन्दर गहरा वैराग्यभाव था। इसलिए मेरा खयाल है कि उन्होंने उनसे मेरी मुलाकात कराई। जिन दिनों उनसे मेरा परिचय हुआ उन दिनों के उनके शौक़ और शाह-खर्ची को देख कर मैं चौंक उठा था। परन्तु पहली ही मुलाकात में मुझसे उन्होंने धर्म के विषय में प्रश्न किया। उसमें बुद्ध भगवान की बात सहज ही निकल पड़ी। तबसे हमारा सम्पर्क बढ़ता गया। वह इस

हद तक कि उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि जो काम मैं करूं वह उन्हें भी अवश्य करना चाहिए। वह अकेले थे, और अपने अकेले के लिए मकान-खर्च के अलावा लगभग १२००) रुपये मासिक खर्च करते थे। ठेठ यहां से अन्त को इतनी सादगी पर आ गये कि उनका मासिक खर्च १२०) रुपये हो गया। मेरे घर-बार बिखेर देने और जेल से आने के बाद तो हम दोनों एकसाथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनों अपना जीवन अपेक्षाकृत बहुत कड़ाई से बिता रहे थे।

दूध के सम्बन्ध में जब मेरा उनसे वार्तालाप हुआ तब हम शामिल रहते थे। एक बार मि० केलनबेक ने कहा कि 'जब हम दूध में इतने दोष बताते हैं तो फिर उसे छोड़ क्यों न दें? वह अनिवार्य तो है ही नहीं।' उनकी इस राय को सुनकर मुझे बड़ा आनन्द और आश्चर्य हुआ। मैंने तुरन्त उनकी बात का स्वागत किया और हम दोनों ने टालस्टाय-फार्म में उसी क्षण दूध का त्याग कर दिया। यह बात १९१२ की है।

पर हमें इतने त्याग से शान्ति न हुई। दूध छोड़ देने के थोड़े ही समय बाद महज फल पर रहने का प्रयोग करने का निश्चय किया। फलाहार में भी धारणा यह रक्खी गई थी कि सस्ते से सस्ते फल से काम चलाया जाय। हम दोनों की आकांक्षा यह थी कि गरीब लोगों के अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय।

फलाहार में बहुअंश में चूल्हा सुलगाने की जरूरत नहीं होती, इसलिए कच्ची मूँगफली, केले, पिण्डखजूर, नींबू और जैतून का तेल, यह हमारा मामूली खाना हो गया था।

जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करने की इच्छा रखते हैं उनके लिए यहाँ एक चेतावनी देने की आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्य के साथ भोजन और उपवास का निकट सम्बन्ध बताया है, फिर भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार है हमारा मन। मलिन मन उपवास से शुद्ध नहीं होता, भोजन का उसपर असर नहीं होता। मन की मलिनता विचार से, ईश्वर-ध्यान से, और अन्त को ईश्वर-प्रसाद से ही मिटती है। परन्तु मन का शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है और विकार-युक्त मन अपने अनुकूल भोजन की तलाश में रहता है। सविकार मन अनेक प्रकार के स्वाद और भोगों को खोजता रहता है और फिर उस भोजन और भोगों का असर मन पर होता है। इस अंश तक भोजन पर अंकुश रखने की और निराहार की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

विकार-युक्त मन शरीर और इन्द्रियों पर अपना अधिकार करने के बदले शरीर और इन्द्रियों के अधीन चलता है। इस कारण भी शरीर के लिए शुद्ध और कम से कम विकारोत्पादक भोजन की मर्यादा की और प्रसंगोपात्त निराहार की, उपवास की,

आवश्यकता रहती है। इसलिए जो यह कहते हैं कि एक संयमी के लिए भोजन-सम्बन्धी मर्यादा की या उपवास की आवश्यकता नहीं, वे उतने ही भ्रम में पड़े हुए हैं, जितना कि भोजन और निराहार को सब-कुछ समझनेवाले पड़े हुए हैं। मेरा तो अनुभव यह सिखलाता है कि जिसका मन संयम की ओर जा रहा है उसके लिए भोजन की मर्यादा और निराहार बहुत सहायक होते हैं। उसकी मदद के बिना मन की निर्विकारता असम्भव मालूम होती है।

उपवास

जिन दिनों दूध और अनाज को छोड़कर फलाहार का प्रयोग शुरू किया उन्हीं दिनों संयम के उद्देश्य से उपवास भी शुरू किया। इसमें भी मि० केलनबेक मेरे साथी हुए। पहले जो उपवास करता था वह केवल आरोग्य की दृष्टि से। देह-दमन के लिए उपवास करने की आवश्यकता है, यह बात मैं एक मित्र की प्रेरणा से समझा। वैष्णव-कुटुम्ब में जन्म होने के कारण और माता मेरी कठिन-कठिन व्रत किया करती थी इससे एकादशी इत्यादि व्रत मैंने देश में किये थे, परन्तु वह तो देखा-देखी अथवा माता-पिता को खुश करने के हेतु से। उस

समय मैं यह नहीं समझा था, न मानता ही था, कि ऐसे व्रतों से कुछ लाभ होता है। परन्तु इन मित्र को देखकर, तथा अपने ब्रह्मचर्य-व्रत के सहारे के लिए, मैं उनका अनुकरण करने लगा और एकादशी के दिन उपवास करने का निश्चय किया। आम तौर पर लोग एकादशी के दिन दूध और फल खाकर मानते हैं कि एकादशी करली। परन्तु मैं तो यह फलाहार वाला उपवास नित्य ही करता था। इसलिए पानी पीने की छुट्टी रख कर मैंने निराहार उपवास शुरू किया।

जिन दिनों इन उपवास के प्रयोगों का आरम्भ हुआ, श्रावण मास पड़ता था। उस साल रमजान और श्रावण मास एक साथ आये थे। गांधी-कुटुम्ब में वैष्णव व्रतों के साथ शैव व्रतों का भी पालन किया जाता था। हमारे परिवार के लोग जिस प्रकार वैष्णव देवालयों में जाते उसी प्रकार शिवालयों में भी जाते। श्रावण-मास में प्रदोष तो हर साल कुटुम्ब में कोई न कोई रखता ही था। इसलिए मैंने इस बार श्रावण मास के व्रत रखने का इरादा किया।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयोग का आरम्भ टॉलस्टाय-आश्रम में हुआ। वहाँ सत्याग्रही कैदियों के कुटुम्बों को एकत्र कर मैं और केलनबेक रहते थे। उसमें बालक और नवयुवक भी थे। उनके लिए एक पाठशाला रक्खी थी। इन नवयुवकों में चार-पाँच मुसलमान

भी थे। उन्हें मैं इस्लाम के नियम पालने में मदद करता और उत्तेजन देता। नमाज वगैरा की सहूलियत कर देता। आश्रम में पारसी और ईसाई भी थे। नियम यह था कि सबको अपने-अपने धर्मों के अनुसार चलने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय। इसलिए मुसलमान नवयुवकों को मैंने रोजा रखने में उत्तेजन दिया; और मुझे तो प्रदोष रखने ही थे। परन्तु हिन्दुओं, पारसियों, और ईसाइयों को भी मैंने मुसलमान नवयुवकों का साथ देने की सलाह दी। मैंने उन्हें समझाया कि संयम-पालन में सबका साथ देना स्तुत्य है। बहुतेरे आश्रम-वासियों ने मेरी बात पसन्द की। हिन्दू और पारसी लोग मुसलमान साथियों का पूरा-पूरा अनुकरण नहीं करते थे। करने की आवश्यकता भी नहीं थी। मुसलमान इधर सूरज डूबने की राह देखते तबतक दूसरे लोग उनसे पहले भोजन कर लेते कि जिससे वे मुसलमानों को परोस सकें और उनके लिए खास चीजें तैयार कर सकें। इसके अलावा मुसलमान सरगही करते—अर्थात् व्रत के दिनों में सवेरे सूर्योदय के पहले भोजन करते थे, पर दूसरे लोग उसमें शरीक नहीं होते थे। इधर मुसलमान तो दिन में भी पानी नहीं पीते थे, पर दूसरे लोग जब चाहते पी लिया करते।

इस प्रयोग का एक फल यह निकला कि उपवास और एकासने का महत्व सब लोग समझने लगे। एक-दूसरे के प्रति

उदारता और प्रेम का भाव बढ़ा। आश्रम में अन्नाहार का ही नियम था, पर मुझे यह बात इस स्थान पर प्रसन्नता के साथ स्वीकार करनी चाहिए कि इस नियम को दूसरे मित्रों ने मांस के प्रति मेरे मनोभावों का ही ख़याल करके स्वीकार किया था। रोज़े के दिनों में मुसलमानों को मांस न खाना जरूर कठिन पड़ा होगा; परन्तु इन नवयुवकों में से किसीने मुझे इस बात का अनुभव न होने दिया। वे बड़े आनन्द और स्वाद के साथ अन्नाहार करते। हिन्दू बालक ऐसी स्वादिष्ट चीज़ें भी उनके लिए तैयार करते, जो आश्रम-जीवन के प्रतिकूल न होतीं।

अपने उपवास का वर्णन करते हुए यह विषयान्तर मैंने जान-बूझकर किया है; क्योंकि मैं इस मधुर प्रसंग का वर्णन दूसरी जगह नहीं कर सकता था। और इस विषयान्तर के द्वारा मैंने अपनी एक टेव का वर्णन भी यहाँ कर डाला है। जब मुझे यह मालूम होता है कि जो काम मैं कर रहा हूँ वह अच्छा है तो मैं अपने साथियों को भी हमेशा उसमें शामिल करने का प्रयत्न करता हूँ। यह उपवास और एकासना के प्रयोग यद्यपि एक नई चीज़ थी, फिर भी प्रदोष और रमजान के बहाने मैंने इनमें सबको घसीट मारा।

इस प्रकार आश्रम में संयम का वातावरण अनायास बढ़ा। दूसरे उपवास और एकासने में भी आश्रमवासी शामिल होने

लगे और मैं मानता हूँ कि इसका परिणाम भी अच्छा ही निकला। यह बात मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि संयम का असर सबके हृदय पर कितना हुआ, सबके विषयो को रोकने मे कितना भाग उपवास आदि का था। पर मेरा तो यही अनुभव है कि मुझपर तो आरोग्य और इन्द्रिय-दमन दोनो दृष्टियो मे उसका अच्छा असर हुआ है। फिर भी मैं यह जानता हूँ कि उपवास आदि का असर, सबपर अवश्य हो, यह अनिवार्य नियम नहीं है। हाँ, जो उपवास इन्द्रिय-दमन के उद्देश्य से किये जाते हैं उनसे विषयों में रुकावट हो सकती है। कितने ही मित्रो का तो यह भी अनुभव है कि उपवास के अन्त मे विषयेच्छा और स्वादेच्छा तीव्र हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि उपवास के दिनों में विषयों को रोकने की और स्वाद को जीतने की सतत भावना रहे तभी शुभ फल होता है। बिना इस हेतु के और बिना मन के किये शारीरिक उपवास का फल ऐसा होगा कि जिससे विषयों का वेग रुक जाय, यह मानना बिलकुल भ्रमपूर्ण है। गीता के दूसरे अध्याय का यह श्लोक इस प्रसंग पर बहुत विचार करने योग्य है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

उपवासी के विषय (उपवास के दिनों में) शमन हो जाते हैं,

परन्तु इसका रस नहीं जाता। रस तो ईश्वर-दर्शन से ही—ईश्वर-प्रसाद से ही शमन होते हैं।

इससे हम इस नतीजे पर पहुँचे कि उपवास आदि संयमी के मार्ग में एक साधन के रूप में आवश्यक हैं। परन्तु यही सब कुछ नहीं है। और यदि शारीरिक उपवास के साथ मन का उपवास न हो तो उसकी परिणति दम्भ में हो सकती है और वह हानिकारक साबित हो सकती है।

मास्टरसाहब

सत्याग्रह के इतिहास में जो बात नहीं आसकी अथवा आंशिक रूप में आई है वही इन अध्यायों में लिखी जा रही है। इस बात को पाठक याद रक्खेंगे तो इन अध्यायो का पूर्वा पर सम्बन्ध वे समझ सकेंगे।

टॉलस्टाय-आश्रम में लड़कों और लड़कियों के लिए कुछ शिक्षण-प्रबन्ध आवश्यक था। मेरे साथ हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई नवयुवक थे, और कुछ हिन्दू लड़कियाँ भी थीं। इनके लिए खास शिक्षक रखना असम्भव था और मुझे अनावश्यक भी मालूम हुआ। असम्भव तो इसलिए था कि सुयोग्य

हिन्दुस्तानी शिक्षकों का वहाँ अभाव था, और मिलें भी तो काफी वेतन के बिना डरबन से २१ मील दूर कौन आने लगा ? मेरे पास रुपयों की बहुतायत नहीं थी और बाहर से शिक्षक बुलाना अनावश्यक माना गया। क्योंकि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मुझे पसंद न थी और वास्तविक पद्धति क्या है, इसका मैंने अनुभव नहीं कर देखा था। इतना जानता था कि आदर्श स्थिति में सच्ची शिक्षा माता-पिता की देखरेख में ही मिल सकती है। आदर्श स्थिति में बाह्य सहायता कम से कम होनी चाहिए। टॉलस्टाय-आश्रम एक कुटुम्ब था और मैं उसमें पिता के स्थान पर था। इसलिए मैंने सोचा कि इन नवयुवकों के जीवन-निर्माण की जवाबदेही भर-सक मुझीको उठानी चाहिए।

मेरी इस कल्पना में बहुतेरे दोष तो थे ही। ये सब नवयुवक जन्म ही से मेरे पास नहीं रहे थे। सब अलग-अलग वातावरण में परवरिश पाये हुए थे। फिर सब एक-धर्म के भी नहीं थे। ऐसी स्थिति में जो बालक-बालिका रह रहे थे उनका पिता अपने को मानकर भी मैं उनके साथ कैसे न्याय कर सकता था ?

परन्तु मैंने हृदय की शिक्षा को अर्थात् चरित्र के विकास को हमेशा प्रथम स्थान दिया है, और वह यह विचार करके कि ऐसी शिक्षा का परिचय जिस उम्र में चाहे और जैसे चाहे वातावरण में परवरिश पायें बालक-बालिकाओं को थोड़ा बहुत कराया जा

सकता है। इन लड़के-लड़कियों के साथ मैं दिन-रात पिता के रूप में रहता था। सच्चरित्रता को मैंने उनकी शिक्षा का आधार-स्तम्भ माना था। बुनियाद यदि मजबूत है तो दूसरी बातें बालकों को समय पाकर खुद अथवा दूसरों की सहायता से मिल जाती हैं। फिर भी मैं यह समझता था कि थोड़ा-बहुत अक्षर-ज्ञान भी जरूर कराना चाहिए। इसलिए पढ़ाई शुरू की और उसमें मैंने मि० केलनबेक तथा प्रागजी देशाई की सहायता ली।

मैं शारीरिक शिक्षा की भी आवश्यकता समझता था। परन्तु वह शिक्षा तो उन्हें अपने आप ही मिल रही थी, क्योंकि आश्रम में नौकर तो रक्खे ही नहीं गये थे। पाखाने से लेकर खाना-पकाने तक के सब काम आश्रमवासी ही करते थे। आश्रम में फलों के वृक्ष बहुत थे। नई खेती भी करनी थी। आश्रम में मि० केलनबेक को खेती का शौक था। वह खुद सरकारी आदर्श खेतों में कुछ समय रहकर खेती का काम सीखे हुए थे। रोज कुछ समय तक उन सब छोटे-बड़े लोगों को, जो रसोई के काम में लगे न होते, बगीचे में काम करने जाना पड़ता था। इनमें बालकों का एक बड़ा भाग था। बड़े गढ़े खोदना, कलम करना, बोझ उठाकर ले जाना इत्यादि कामों में उनका शरीर सुगठित होता रहता। उसमें उनको आनन्द भी आता था, जिससे उन्हें दूसरी कसरत या खेल की आवश्यकता नहीं रहती थी। काम

करने में कुछ विद्यार्थी और कभी-कभी सब विद्यार्थी नखरे करते, काहिली भी कर जाते। बहुत बार मैं इन बातों की ओर आँखें मूँद लिया करता। कितनी ही बार उनसे सख्ती से भी काम लेता। जब सख्ती करता और उन्हें देखता कि वे उकता उठे तो भी मुझे नहीं याद पड़ता कि सख्ती का विरोध कभी उन्होंने किया हो। जब-जब मैं उनपर सख्ती करता तभी तब उन्हें समझाता और उन्हींसे क़बूल करवाता कि काम के समय खेलना अच्छी आदत नहीं। वे उस समय समझ जाते पर दूसरे ही क्षण भूल जाते। इस तरह काम चलता रहता। परन्तु उनके शरीर बनते जाते थे।

आश्रम में शायद ही कोई बीमार होता। कहना होगा कि इसका बड़ा कारण था वहाँ की आबहवा और अच्छा तथा नियमित भोजन। शारीरिक-शिक्षा के सिलसिले में ही शारीरिक व्यवसाय की शिक्षा का भी समावेश कर लेता हूँ। इरादा यह था कि सबको कुछ-न-कुछ उपयोगी धन्धा सिखाना चाहिए। इसलिए मि० केलनबेक 'ट्रेपिस्ट मठ' में चप्पल बनाना सीख आये थे। उनसे मैंने सीखा और मैंने उन बालकों को सिखाया, जो इस हुनर को सीखने के लिए तैयार थे। मि० केलनबेक को बढ़ईगीरी का भी कुछ अनुभव था और आश्रम में बढ़ई का काम जाननेवाला एक साथी भी था। इसलिए यह काम भी थोड़े-बहुत अंशों में सिखाया जाता। रसोई बनाना तो लगभग सब ही लड़के सीख गये थे।

ये सब काम इन बालकों के लिए नये थे। उन्होंने तो कभी स्वप्न में भी यह न सोचा होगा कि ऐसा काम सीखना पड़ेगा; दक्षिण आफ्रिका में हिन्दुस्तानी बालकों को फक़त प्राथमिक अक्षर-ज्ञान की ही शिक्षा दी जाती थी। टॉलस्टाय-आश्रम में पहले से ही यह रिवाज डाला था कि जिस काम को हम शिक्षक लोग न करें वह बालकों से न कराया जाय और हमेशा उनके साथ-साथ कोई-न-कोई शिक्षक काम करता। इससे वे बड़ी उमंग के साथ सीख सके।

चारित्र्य और अक्षर-ज्ञान के सम्बन्ध में अब इसके बाद।

अक्षर-शिक्षा

पिछले अध्याय में हमने यह देख लिया कि शारीरिक शिक्षा और उसके साथ कुछ हुनर सिखाने का काम टॉलस्टाय-फार्म में किस तरह शुरू हुआ। यद्यपि इस काम को मैं इस तरह नहीं कर सका कि जिससे मुझे सन्तोष होता, फिर भी उसमें थोड़ी-बहुत सफलता मिल गई थी। परन्तु अक्षर-ज्ञान तो देना कठिन मालूम हुआ। मेरे पास उसके प्रबन्ध के लिए आवश्यक सामग्री न थी। मेरे पास उतना समय भी नहीं था, जितना मैं देना चाहता था, और न इस विषय का ज्ञान ही था। दिनभर शारीरिक काम करते-करते मैं थक जाता था और जिस

समय जरा आराम करने की इच्छा होती उसी समय पढ़ाना पड़ता। इससे मैं तरोताजा रहने के बदले ठोक-पीटकर सचेत भर रह सकता था। सुबह का समय खेती और घर के काम में जाता था, इसलिए दोपहर को भोजन के बाद ही पाठशाला शुरू होती। इसके सिवा दूसरा समय अनुकूल नहीं था। अक्षर-ज्ञान के लिए अधिक-से-अधिक तीन घण्टे रक्खे थे। फिर वर्गों में हिन्दी, तामिल, गुजराती, और उर्दू इतनी भाषायें सिखानी पड़तीं; क्योंकि यह नियम रक्खा गया था कि शिक्षण प्रत्येक बालक को उसकी मातृभाषा के द्वारा ही दिया जाय; फिर अंग्रेजी भी सबको सिखाई ही जाती थी। इसके अलावा गुजराती हिन्दू बालकों को कुछ संस्कृत का और सब लड़कों को हिन्दी का परिचय कराना, इतिहास, भूगोल, और गणित सबको सिखाना, इतना क्रम रक्खा गया था। तामिल और उर्दू पढ़ाना मेरे जिम्मे था।

मुझे तामिल का ज्ञान जहाजों में और जेल में मिला था। उसमें भी पोप-कृत उत्तम 'तामिल-स्वयं-शिक्षक' से आगे मैं नहीं बढ़ सका था। उर्दू-लिपि का ज्ञान तो उतना ही था, जितना जहाज में प्राप्त कर सका था। और खास अरबी-फारसी शब्दों का ज्ञान भी उतना ही था, जितना कि मुसलमान मित्रों के परिचय से मैं प्राप्त कर चुका था। संस्कृत उतनी ही जानता था, जितनी कि मैंने हाइ-स्कूल में पढ़ी थी और गुजराती भी स्कूली ही थी।

इतनी पूँजी से मुझे अपना काम चलाना था और इसमें जो मेरे सहायक थे वे मुझसे भी कम जानते थे। परन्तु देशी भाषाओं पर मेरा प्रेम, अपनी शिक्षा-शक्ति पर मेरा विश्वास, विद्यार्थियों का अज्ञान और उससे भी बढ़कर उनकी उदारता, ये मेरे काम में सहायक साबित हुए।

इन तामिल विद्यार्थियों का जन्म दक्षिण आफ्रिका में ही हुआ था, इससे वे तामिल बहुत कम जानते थे। लिपि का तो उन्हें बिलकुल ही ज्ञान न था, इसलिए मेरा काम था उन्हें लिपि सिखाना और व्याकरण के मूल-तत्त्वों का ज्ञान कराना। यह सहज काम था। विद्यार्थी लोग इस बात को जानते थे कि तामिल बातचीत में वे मुझे सहज ही हरा सकते हैं और जब कोई तामिलभाषी मुझसे मिलने आते तो वे मेरे दुभाषिए का काम देते थे। परन्तु मेरा काम चल निकला। क्योंकि विद्यार्थियों से मैंने कभी अपने अज्ञान को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। वे मुझे सब बातों में वैसा ही जान गये थे, जैसा कि मैं वास्तव में था। इससे पुस्तक-ज्ञान की भारी कमी के रहते हुए भी मैंने उनके प्रेम और आदर को कभी न हटने दिया था।

परन्तु मुसलमान बालकों को उर्दू पढ़ाना इससे आसान था, क्योंकि वे लिपि जानते थे। उनके साथ तो मेरा इतना ही काम था कि उन्हें पढ़ने का शौक बढ़ा दूँ और उनका खत अच्छा करवा दूँ।

मुख्यतः ये सब बालक निरक्षर थे, और किसी पाठशाला में न पढ़े थे। पढ़ाते-पढ़ाते मैंने देखा कि उन्हें पढ़ाने का काम तो कम ही होता है। उनका आलस्य छुड़वाना, उनसे अपने-आप पढ़वाना, उनके सबक याद करने की चौकीदारी करना, यही काम ज्यादा था। पर इतने से मैं संतोष पाता था, और यही कारण है जो मैं भिन्न-भिन्न अवस्था और भिन्न भिन्न विषय वाले विद्यार्थियों को एक ही कमरे में बैठा कर पढ़ा सकता था।

पाठ्य पुस्तकों की पुकार चारों ओर से सुनाई पड़ा करती है; किन्तु मुझे उनकी भी जरूरत न पड़ी। जो पुस्तकें थीं भी, मुझे नहीं याद पड़ता कि उनसे भी बहुत काम लिया गया हो। प्रत्येक बालक को बहुतेरी पुस्तकें देने की जरूरत मुझे नहीं दिखाई दी।

मेरा यह खयाल रहा है कि शिक्षक ही विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तक है। शिक्षकों ने पुस्तकों द्वारा मुझे जो कुछ पढ़ाया उसका बहुत थोड़ा अंश मुझे आज याद है, परन्तु ज़बानी शिक्षा जिन लोगों ने दी है वह आज भी याद रह गई है। बालक आँख के द्वारा जितना ग्रहण करते हैं उससे अधिक कान से सुना हुआ, और सो भी थोड़े परिश्रम से ग्रहण कर सकते हैं। मुझे याद नहीं कि बालकों को मैंने एकभी पुस्तक शुरू से अखीर तक पढ़ाई हो।

मैंने तो खुद जो कुछ बहुतेरी पुस्तकों को पढ़ कर हज़म

किया था वहाँ उन्हें अपनी भाषा में कहता गया और मैं जानता हूँ कि वह उन्हें आज भी याद होगा। मैंने देखा कि पुस्तक पर से पढ़ाया हुआ याद रखने में उन्हें दिक्कत होती थी, परन्तु मेरा ज़बानी कहा हुआ याद रख कर वे फिर मुझे सुना देते थे। पुस्तक पढ़ने में उनका मन नहीं लगता था। जिस किसी दिन थकावट के कारण अथवा किसी दूसरी वजह से मैं मन्द न होता, अथवा मेरी पढ़ाई नीरस न होती, तो वे मेरी कही और सुनाई बातों को चाव से सुनते और उसमें रस लेते। बीच बीच में जो शंकायें उनके मनमें उठतीं उनसे मुझे उनकी ग्रहण-शक्ति का अन्दाज़ा लग जाता।

आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियों के शरीर और मन को तालीम देने की अपेक्षा आत्मा पर संस्कार डालने में मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। उनकी आत्मा का विकास करने के लिए मैंने धार्मिक पुस्तकों का बहुत कम सहारा लिया था। मैं यह मानता था कि विद्यार्थियों को अपने-अपने धर्मों के मूल तत्वों को समझ लेना चाहिए, अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों का साधारण ज्ञान होना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें ऐसा ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा करदी थी। परन्तु उसे मैं बौद्धिक शिक्षा का अंग मानता हूँ। आत्मा की शिक्षा एक अलग ही बात है। और यह बात

मैंने टॉलस्टाय-आश्रम में बालकों को पढ़ाने लगने के पहले ही जान ली थी। आत्मा के विकास करने का अर्थ है 'चरित्र-निर्माण करना,' 'ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना,' 'आत्म-ज्ञान संपादन करना'। इस ज्ञान को प्राप्त करने में बालकों को बहुत सहायता की आवश्यकता है और मैं मानता था कि उसके बिना दूसरा सब ज्ञान व्यर्थ है और हानि-कारक भी हो सकता है।

हमारे समाज में एक यह वहम घुस गया है कि आत्म-ज्ञान तो मनुष्य को चौथे आश्रम में मिलता है। परन्तु मेरी समझ में जो लोग चौथे आश्रम तक इस अमूल्य वस्तु को रोक रखते हैं उन्हें आत्मज्ञान तो नहीं मिलता, उलटा बुढ़ापा, और इससे भी अधिक दया-जनक बचपन प्राप्त करके वे पृथ्वी पर भार-रूप होकर जीते हैं। सब जगह यह अनुभव देखा जाता है। १९११-१२ में शायद इन विचारों को मैं प्रदर्शित न कर सकता, परन्तु मुझे यह बात अच्छी तरह से मालूम है कि उस समय मेरे विचार इसी तरह के थे।

अब सवाल यह है कि आत्मिक-शिक्षा दी किस तरह जाय? इसके लिए मैं बालकों को भजन गवाता था, नीति की पुस्तकें पढ़ कर सुनाता था, परन्तु उससे मनको संतोष नहीं होता था। ज्यों-ज्यों मैं उनके अधिक संपर्क में आता गया त्यों-त्यों मैंने देखा कि वह ज्ञान पुस्तकों द्वारा नहीं दिया जा सकता। शारीरिक शिक्षा

शरीर की कसरत द्वारा दी जा सकती है। और बौद्धिक शिक्षा बुद्धि की कसरत द्वारा। उसी प्रकार आत्मिक शिक्षा आत्मा की कसरत के द्वारा ही दी जा सकती है, और आत्मा की कसरत तो बालक शिक्षक के आचरण से ही सीखते हैं। अतएव युवक—विद्यार्थी चाहे हाज़िर हों या न हों। शिक्षक को तो सदा सावधान ही रहना चाहिए। लंका में बैठा हुआ शिक्षक अपने आचरण के द्वारा अपने शिष्यों की आत्मा को हिला सकता है। यदि मैं खुद तो झूठ बोलूँ, पर अपने शिष्यों को सच्चा बनाने का प्रयत्न करूँ, तो वह फ़जूल होगा। डरपोक शिक्षक अपने शिष्यों को वीरता नहीं सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्यों को संयम की शिक्षा कैसे दे सकता है? इसलिए मैंने देखा कि मुझे तो अपने साथ रहनेवाले युवक-युवतियों के सामने एक पदार्थ-पाठ बनकर रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य ही मेरे शिक्षक बन गये। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि इनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिए और यह कहा जा सकता है कि टॉल्सटाय-आश्रम के समय का मेरा बहुतेरा संयम इन युवक और युवतियों का कृतज्ञ है।

आश्रम में एक ऐसा युवक था जो बहुत ऊधम करता था, झूठ बोलता था, किसी की सुनता नहीं था, औरों से लड़ता था। एक दिन उसने बड़ा उपद्रव मचाया, मुझे बड़ी चिन्ता हुई।

क्योंकि मैं विद्यार्थियों को कभी सजा नहीं देता था, पर इस समय मुझे बहुत गुस्सा चढ़ रहा था। मैं उसके पास गया। वह समझाये किसी तरह नहीं समझता था। खुद मेरी आँख में भी धूल झोंकने की कोशिश की। मेरे पास रूल पड़ी हुई थी, उठाकर उसके हाथ पर दे मारी। पर मारते हुए मेरा शरीर काँप रहा था। मेरा खयाल है कि उसने यह देख लिया होगा। इससे पहले विद्यार्थियों को मेरी तरफ से ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था। वह विद्यार्थी रो पड़ा, माफी माँगी, पर उसके रोने का कारण यह नहीं था कि उसपर मार पड़ी। वह मेरा मुकाबला करना चाहता तो इतनी ताकत उसमें थी। उसकी उमर १७ साल की होगी, शरीर हृष्ट-पुष्ट था, पर मेरे उस रूल मारने में मेरे दुःख का अनुभव उसे हो गया था। इस घटना के बाद वह मेरे सामने कभी नहीं हुआ। परन्तु मुझे उस रूल मार देने का पश्चात्ताप आज तक होता रहता है।

मैं समझता हूँ कि उसे पीट कर मैंने उसे अपनी आत्मा की सात्विकता का नहीं, बल्कि अपनी पशुता का दर्शन कराया था।

मैंने बच्चों को पीट-पीट कर सिखाने का हमेशा विरोध किया है। सारी जिन्दगी में एक ही अवसर मुझे याद पड़ता है जब मैंने अपने एक लड़के को पीटा था। मेरा यह रूल मार देना उचित था या क्या, इसका निर्णय मैं आज तक नहीं कर सका। इस दंड के

औचित्य के विषय में अब भी मुझे सन्देह है; क्योंकि उसके मूल में क्रोध भरा हुआ था और मन मे सजा देने का भाव था। यदि उसमें केवल मेरे दुःख का ही प्रदर्शन होता तो मैं उस दण्ड को उचित समझता; परन्तु इसमे मिश्र भावनायें थीं। इस घटना के वाद तो मैं विद्यार्थियो को सुधारने की और भी अच्छी तरकीव जान गया। यदि इस मौके पर उस कला से काम लिया होता तो क्या फल निकलता, यह मैं नहीं कह सकता। वह युवक तो इस बात को उसी समय भूल गया। मैं नहीं कह सकता कि वह वहुत सुधर गया होगा। परन्तु इस प्रसङ्ग ने मेरे इन विचारों को वहुत गति दे दी कि विद्यार्थी के प्रति शिक्षक का क्या धर्म है। उसके वाद भी युवको से ऐसा ही कसूर हुआ है; परन्तु मैंने दंडनीति का प्रयोग कभी नहीं किया। इस तरह आत्मिक ज्ञान देने का प्रयत्न करते हुए मैं खुद आत्मा के गुण को अधिक जान सका।

अच्छे-बुरे का मेल

टॉलस्टाय-आश्रम में मि० केलनबेक ने मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा कर दिया था। इसके पहले मैंने उस-पर कभी विचार नहीं किया था। आश्रम में कितने ही बड़े लड़के ऊधमी और वाहियात थे, कई आवारा भी थे। इन्हींके साथ मेरे तीन लड़के रहते थे। दूसरे लड़के भी थे, जिनका कि लालन-पालन मेरे लड़कों की तरह हुआ था। परन्तु मि० केलनबेक का ध्यान तो इसी बात की तरफ था कि ये आवारा लड़के और मेरे लड़के एकसाथ इस तरह नहीं रह सकते। एक दिन उन्होंने कहा—'आपका यह सिलसिला मुझे बिलकुल ठीक नहीं मालूम होता।

इन लड़कों के साथ आपके लड़के रहेंगे तो इसका बुरा नतीजा होगा। उन आवारा लड़कों की सोहबत इनको लगेगी तो ये बिगड़े बिना कैसे रहेंगे ?'

इसको सुनकर मैं सोच में पड़ा या नहीं, यह तो मुझे इस समय याद नहीं; परन्तु अपना उत्तर मुझे याद है। मैंने जवाब दिया—'अपने लड़कों और इन आवारा लड़कों में मैं भेद-भाव कैसे रख सकता हूँ ? अभी तो दोनों की जिम्मेवारी मुझपर है। ये युवक मेरे बुलाये यहाँ आये हैं। यदि मैं रुपये दे दूँ तो ये आज ही जोहान्सबर्ग जाकर पहले की तरह रहने लग जायँगे। आश्चर्य नहीं, यदि उनके माता-पिता यह समझते हों कि उन लड़कों ने यहाँ आकर मुझपर बहुत मिहरबानी की। यहाँ आकर वे असुविधा उठाते हैं, यह तो आप और मैं दोनों देख रहे हैं। सो इस सम्बन्ध में मेरा धर्म मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। मुझे उन्हें यहीं रखना चाहिए। मेरे लड़के भी उन्हींके साथ रहेंगे। फिर क्या आज से ही मेरे लड़कों को यह भेद-भाव सिखावें कि ये औरों से ऊँचे दर्जे के हैं ? ऐसा विचार उनके दिमाग में डालना मानों उन्हें उलटे रास्ते ले जाना है। इस स्थिति में रहने से उनका जीवन बनेगा, खुद-ब-खुद सारासार की परीक्षा करने लगेंगे। हम यह क्यों न मानें कि उनमें यदि सचमुच कोई गुण होगा तो उलटा उसीका असर उनके साथियों पर होगा ? जो कुछ भी हो,

पर मैं तो उन्हें यहाँ से नहीं हटा सकता और ऐसा करने में यदि कुछ जोखम है तो उसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए।' इस पर मि० केलनबेक सिर हिलाकर रह गये।

यह नहीं कह सकते कि इस प्रयोग का नतीजा बुरा हुआ। मैं नहीं मानता कि मेरे लड़कों को इससे कुछ नुकसान हुआ। हाँ, लाभ होता हुआ तो अलबत्ते मैंने देखा है। उनमें बड़प्पन का यदि कुछ अंश रहा होगा तो वह सर्वथा चला गया, वे सबके साथ मिल-जुल कर रहना सीखे, वे तपकर ठीक हो गये।

इससे तथा ऐसे दूसरे अनुभवों पर से मेरा यह खयाल बना कि यदि माँ बाप ठीक-ठीक निगरानी रख सकें तो उनके भले और बुरे लड़कों के एकसाथ रहने और पढ़ने से अच्छे लड़कों का किसी प्रकार नुकसान नहीं हो सकता। अपने लड़कों को सन्दूक में बन्द कर रखने से वे शुद्ध ही रहते हैं और बाहर निकालने से वे बिगड़ जाते हैं, यह कोई नियम नहीं है। हाँ यह बात जरूर है कि जहाँ अनेक प्रकार के बालक और बालिकायें एक साथ रहते और पढ़ते हों, वहाँ माँ-बाप की और शिक्षक की कड़ी जाँच हो जाती है। उन्हें बहुत सावधान और जागरूक रहना पड़ता है।

प्रायश्चित्त के रूप में उपवास

इस तरह लड़के-लड़कियों को सच्चाई और ईमानदारी के साथ परवरिश करने और पढ़ाने-लिखाने में कितनी और कैसी कठिनाइयाँ हैं, इसका अनुभव दिन-दिन बढ़ता गया। शिक्षक और पालक की हैसियत से मुझे उनके हृदय में प्रवेश करना था। उनके सुख दुःख में हाथ बँटाना था। उनके जीवन की गुत्थियाँ सुलझानी थीं। उनकी चढ़ती जवानी की तरंगों को सीधे रास्ते ले जाना था।

कितने ही क़ैदियों के छूट जाने के बाद टॉलसटाय-आश्रम में थोड़े ही लोग रह गये। ये ख़ास करके फिनिक्स-वासी थे। इस-

लिए मैं आश्रम को फिनिक्स ले गया। फिनिक्स में मेरी कड़ी परीक्षा हुई। इन बचे हुए आश्रम-वासियों को टॉलस्टाय-आश्रम से फिनिक्स पहुँचा कर मैं जोहान्सबर्ग गया। थोड़े ही दिन जोहान्सबर्ग रहा होऊँगा कि मुझे दो व्यक्तियों के भयंकर पतन के समाचार मिले। सत्याग्रह जैसे महान संग्राम में यदि कहीं भी असफलता जैसा कुछ दिखाई देता तो उससे मेरे दिल को चोट नहीं पहुँचती थी, परन्तु इस घटना ने तो मुझपर वज्र-प्रहार ही कर दिया! मेरे दिल में घाव हो गया! उसी दिन मैं फिनिक्स रवाना हो गया। मि० केलनबेक ने मेरे साथ आने की जिद पकड़ी। वह मेरी दयनीय स्थिति को समझ गये थे, साफ इन्कार कर दिया कि मैं आपको अकेला नहीं जाने दूँगा। इस पतन की खबर मुझे उन्हीं के द्वारा मिली थी। रास्ते ही में मैंने सोच लिया, अथवा यों कहूँ कि मैंने ऐसा मान लिया कि इस अवस्था में मेरा धर्म क्या है? मेरे मन ने कहा कि जो लोग हमारी रक्षा में हैं उनके पतन के लिए पालक वा शिक्षक किसी न किसी अंश में जरूर जिम्मेवार हैं और इस दुर्घटना के सम्बन्ध में तो मुझे अपनी जिम्मेवारी साफ-साफ दिखाई दी। मेरी पत्नी ने मुझे पहले ही चेताया था, पर मैं स्वभावतः विश्वासशील हूँ, इससे मैंने उसकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया था। फिर मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि ये पतित लोग मेरी व्यथा को तभी समझ सकेंगे, जब मैं इस पतन के लिए कुछ

प्रायश्चित्त करूँगा। इसीसे इन्हें अपने दोष का ज्ञान होगा। और उसकी गंभीरता का कुछ अन्दाज़ मिलेगा। इस कारण मैंने सात दिन के उपवास और साढ़े-चार मास तक एकासना करने का विचार किया। मि० केलनबेक ने मुझे रोकने की बहुत कोशिश की, पर उनकी न चली। अन्त को उन्होंने प्रायश्चित्त के औचित्य को माना और अपने लिए भी मेरे साथ व्रत रखने पर जोर दिया। उनके निर्मल प्रेम को मैं न रोक सका। इस निश्चय के बाद ही तुरंत मेरा हृदय हलका हो गया, मुझे शान्ति मिली। दोष करने वालों पर जो-कुछ गुस्सा आया था वह दूर हुआ और उनपर दया ही आती रही।

इस तरह ट्रेन में ही अपने हृदय को हलका करके मैं फिनिक्स पहुँचा। पूछ-ताछ कर जो कुछ और बातें जानना थीं वे जान लीं। यद्यपि इस मेरे उपवास से सबको बहुत कष्ट हुआ, पर उससे वातावरण शुद्ध हुआ। उस पाप की भयंकरता को सबने समझा। और विद्यार्थी-विद्यार्थिनियों का और मेरा सम्बन्ध अधिक मजबूत और सरल हुआ।

इस दुर्घटना के सिलसिले में ही, कुछ समय के बाद, मुझे फिर चौदह उपवास करने की नौबत आई थी और मैं मानता हूँ कि उसका परिणाम आशा से भी अधिक अच्छा निकला। परन्तु इन उदाहरणों से मैं यह नहीं सिद्ध करना चाहता कि शिष्यों के

प्रत्येक दोष के लिए हमेशा शिक्षकों को उपवासादि करना ही चाहिए। पर मैं यह जरूर मानता हूँ कि मौके पर ऐसे प्रायश्चित्त-रूप उपवास के लिए अवश्य स्थान है। किन्तु उसके लिए विवेक और अधिकार की आवश्यकता है। जहाँ शिक्षक और शिष्य में शुद्ध प्रेम-बन्धन नहीं, जहाँ शिक्षक को अपने शिष्य के दोषों से सच्ची चोट नहीं पहुँचती, जहाँ शिष्य के मन में शिक्षक के प्रति आदर नहीं, वहाँ उपवास निरर्थक है और शायद हानिकारक भी हो। परन्तु ऐसे उपवास या एकासना के विषय में भले ही कुछ शंका हो; किन्तु शिष्य के दोषों के लिए शिक्षक थोड़ा बहुत जिम्मेवार जरूर है, इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं।

ये सात दिवस, सात उपवास और एकासने हमें कठिन न मालूम हुए। उन दिनों में मेरा कोई भी काम बन्द या मन्द नहीं हुआ था। उस समय मैं केवल फलाहार ही करता था। चौदह उपवास का अन्तिम भाग मुझे खूब कठिन मालूम हुआ था। उस समय मैं रामनाम का पूरा चमत्कार नहीं समझा था। इस-लिए दुःख सहन करने का सामर्थ्य कम था। उपवास के दिनों में जिस किसी तरह भी हो पानी खूब पीना चाहिए। इस बाह्य कला का ज्ञान मुझे न था। इस कारण भी यह उपवास मेरे लिए भारी हुए। फिर पहले के उपवास सुख-शान्ति से बीते थे, इसलिए चौदह उपवास के समय कुछ लापरवाह भी रहा था। पहले उप-

वास के समय हमेशा क्यूनी के कटि-स्नान करता; चौदह उपवास के समय में दो-तीन दिन बाद वे बन्द कर दिये। कुछ ऐसा हो गया था कि पानी का स्वाद ही अच्छा नहीं मालूम होता था, और पानी पीते ही जी मचलाने लगता था, जिससे पानी बहुत कम पिया जाता था। इससे गला सूख गया, शरीर क्षीण हो गया, और अन्त के दिनों मे बहुत धीरे बोल सकता था। इतना होते हुए भी लिखने-लिखाने का आवश्यक काम मैं आखिरी दिन तक कर सका था। और रामायण इत्यादि अन्त तक सुनता था। कुछ प्रश्नों और विषयों पर राय इत्यादि देने का आवश्यक कार्य भी कर सकता था।

गोखले से मिलने

यहाँ दक्षिण आफ्रिका के कितने ही संस्मरण छोड़ देने पड़ते हैं। १९१४ ई० में जब सत्याग्रह-संग्राम का अन्त हुआ तब गोखले की इच्छा से मैंने इंग्लैण्ड होकर देश आने का विचार किया था। इसलिए जुलाई महीने में कस्तूरबाई, केलनबेक और मैं, तीनों विलायत के लिए रवाना हुए। सत्याग्रह-संग्राम के दिनों में मैंने रेल में तीसरे दर्जे में सफर शुरू कर दिया था। इस कारण जहाज में भी तीसरे दर्जे के ही टिकट खरीदे, परन्तु इस तीसरे दर्जे में और हमारे तीसरे दर्जे में बहुत अन्तर है। हमारे यहाँ तो सोने-बैठने की जगह भी मुश्किल से मिलती

है और सफाई की तो बात ही क्या पूछना ! किन्तु इसके विप-
रीत यहाँ के जहाजों में जगह काफी रहती थी और सफाई का
भी अच्छा खयाल रक्खा जाता था। कम्पनी ने हमारे लिए कुछ
और भी सुविधायें कर दी थीं। कोई हमको दिक न करने
पावे, इस खयाल से एक पाखाने में ताला लगा कर ताली हमें
सौंप दी गई थी; और हम फलाहारी थे, इसलिए हमको ताजे
और सूखे फल देने की आज्ञा भी जहाज के खजाञ्ची को दे दी
गई थी। मामूली तौर पर तीसरे दर्जे के यात्रियों को फल कम
ही मिलते हैं और मेवा तो कतई नहीं मिलता। पर इस सुविधा
के बदौलत हम लोग समुद्र पर बहुत शान्ति से १८ दिन
बिता सके।

इस यात्रा के कितने ही संस्मरण जानने योग्य हैं। मि०
केलनबेक को दूरबीनों का बड़ा शौक़ था। एक-दो कीमती
दूरबीनें उन्होंने अपने साथ रक्खी थीं। पर इसके विषय में रोज
हमारे आपस में बहस होती। मैं उन्हें यह जँचाने की कोशिश
करता कि यह हमारे आदर्श के और जिस सादगी को हम पहुँ-
चना चाहते हैं उसके अनुकूल नहीं है। एक रोज तो हम दोनों में
इस विषय पर गरमागरम बहस हो गई। हम दोनों हमारी कैबिन
की खिड़की के पास खड़े थे।

मैंने कहा—'आपके मेरे बीच ऐसे झगड़े होने से तो क्या

यह बहतर नहीं है कि इस दूरबीन को समुद्र में फेंक दें ?'

मि० केलनबेक ने तुरंत उत्तर दिया—'जरूर, इस झगड़े की जड़ को फेंक ही दीजिए।'

मैंने कहा—'देखो, मैं फेंके देता हूँ।'

उन्होंने बे-रोक उत्तर दिया—'मैं सचमुच कहता हूँ, फेंक दीजिए।'

बस, मैंने दूरबीन फेंक दी। उसका दाम कोई सात पौंड था। परन्तु उसकी कीमत उसके रुपये की अपेक्षा मि० केलनबेक का जो मोह उसके साथ था उसमें थी। फिर भी मि० केलनबेक ने अपने मन को कभी इस बात का दुःख न होने दिया। उनके मेरे बीच तो ऐसी कितनी ही बातें हुआ करती थीं—यह तो उसका एक नमूना पाठकों को दिखाया है।

हम दोनों सत्य को सामने रखकर ही चलने का प्रयत्न करते थे। इसलिए मेरे-उनके इस संबंध के फल-स्वरूप हम रोज कुछ-न-कुछ नई बात सीखते। सत्य का अनुसरण करते हुए हमारे क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि सहज ही शमन हो जाते थे और यदि न होते तो सत्य की प्राप्ति न होती थी। राग-द्वेषादि से भरा मनुष्य सरल हो सकता है, वाचिक सत्य भले ही पाल ले, पर उसे शुद्ध सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध सत्य की शोध करने के मानी हैं राग-द्वेषादि द्वन्द्व से सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना।

जिन दिनों हमने यह यात्रा आरम्भ की, पूर्वोक्त उपवासो को पूरा किये मुझे बहुत समय नहीं बीता था। अभी मुझमें पूरी ताकत नहीं आई थी। जहाज मे डेक पर खूब घूमकर काफी खाने का और उसे पचाने का यत्न करता। पर ज्यों-ज्यों मैं अधिक घूमने लगा त्यों-त्यों पिंडलियो मे ज्यादा दर्द होने लगा। विलायत पहुँचने के बाद तो उलटा यह दर्द और बढ़ गया। वहाँ डाक्टर जीवराज मेहता से मुलाकात हो गई थी। उपवास और इस दर्द का इतिहास सुन कर उन्होंने कहा कि 'यदि आप थोड़े समय तक आराम नहीं करेंगे तो आपके पैरों के सदा के लिए सुन्न पड़ जाने का अंदेशा है।' अब जाकर मुझे पता लगा कि बहुत दिनों के उपवास से गई ताकत जल्दी लाने का या बहुत खाने का लोभ नहीं रखना चाहिए। उपवास करने की अपेक्षा छोड़ते समय अधिक सावधान रहना पड़ता है और शायद इसमें अधिक संयम भी होता है।

मदीरा में हमें समाचार मिले कि लड़ाई अब छिड़ने ही वाली है। इंगलैंड की खाड़ी में पहुँचते-पहुँचते खबर मिली कि लड़ाई शुरू होगई और हम रोक लिये गये। पानी मे जगह जगह गुप्त मार्ग बनाये गये थे और उनमे से हो कर हमें साउथेम्पटन पहुँचते हुए एक-दो दिन की ढील हो गई। युद्ध की घोषणा ४ अगस्त को हुई, हम लोग ६ अगस्त को विलायत पहुँचे।

लड़ाई में भाग

विलायत पहुँचने पर ख़बर मिली कि गोखले तो पेरिस में रह गये हैं, पेरिस के साथ आवागमन का सम्बन्ध बन्द हो गया है, और यह नहीं कहा जा सकता कि वे कब आयँगे। गोखले अपने स्वास्थ्य-सुधार के लिए फ्रांस गये थे, किन्तु बीच में युद्ध छिड़ जाने से वहीं अटक रहे। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नहीं था; और वे कब आवेंगे, यह कोई कह नहीं सकता था।

अब सवाल यह खड़ा हुआ कि इस दरम्यान करूँ क्या? इस लड़ाई के सम्बन्ध में मेरा धर्म क्या है? जेल के मेरे साथी

और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायत में बैरिस्टरी का अध्ययन कर रहे थे। सोराबजी को एक श्रेष्ठ सत्याग्रही के तौरपर इंग्लैण्ड में बैरिस्टरी की तालीम के लिए भेजा था कि जिससे दक्षिण आफ्रिका में आकर मेरा स्थान ले लें। उनका खर्च डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता देते थे। उनके और उनके मार्फत डाक्टर जीवराज मेहता इत्यादि के साथ, जो विलायत में पढ़ रहे थे, इस विषय पर सलाह-मशवरा किया। विलायत में उस समय जो हिन्दुस्तानी लोग रहते थे उनकी एक सभा एकत्र की गई और उनके सामने मैंने अपने विचार उपस्थित किये। मेरा यह मत हुआ कि विलायत में रहनेवाले हिन्दुस्तानियो को इस लड़ाई में अपना हिस्सा देना चाहिए। अंग्रेज़-विद्यार्थी लड़ाई में सेवा करने का अपना निश्चय प्रकाशित कर चुके हैं। हम हिन्दुस्तानियो को भी इससे कम सहयोग न देना चाहिए। मेरी इस बात के विरोध में इस सभा में बहुतेरी दलीलें पेश की गईं। कहा गया कि हमारी और अंग्रेजों की परिस्थिति मे हाथी घोड़े का अन्तर है—एक गुलाम दूसरा सरदार। ऐसी स्थिति में गुलाम अपने प्रभु की विपत्ति में उसे स्वेच्छापूर्वक कैसे मदद कर सकता है? फिर जो गुलाम अपनी गुलामी में से छूटना चाहता है, उसका धर्म क्या यह नहीं है कि प्रभु की विपत्ति से लाभ उठाकर अपना छुटकारा कर लेने की कोशिश करे? पर यह दलील मुझे उस

समय कैसे पट सकती थी ? यद्यपि मैं दोनों की स्थिति का महान् अन्तर समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिलकुल गुलाम की स्थिति नहीं मालूम होती थी। उस समय मैं यह समझे हुए था कि अंग्रेजी शासन-पद्धति की अपेक्षा कितने ही अंग्रेज अधिकारियों का दोष अधिक था और उस दोष को हम प्रेम से दूर कर सकते हैं। मेरा यह खयाल था कि यदि अंग्रेजों के द्वारा और उनकी सहायता से हम अपनी स्थिति का सुधार चाहते हों तो हमें उनकी विपत्ति के समय सहायता पहुँचाकर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए। ब्रिटिश-शासन-पद्धति को मैं दोषमय तो मानता था, परन्तु आज की तरह वह उस समय असह्य नहीं मालूम होती थी। अतएव आज जिस प्रकार वर्तमान शासन-पद्धति पर से मेरा विश्वास उठ गया है और आज मैं अंग्रेजी राज्य की सहायता नहीं कर सकता, इसी तरह उस समय जिन लोगों का विश्वास इस पद्धति पर से ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी अधिकारियों पर से भी उठ चुका था, वे मदद करने के लिए कैसे तैयार हो सकते थे ?

उन्होंने इस समय को प्रजा की माँगें जोर के साथ पेश करने और शासन में सुधार कराने की आवाज उठाने के लिए बहुत अनुकूल पाया। मैंने इसे अंग्रेजों की आपत्ति का समय समझ कर माँगें पेश करना उचित न समझा और जबतक

लड़ाई चल रही है तबतक हक़ माँगना मुल्तवी रखने के संयम में सभ्यता और दीर्घ-दृष्टि समझी। इसलिए मैं अपनी सलाह पर मज़बूत बना रहा और कहा कि जिन्हें स्वयं-सेवकों में नाम लिखाना हो वे लिखा दें। नाम अच्छी संख्या में आये। उनमें लगभग सब प्रान्तों और सब धर्मों के लोगों के नाम थे।

फिर लार्ड क्रू के नाम एक पत्र भेजा गया। उसमें हम लोगों ने अपनी यह इच्छा और तैयारी प्रकट की कि हम हिन्दुस्तानियों के लिए घायल सिपाहियों की सेवा-शुश्रूषा करने की तालीम की यदि आवश्यकता दिखाई दे तो उसके लिए हम तैयार हैं। कुछ सलाह-मशवरा करने के बाद लार्ड क्रू ने हम लोगों का प्रस्ताव स्वीकार किया और इस बात के लिए हमारा अहसान माना कि हमने ऐसे ऐन मौके पर साम्राज्य की सहायता करने की तैयारी दिखाई।

जिन-जिन लोगों ने अपने नाम लिखाये थे उन्होंने प्रसिद्ध डाक्टर केन्टली की देख-रेख में घायलों की शुश्रूषा करने की प्राथमिक तालीम शुरू की। छः सप्ताह का छोटा-सा शिक्षा-क्रम रक्खा गया था और इतने समय में घायलों को प्राथमिक सहायता करने की सब विधियाँ सिखा दी जाती थीं। हम कोई ८० स्वयं-सेवक इस शिक्षा-क्रम में सम्मिलित हुए। छः सप्ताह के बाद परीक्षा ली गई तो उसमें सिर्फ़ एक ही शख्स फ़ेल हुआ। जो

लोग पास हो गये, उनके लिए सरकार की ओर से क़वायद वग़ैरा सिखाने का प्रबन्ध हुआ। क़वायद सिखाने का भार कर्नल बैंकर को सौंपा गया और वह इस टुकड़ी के मुखिया बनाये गये।

इस समय विलायत का दृश्य देखने लायक था। युद्ध से लोग घबराते नहीं थे, बल्कि सब उसमें यथाशक्ति मदद करने के लिए जुट पड़े। जिनका शरीर हट्टा-कट्टा था, वे नवयुवक सैनिक शिक्षा ग्रहण करने लगे। परन्तु अशक्त बूढ़े और स्त्री आदि भी ख़ाली हाथ न बैठे रहे। उनके लिए भी काम तो था ही। वे युद्ध में घायल सैनिकों के लिए कपड़ा इत्यादि सीने-काटने का काम करने लगीं। वहाँ स्त्रियों का 'लाइसियन' नामक एक क्लब है। उसके सभ्यों ने सैनिक-विभाग के लिए आवश्यक कपड़े यथाशक्ति बनाने का जिम्मा ले लिया। सरोजिनीदेवी भी इसकी सभ्य थीं। उन्होंने इसमें खूब दिलचस्पी ली थी। उनके साथ मेरा यह प्रथम ही परिचय था। उन्होंने कपड़े ब्योंत कर मेरे सामने उनका एक ढेर रख दिया और कहा कि जितने सिला सको, उतने सिला कर मुझे दे देना। मैंने उनकी इच्छा का स्वागत करते हुए घायलों की शुश्रूषा की उस तालीम के दिनों में, जितने कपड़े तैयार हो सके उतने करके उनको दे दिये।

धर्म की समस्या

युद्ध में काम करने के लिए हम कुछ लोगों ने सभा करके जो अपने नाम सरकार को भेजे, इसकी खबर दक्षिण आफ्रिका पहुँचते ही वहां से दो तार मेरे नाम आये। उनमें से एक पोलक का था। उन्होंने पूछा था—'आपका यह कार्य अहिंसा-सिद्धान्त के खिलाफ तो नहीं है?'

मैं ऐसे तार की आशंका कर ही रहा था; क्योंकि 'हिन्द-स्वराज्य' में मैंने इस विषय की चर्चा की थी और दक्षिण आफ्रिका में तो उसकी चर्चा निरन्तर हुआ ही करती थी। हम सब इस बात को मानते थे कि युद्ध अनीति-मय है। ऐसी हालत में और

जब कि मैं अपने पर हमला करनेवाले पर भी मुकदमा चलाने के लिए तैयार नहीं हुआ था तो फिर जहाँ दो राज्यों में युद्ध चल रहा हो और जिसके भले या बुरे होने का मुझे पता न हो उसमें मैं सहायता कैसे कर सकता हूँ, यह प्रश्न था। हालाँ कि मित्र लोग यह जानते थे कि मैंने बोअर-संग्राम में योग दिया था तो भी उन्होंने यह मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारों में परिवर्तन हो गया होगा।

और बात दरअसल यह थी कि जिस विचार-सरणि के अनुसार मैं बोअर-युद्ध में सम्मिलित हुआ था उसीका अनुसरण इस समय भी किया गया था। मैं ठीक-ठीक देख रहा था कि युद्ध में शरीक होना अहिंसा के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है; परन्तु बात यह है कि कर्तव्य का भान मनुष्य को हमेशा दिन की तरह स्पष्ट नहीं दिखाई देता। सत्य के पुजारी को बहुत बार इस तरह गोते खाने पड़ते हैं।

अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसा की होली में फँसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये बिना नहीं जी सकता। खाते-पीते, बैठते-उठते, तमाम क्रियाओं में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता हो,

उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो, और उसे बचाने का यथाशक्ति प्रयास करता हो, तो समझना चाहिए कि वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी, परन्तु इसमे कोई सन्देह नहीं कि कोई भी देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

फिर अहिंसा के पेट में ही अद्वैत भावना का भी समावेश है। और यदि प्राणिमात्र में भेद-भाव हो तो एक के काम का असर दूसरे पर होता है और इस कारण भी मनुष्य हिंसा से सोलहों आना अछूता नहीं रह सकता। जो मनुष्य समाज में रहता है वह, अनिच्छा से ही क्यों न हो, मनुष्य-समाज की हिंसा का हिस्सेदार बनता है। ऐसी दशा में जब दो राष्ट्रों में युद्ध हो तो अहिंसा के अनुयायी व्यक्ति का यह धर्म है कि वह उस युद्ध को रुकवावे। परन्तु जो इस धर्म का पालन न कर सके, जिसे विरोध करने का सामर्थ्य न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार न प्राप्त हुआ हो, वह युद्ध-कार्य में शामिल हो सकता है और ऐसा करते हुए भी उसमें से अपने को, अपने देश को और संसार को निकालने की हार्दिक कोशिश करता है।

मैं चाहता था कि अंग्रेजी राज्य के द्वारा अपनी, अर्थात् अपने राष्ट्र की, स्थिति का सुधार करूँ। पर मैं तो इङ्गलैंड मे बैठा

हुआ इङ्गलैंड की नौ-सेना से सुरक्षित था। उस बल का उपयोग इस तरह करके मैं उसकी हिंसकता में सीधे-सीधे भागी हो रहा था। इसलिए यदि मुझे इस राज्य के साथ किसी तरह संबंध रखना हो, इस साम्राज्य के झण्डे के नीचे रहना हो, तो या तो मुझे युद्ध का खुल्लमखुल्ला विरोध करके जबतक उस राज्य की युद्ध-नीति नहीं बदल जाय तबतक सत्याग्रह-शास्त्र के अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिए, अथवा भंग करने योग्य कानूनों का सविनय भंग करके जेल का रास्ता लेना चाहिए, या उसके युद्ध-कार्य में शरीक हो कर उसका मुकाबला करने का सामर्थ्य और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। विरोध की शक्ति मेरे अन्दर थी नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि युद्ध में शरीक होने का एक रास्ता ही मेरे लिए खुला था।

जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेवार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।

पोलक का तार आने के पहले ही मेरे मन में ये सब विचार उठ चुके थे। उनका तार आते ही मैंने कुछ मित्रों से इसकी चर्चा की। मैंने अपना धर्म समझ कर युद्ध में योग दिया था और आज भी मैं विचार करता हूँ तो इस विचार-सरणि में मुझे दोष नहीं दिखाई पड़ता। ब्रिटिश-साम्राज्य के संबन्ध में उस समय जो विचार मेरे थे उनके अनुसार ही मै युद्ध में शरीक हुआ था और इसलिए मुझे उसका कुछ भी पश्चात्ताप नहीं है।

मैं जानता हूँ कि अपने इन विचारों का औचित्य मैं अपने समस्त मित्रों के सामने उस समय भी सिद्ध नहीं कर सका था। यह प्रश्न सूक्ष्म है। इसमें मत-भेद के लिए गुंजाइश है। इसीलिए अहिंसा-धर्म को मानने वाले और सूक्ष्म-रीति से उसका पालन करने वालों के सामने जितनी हो सकती है खोल कर मैंने अपनी राय पेश की है। सत्य का आग्रही व्यक्ति रूढ़ि का अनुसरण करके ही हमेशा कार्य नहीं करता, न वह अपने विचारों पर हठ-पूर्वक आरूढ़ रहता है। वह हमेशा उसमें दोष होने की संभावना मानता है और उस दोष का ज्ञान हो जाने पर हर तरह की जोखिम उठाकर भी उसको मंजूर करता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है।

सत्याग्रह की चकमक

इस तरह अपना धर्म समझ कर मैं युद्ध में पड़ा तो सही, पर मेरे नसीब में यह नहीं बदा था कि उसमें सीधा भाग लूँ, बल्कि ऐसे नाजुक मौके पर सत्याग्रह तक करने की नौबत आगई।

मैं लिख चुका हूँ कि जब हमारे नाम मंजूर हो गये और लिखे जा चुके तब हमें पूरी क़वायद सिखाने के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया गया। हम सब की यह समझ थी कि यह अधिकारी महज युद्ध की तालीम देने के लिए हमारे मुखिया थे, शेष सब बातों में टुकड़ी का मुखिया मैं था। मेरे साथियों के

प्रति मेरी जवाबदेही थी और उनकी मेरे प्रति। अर्थात् हम लोगों का यह खयाल था कि उस अधिकारी को सारा काम मेरी मार्फत लेना चाहिए। परन्तु जिस तरह 'पूत के पांव पालने में ही नजर आते हैं' उस तरह उस अधिकारी की आँख हमें पहले ही दिन कुछ और ही दिखाई दी। सोराबजी बहुत होशियार आदमी थे। उन्होंने मुझे चेताया, 'भाईसाहब, सम्हल कर रहना। यह आदमी तो मालूम होता है अपनी जहाँगीरी चलाना चाहता है। हमें उसका हुक्म बंठाने की जरूरत नहीं है। हम उसे अपना एक शिक्षक समझते हैं। यह तो ठीक; पर यह जो नौ-जवान आये हैं वे भी हमपर हुक्म चलाते हुए आये हैं। यह नवयुवक आक्सफोर्ड के विद्यार्थी थे, और हमें सिखाने के लिए आये थे। उन्हें बड़े अफसर ने हमारे ऊपर अफसर मुकर्रर किया था। मैं भी सोराबजी की बताई बात देख चुका था। मैंने सोराबजी को तसल्ली दिलाई और कहा—कुछ फिकर मत करो। परन्तु सोराबजी ऐसे आदमी नहीं थे, जो झट मान जाते।

"आप तो हैं भोले-भण्डारी। ये लोग मीठी-मीठी बातें बनाकर आपको धोखा देंगे और जब आपकी आँखें खुलेंगी तब कहोगे—'चलो, अब सत्याग्रह करो।' और फिर आप हमें भी बरबाद कर देंगे।" सोराबजी ने हँसते हुए कहा।

मैंने जवाब दिया—' मेरा साथ करने में सिवा बरबादी के

और क्या अनुभव हुआ है ?' और सत्याग्रही का जन्म तो धोखा खाने के लिए ही हुआ है। इसलिए परवा नहीं अगर ये साहब मुझे धोखा दे दें। मैंने आपसे बीसों बार नहीं कहा है कि अन्त को वही धोखा खाता है, जो दूसरों को धोखा देता है ?'

यह सुनकर सोराबजी ने कहकहा लगाया—'तो अच्छी बात है; लो, धोखा खाया करो। इस तरह किसी दिन सत्याग्रह में मर मिटोगे और साथ-साथ हमको भी ले डूबोगे।'

इन शब्दों को लिखते हुए मुझे स्वर्गीय मिस हॉवहाउस के असहयोग के दिनों में लिखे बोल याद आते हैं—'आपको सत्य के लिए किसी दिन फाँसी पर लटकना पड़े तो आश्चर्य नहीं। ईश्वर आपको सन्मार्ग दिखावे और आपकी रक्षा करे।' सोराब-जी के साथ यह बात-चीत तो उस समय हुई थी जब उस अधि-कारी की नियुक्ति का आरम्भ-काल था। परन्तु उस आरम्भ और अन्त का अन्तर थोड़े ही दिन का था। इसी बीच मुझे पसली में वरम की बीमारी जोर के साथ पैदा हो गई थी।

चौदह दिन के उपवास के बाद अभी मेरा शरीर पनपा नहीं था, फिर भी मैं क़वायद में पीछे नहीं रहता था। और कई बार घर से क़वायद के मैदान तक पैदल जाता था, कोई दो मील दूर वह जगह थी। और इसीके फलस्वरूप मुझे बिछौने का सेवन करना पड़ा था।

इसी स्थिति में मुझे कैम्प में जाना पड़ता था। दूसरे लोग तो वहाँ रह जाते थे और मैं शाम को घर वापिस आ जाता। यहीं सत्याग्रह का अवसर खड़ा हो गया था। उस अफ़सर ने अपनी हुकूमत चलाई। उसने हमें साफ़-साफ़ कह दिया कि हर बात में मैं ही आपका मुखिया हूँ। उसने अपनी अफ़सरी के दो-चार पदार्थ-पाठ भी हमें सिखाये। सोराबजी मेरे पास पहुँचे। वह इस 'जहाँगीरी' को बरदाश्त करने के लिए तैयार न थे। उन्होंने कहा—'हमें सब हुक्म आपकी मार्फ़त ही मिलने चाहिएँ। अभी तो हम तालीमी छावनी में हैं; पर अभी से देखते हैं कि बेहूदे हुक्म छूटने लगे हैं। उन जवानों में और हममें बहुतेरी बातों में भेद-भाव रक्खा जाता है। यह हमें बरदाश्त नहीं हो सकता। इसकी सफ़ाई तुरन्त होनी चाहिए। नहीं तो हमारा सब काम बिगड़ जायगा। ये सब विद्यार्थी तथा दूसरे लोग जो इस काम में शरीक हुए हैं, एक भी बेहूदा हुक्म बरदाश्त न करेंगे। स्वाभिमान की रक्षा करने के उद्देश्य से जो काम हमने अंगीकार किया है, उसमें यदि हमें अपमान ही सहन करना पड़े तो यह नहीं हो सकता।'

मैं उस अफ़सर के पास गया और मेरे पास जितनी शिकायतें आई थीं, सब उसे सुना दीं। उसने कहा—'ये सब शिकायतें मुझे लिखकर दे दो।' साथ ही उसने अपना अधिकार भी जताया।

कहा—'शिकायत आपके मार्फत नहीं हो सकती। उन्हें नायब अफसरों के मार्फत मेरे पास सीधी आनी चाहिए।' मैंने उत्तर में कहा—'मुझे अफसरी नहीं करना है। फौजी रूप में तो मैं एक मामूली सिपाही ही हूँ। परन्तु हमारी टुकड़ी के मुखिया की हैसियत से आपको मुझे उनका प्रतिनिधि मंजूर करना चाहिए।' मैंने अपने पास आई शिकायतें भी पेश कीं—'नायब अफसर हमारी टुकड़ी से बिना पूछे ही मुकर्रर किये गये हैं और उनके व्यवहार से हमारे अन्दर बहुत असन्तोष फैल गया है। इसलिए उनको वहाँ से हटा दिया जाय और हमारी टुकड़ी को अपना मुखिया चुनने का अधिकार दिया जाय।'

पर यह बात उनको जँची नहीं। उन्होंने मुझसे कहा कि टुकड़ी का अपने अफसरों को चुनना ही फौजी कानून के बर-खिलाफ है और यदि उस अफसर को हटा दिया जाय तो टुकड़ी में आज्ञा-पालन का नाम-निशान न रह जायगा'।

इसपर हमने अपनी टुकड़ी की सभा की। उसमें सत्याग्रह के गम्भीर परिणामों की ओर सबका ध्यान दिलाया। लगभग सबने सत्याग्रह की सौगन्ध खाई। हमारी सभा ने प्रस्ताव किया कि यदि ये वर्तमान अफसर नहीं हटाये गये और टुकड़ी को अपना मुखिया पसन्द न करने दिया जाय तो हमारी टुकड़ी कवायद में और केम्प में जाना बन्द कर देगी।

अब मैंने अफ़सर को एक पत्र लिखकर उसमें उसके रवैये पर अपना घोर असन्तोष प्रकट किया और कहा कि मुझे अधिकार की जरूरत नहीं है। मैं तो केवल सेवा करके इस काम को सांगोपांग पूरा करना चाहता हूँ। मैंने उन्हें यह भी बताया कि बोअर-संग्राम में मैंने कभी अधिकार नहीं पाया था। फिर भी कर्नल गेलवे और हमारी टुकड़ी में कभी झगड़े का मौक़ा नहीं आया था और वह मेरे द्वारा ही मेरी टुकड़ी की इच्छा जानकर सब काम करते थे। इस पत्र के साथ उस प्रस्ताव की नक़ल भी भेज दी थी।

किन्तु उस अफ़सर पर इसका कुछ भी असर न हुआ। उसका तो उलटा यह खयाल हुआ कि सभा करके हमारी टुकड़ी ने जो यह प्रस्ताव पास किया है, वह भी सैनिक नियम और मर्यादा का भारी उल्लंघन था।

उसके बाद भारत-मन्त्री को मैंने एक पत्र में ये सब बातें लिख दीं और हमारी सभा का प्रस्ताव भी उनके पास भेज दिया।

भारत-मन्त्री ने मुझे उत्तर में सूचित किया कि दक्षिण आफ्रिका की हालत दूसरी थी। यहाँ तो टुकड़ी के बड़े अफसर को नायब-अफसर मुकर्रर करने का हक़ है। फिर भी भविष्य में वे अफसर आपकी सिफारिशों पर ध्यान दिया करेंगे।

उसके बाद तो उनके-मेरे बीच बहुत पत्र-व्यवहार हुआ है।

परन्तु उन सब कड़ुवे अनुभवों का वर्णन यहाँ करके इस अध्याय को मैं लम्बा करना नहीं चाहता।

परन्तु इतना तो कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि वे अनुभव वैसे ही थे, जैसे कि रोज हमें हिन्दुस्तान में होते रहते हैं। अफसरों ने कहीं धमका कर, कहीं तरकीब से काम लेकर, हमारे अन्दर फूट डाल दी। कसम खाने के बाद भी कितने ही लोग छल और बल के शिकार हो गये।

इतने ही में नेटली अस्पताल में एकाएक घायल सिपाही अकल्पित संख्या में आ पहुँचे और इनकी शुश्रूषा के लिए हमारी सारी टुकड़ी की जरूरत पड़ी। अफसर जिनको अपनी ओर कर सके थे वे तो नेटली पहुँच गये पर दूसरे लोग न गये। इण्डिया-आफिस को यह बात अच्छी न लगी। मैं था तो बीमार और बिछौने पर पड़ा रहता था; परन्तु टुकड़ी के लोगों से मिला करता था। मि० राबर्ट्स से मेरा काफी परिचय हो गया था। वह मुझसे मिलने आ पहुँचे और जो लोग बाकी रह गये थे उन्हें भी भेजने का आग्रह करने लगे। उनकी सूचना यह थी कि वे एक अलग टुकड़ी बनाकर जावें। नेटली-अस्पताल में तो टुकड़ी को वहाँ के अफसर के ताबे रहना होगा, इसलिए मानहानि का भी सवाल नहीं रहेगा। इधर सरकार को उनके जाने से सन्तोष हो जायगा और उधर जो बहुतेरे जख्मी एकाएक आ गये हैं, उनको भी

शुश्रूषा हो जायगी। मेरे साथियों और मुझको यह तजवीज पसंद हुई और जो विद्यार्थी रह गये वे भी नेटली चले गये। अकेला मैं दाँत पीसता बिछौने में पड़ा रहा।

गोखले की उदारता

ऊपर मैं लिख आया हूँ कि विलायत में मुझे पसली के दर्द की शिकायत हो गई थी। इस बीमारी के वक्त गोखले विलायत में आ पहुँचे थे। उनके पास केलनबेक और मैं हमेशा जाया करते। उनसे अधिकांश में युद्ध की ही बातें हुआ करतीं। जर्मनी का भूगोल केलनबेक की जबान पर था, और यूरोप की यात्रा भी उन्होंने बहुत की थी, इसलिए वह नक्शा फैलाकर गोखले को लड़ाई की छावनियाँ दिखाते।

जब मैं बीमार हुआ था तब मेरी बीमारी भी हमारी चर्चा का एक विषय हो गई थी। भोजन के प्रयोग तो उस समय भी

मेरे चल ही रहे थे। उस समय मैं मूंगफली, कच्चे और पक्के केले, नीबू, जैतून का तेल, टमाटर, अंगूर इत्यादि चीजें खाता था। दूध, अनाज, दाल वगैरा चीजें बिलकुल न लेता था। मेरी देख-भाल जीवराज मेहता करते थे। उन्होंने मुझे दूध और अनाज लेने पर बड़ा जोर दिया। इसकी शिकायत ठेठ गोखले तक पहुँची। फलाहार संबन्धी मेरी दलीलों के वह बहुत क़ायल न थे। तन्दुरुस्ती की हिफ़ाजत के लिए डॉक्टर जो-जो बतावें, वह लेना चाहिए, यही उनका मत था।

गोखले के आग्रह को न मानना मेरे लिए बहुत कठिन बात थी। जब उन्होंने बहुत ही जोर दिया तब मैंने उनसे २४ घण्टे तक विचार करने की इजाज़त माँगी। केलनबेक और मैं घर आये। रास्ते में मैंने उनके साथ चर्चा की कि इस समय मेरा क्या धर्म है। मेरे प्रयोग में वह मेरे साथ थे। उन्हें यह प्रयोग पसन्द भी था। परन्तु उनका रुख इस बात की तरफ़ था कि यदि स्वास्थ्य के लिए मैं इस प्रयोग को छोड़ दूँ तो ठीक होगा। इसलिए अब अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ का फैसला लेना ही बाकी रह गया था।

सारी रात मैं विचार में डूबा रहा। अब यदि मैं अपना सारा प्रयोग छोड़ दूँ तो मेरे सारे विचार और मन्तव्य धूल में मिल जाते थे। फिर उन विचारों में मुझे भूल नहीं मालूम होती थी।

इसलिए प्रश्न यह था कि किस अंश तक गोखले के प्रम के अधीन होना मेरा धर्म है, अथवा शरीर-रक्षा के लिए ऐसे प्रयोग किस तरह छोड़ देना चाहिए। अन्त को मैंने यह निश्चय किया कि धार्मिक दृष्टि से प्रयोग का जितना अंश आवश्यक है उतना रक्खा जाय और शेष बातों में डाक्टरों की आज्ञा का पालन किया जाय। मेरे दूध त्यागने में धर्म-भावना की प्रधानता थी। कलकत्ते में गाय-भैंस का दूध जिन घातक विधियों द्वारा निकाला जाता है उसका दृश्य मेरी आँखो के सामने था। फिर यह विचार भी मेरे सामने था कि मांस की तरह पशु का दूध भी मनुष्य की खुराक नहीं हो सकती। इसलिए दूध-त्याग पर दृढ़ निश्चय करके मैं सुबह उठा। इस निश्चय से मेरा दिल बहुत हलका हो गया था, किन्तु फिर भी गोखले का भय तो था ही। किन्तु साथ ही मुझे यह भी विश्वास था कि वह मेरे निश्चय को तोड़ने का उद्योग न करेंगे।

शाम को 'नेशनल लिबरल क्लब' में हम उनसे मिलने गये, उन्होंने तुरन्त पूछा—'क्यों डाक्टर की सलाह के अनुसार ही चलने का निश्चय किया न ?'

मैंने धीरे से जवाब दिया—'और सब बातें मैं मान लूँगा, परन्तु आप एक बात पर जोर न दीजिएगा। दूध और दूध की बनी चीजें और मांस इतनी चीजें मैं न लूँगा। और इनके न

लेने से यदि मौत भी आती हो तो मैं समझता हूँ उसका स्वागत कर लेना मेरा धर्म है।'

'आपने यह अन्तिम निर्णय कर लिया है?' गोखले ने पूछा।

'मैं समझता हूँ कि इसके सिवा मैं आपको दूसरा उत्तर नहीं दे सकता। मैं जानता हूँ कि इससे आपको दुःख होगा। परन्तु मुझे क्षमा कीजिएगा।' मैंने जवाब दिया।

गोखले ने कुछ दुःख से, परन्तु बड़े ही प्रेम से कहा—"आपका यह निश्चय मुझे पसन्द नहीं। मुझे इसमें धर्म की कोई बात नहीं दिखाई देती। पर अब मैं इस बात पर जोर न दूँगा।' यह कहते हुए जीवराज मेहता की ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा—'अब गाँधी को ज्यादा दिक न करो। उन्होंने जो मर्यादा बाँध ली है उसके अन्दर इन्हें जो-जो चीजें ली जा सकती हैं वही देनी चाहिएँ।'

डाक्टर ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की; पर वह लाचार थे। मुझे मूँग का पानी लेने की सलाह दी। कहा—'उसमें हींग का बघार दे लेना।' मैंने इसे मंजूर कर लिया। एक-दो दिन मैंने वह पानी लिया भी; परन्तु इससे उलटा मेरा दर्द बढ़ गया। मुझे वह मुआफिक नहीं हुआ। इससे मैं फिर फलाहार पर आगया। ऊपर के इलाज तो डाक्टर ने जो मुनासिब समझे किये ही।

उनसे अलबत्ते आराम था। परन्तु मेरी इन नवीनताओं पर वह बहुत बिगड़ते। इसी बीच गोखले देश (भारतवर्ष) को रवाना हुए; क्योंकि वह लन्दन का अक्तूबर-नवम्बर का कोहरा सहन नहीं कर सके।

४२

इलाज क्या किया ?

पसली का दर्द मिट नहीं रहा था। इससे मेरी चिंता बढ़ी। पर मैं इतना जरूर जानता था कि दवा-दारू से नहीं, बल्कि भोजन में परिवर्तन करने से और कुछ बाह्य उपचार से बीमारी जरूर अच्छी हो जानी चाहिए।

१८९० ई० में मैं डाक्टर एलिन्सन से मिला था, जो कि फलाहारी थे और भोजन के परिवर्तन द्वारा ही बीमारियों का इलाज करते थे। मैंने उन्हें बुलाया। उन्होंने आकर मेरा शरीर देखा। तब मैंने उनसे अपने दूध के विरोध का जिक्र किया। उन्होंने मुझे दिलासा दिलाया और कहा 'दूध की कोई जरूरत नहीं।

मैं तो आपको कुछ दिन ऐसी ही खूराक पर रखना चाहता हूँ, जिसमें किसी तरह चर्बी का अंश न हो।' यह कहकर पहले तो मुझे सिर्फ सूखी रोटी, कच्चे शाक और फल पर ही रहने को कहा। कच्चे शाकों में मूली, प्याज तथा इसी तरह की दूसरी चीजें और सब्जी एवं फलों में खासकर नारंगी। इन शाकों को कसकर या पीसकर खाने की विधि बताई थी। कोई तीनेक दिन इसपर रहा होऊँगा। परन्तु कच्चे शाक मुझे बहुत मुआफिक नहीं हुए। मेरे शरीर की हालत ऐसी नहीं थी कि वह प्रयोग विधि-पूर्वक किया जा सके, और न उस समय मेरा इस बात पर विश्वास ही था। इसके अलावा उन्होंने इतनी बातें और बताईं। चौबीसों घंटे खिड़की खुली रखना, रोज गुनगुने पानी से नहाना, दर्द की जगह पर तेल मलना और पाव-आध घंटे तक खुली हवा में घूमना। यह सब मुझे पसंद आया। घर में खिड़कियाँ फ्रेंच-तर्ज की थीं। उनको सारा खोल देने से अन्दर वर्षा का पानी आता था। ऊपर का रोशनदान ऐसा नहीं था जो खुल सकता। इसलिए उसके काँच तुड़वाकर वहाँ से चौबीसों घण्टे हवा आने का रास्ता कर लिया। जब पानी नहीं बरसता था तब फ्रेंच खिड़कियाँ भी खोल लेता था।

इतना सब करने से स्वास्थ्य कुछ सुधरा जरूर। अभी बिलकुल अच्छा तो नहीं हो पाया था। कभी-कभी लेडी सिसिलीया

राबर्ट्स मुझे देखने आती । उनसे मेरा अच्छा परिचय हो गया था । उनकी प्रबल इच्छा थी कि मैं दूध पिया करूँ । सो तो मैं करता नहीं था । इसलिए उन्होंने दूध के गुण वाले पदार्थों की छानबीन शुरू की । उनके किसी मित्र ने 'माल्टेडमिल्क' बताया और अनजान में ही उन्होंने कह दिया कि इसमें दूध का लेश-मात्र नहीं है, बल्कि रासायनिक विधि से बनाई दूध के गुण रखने वाली वस्तुओं की बुकनी है । मैं यह जान चुका था कि लेडी राबर्ट्स मेरी धार्मिक भावनाओं को बड़े आदर की दृष्टि से देखती थी । इस कारण मैंने उस बुकनी को पानी में डालकर पिया तो मुझे उसमें दूध जैसा ही स्वाद आया । अब मैंने 'पानी पीकर घर पूछने' जैसी बात की । पी चुकने के बाद बोतल पर लगी चिट को पढ़ा तो मालूम हुआ कि यह तो दूध की ही एक बनावट है । इसलिए एक ही बार पीकर उसे छोड़ देना पड़ा । लेडी राबर्ट्स को मैंने इसकी खबर की और लिखा कि आप जरा चिन्ता न करें । सुनते ही वह मेरे घर दौड़ आईं और इस भूल पर बड़ा अफ़सोस प्रकट किया । उनके मित्र ने बोतल वाली चिट पढ़ी ही नहीं थी । मैंने इस भली बहन को तसल्ली दी और इस बात के लिए उनसे माफ़ी माँगी कि जो चीज़ इतने कष्ट के साथ आपने भिजवाई, उसे मैं ग्रहण न कर सका । और मैंने उनसे यह भी कह दिया कि मैंने तो अनजान में यह बुकनी ली है सो इसके

लिए मुझे पश्चात्ताप या प्रायश्चित करने का कोई कारण नहीं है।

लेडी राबर्ट्स के साथ के और भी मधुर संस्मरण हैं तो; पर उन्हें मैं यहीं छोड़ ही देना चाहता हूँ। ऐसे तो बहुतसे संस्मरण हैं, जिनका महान् आनन्द मुझे बहुत विपत्तियों और विरोध में भी मिल सका है। श्रद्धावान् मनुष्य ऐसे मीठे संस्मरणों में यह देखता है कि ईश्वर जिस तरह दुःख रूपी कड़वी औषध देता है उसी तरह वह मैत्री के मीठे अनुपान भी उसके साथ देता है।

दूसरी बार जब डाक्टर एलिनसन देखने आये तो उन्होंने और भी चीजों के खाने की छुट्टी दी और शरीर में चर्बी बढ़ाने के लिए मूँगफली आदि सूखे मेवों के बीजों का मक्खन अथवा जैतून का तेल लेने के लिए कहा। कच्चे शाक मुआफिक न हों तो उन्हें पकाकर चावल के साथ लेने की सलाह दी। यह तजवीज मुझे बहुत मुआफिक हुई।

परन्तु बीमारी बिलकुल निर्मूल न हुई। सम्हाल रखने की जरूरत तो अभी थी ही। अभी बिछौने पर ही पड़ा रहना पड़ता था। डाक्टर मेहता बीच-बीच में आकर देख जाया करते थे। और जब आते तभी कहा करते—अगर मेरा इलाज कराओ तो देखते-देखते आराम हो जाय।

यह सब हो रहा था कि एक रोज मि० रोबर्ट्स मेरे घर

आये और मुझे जोर देकर कहा कि आप देश चले जाओ। उन्होंने कहा, 'ऐसी हालत में आप नेटली हर्गिज नहीं जा सकते। कड़ाके का जाड़ा तो अभी आगे आने वाला है। मैं तो आग्रह के साथ कहता हूँ कि आप देश चले जायँ और वहाँ जाकर चंगे हो जायँगे। तबतक यदि युद्ध जारी रहा तो उसमें मदद करने के और भी बहुत अवसर मिल जायँगे। और नहीं तो जो कुछ आपने यहाँ किया है उसे मैं कम नहीं समझता।'

मुझे उनकी यह सलाह अच्छी मालूम हुई और मैंने देश जाने की तैयारी की।

बिदा

मि० केलनबेक देश जाने के निश्चय से हमारे साथ रवाना हुए थे। विलायत में हम साथ ही रहते थे। युद्ध शुरू हो जाने के कारण जर्मन लोगों पर खूब सख्त देख-रेख थी और हम सबको इस बात पर शक था कि केलनबेक हमारे साथ आ सकेंगे या नहीं। उनके लिए पास प्राप्त करने का बहुत प्रयत्न किया गया। मि० राबर्ट्स खुद उन्हें पास दिला देने के लिए रजामन्द थे। उन्होंने सारा हाल तार द्वारा वाइसराय को लिखा तुरन्त लार्ड हार्डिंग का सीधा और सूखा जवाब आया—"हमें अफसोस है, हम इस समय किसी तरह

जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं हैं ।' हम सबने इस जवाब के औचित्य को समझा। केलनबेक के वियोग का दुःख तो मुझे हुआ ही परन्तु मैंने देखा कि मेरी अपेक्षा उनको ज्यादा हुआ । यदि वह भारतवर्ष में आ सके होते तो आज एक बढ़िया किसान और बुनकर का सादा जीवन व्यतीत करते होते। अब वह दक्षिण आफ्रिका मे अपना वही असली जीवन व्यतीत करते हैं और मकान बनाने वाले का धंधा बड़ी धूम से कर रहे हैं।

हमने तीसरे दरजे का टिकट लेने की कोशिश की; परन्तु 'पी ऐन्ड ओ' के जहाज मे तीसरे दरजे का टिकट नहीं मिलता था, इसलिए दूसरे दरजे का लेना पड़ा। दक्षिण आफ्रिका से हम कितना ही ऐसा फलाहार साथ बाँध लाये थे जो जहाजो मे नहीं मिल सकता। वह हमने साथ रख लिया था और दूसरी चीजें तो जहाज में मिलती थीं ।

डाक्टर मेहता ने मेरे शरीर को मीट्स प्लास्टर के पट्टे से बाँध डाला था और मुझे कहा था कि पट्टा बँधा रहने देना। दो दिन के बाद वह मुझे सहन न हो सका और बड़ी मुश्किल के बाद मैंने उसे उतार डाला और नहाने-धोने भी लगा। फल और मेवे के सिवाय और कुछ नहीं खाता था। इससे तबियत दिन-दिन सुधरने लगी और स्वेज की खाड़ी में पहुँचने तक तो अच्छी हो गई। यद्यपि इससे शरीर कमजोर हो गया था

फिर भी बीमारी का भय मिट गया था। और मैं रोज धीरे-धीरे कसरत बढ़ाता गया। स्वास्थ्य में यह शुभ परिवर्तन तो मेरा यह खयाल है कि समशीतोष्ण हवा के बदौलत ही हुआ।

पुराने अनुभव अथवा और किसी कारण से हो अंग्रेज यात्रियों के और हमारे अन्दर जो अन्तर मैंने देखा वह दक्षिण आफ्रिका से आते हुए भी नहीं देखा था। वहाँ भी अन्तर तो था, परन्तु वहाँ उससे और ही प्रकार का भेद दिखाई दिया। किसी-किसी अंग्रेज के साथ बात-चीत होती; परन्तु वह भी 'साहब-सलामत' से आगे नहीं। हार्दिक भेंट नहीं होती थी। किन्तु दक्षिण आफ्रिका के जहाज में और दक्षिण आफ्रिका में हार्दिक भेंट हो सकती थी। इस भेद का कारण तो मैं यही समझा कि इधर के जहाजों में अंग्रेजों के मन में यह भाव कि 'हम शासक हैं' और हिन्दुस्तानियों के मन में यह भाव कि 'हम ग़ैरों के गुलाम हैं' जान में या अनजान में काम कर रहा था।

ऐसे वातावरण में से जल्दी छूटकर देश पहुँचने के लिए मैं आतुर हो रहा था। अदन पहुँचने पर ऐसा भास हुआ मानों थोड़े-बहुत घर आगये हैं। अदन वालों के साथ दक्षिण आफ्रिका में ही हमारा अच्छा सम्बन्ध बँध गया था; क्योंकि भाई कैकोबाद कावसजी दीनशा डरबन आ गये थे और उनके तथा उनकी पत्नी के साथ मेरा अच्छा परिचय हो चुका था। थोड़े ही दिन

में हम बम्बई आ पहुँचे। जिस देश में मैं १९०५ में लौटने की आशा रखता था वहाँ १० वर्ष बाद पहुँचने से मेरे मन को बड़ा आनन्द हो रहा था। बम्बई में गोखले ने स्वागत वगैरा का प्रबन्ध कर ही डाला था। उनकी तबियत नाजुक थी। फिर वह बम्बई आ पहुँचे थे। उनकी मुलाकात करके उनके जीवन में मिल जाकर अपने सिर का बोझ उतार डालने की उमंग से मैं बम्बई पहुँचा था, परन्तु विधाता ने कुछ और ही रचना रच रक्खी थी।

'मेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और।'

वकालत की कुछ स्मृतियाँ

हिन्दुस्तान में आने के बाद मेरे जीवन का प्रवाह किस ओर किस तरह बहा—इसका वर्णन करने के पहले कुछ ऐसी बातों का वर्णन करने की जरूरत मालूम होती है, जो मैंने जान-बूझकर छोड़ दी थीं। कितने ही वकील मित्रों ने चाहा है कि मैं अपने वकालत के दिनों के और एक वकील की हैसियत से अपने कुछ अनुभव सुनाऊँ। ये अनुभव इतने ज्यादा हैं कि यदि सबको लिखने बैठूँ तो उन्हीं से एक पुस्तक भर जायगी। परन्तु ऐसे वर्णन इस पुस्तक के विषय की मर्यादा के बाहर चले जाते हैं। इसलिए यहाँ केवल उन्हीं अनुभवों का वर्णन करना उचित होगा, जिनका सम्बन्ध सत्य से है।

जहाँ तक मुझे याद है, मैं यह बता चुका हूँ कि वकालत करते हुए मैंने कभी असत्य का प्रयोग नहीं किया और वकालत का एक बड़ा हिस्सा केवल लोक-सेवा के लिए ही अर्पित कर दिया था एवं उसके लिए मैं जेब-खर्च से अधिक कुछ नहीं लेता था और कभी-कभी तो वह भी छोड़ देता था। मैं यह मानकर चला था कि इतनी प्रतिज्ञा इस विभाग के लिए काफ़ी है। परन्तु मित्र लोग चाहते हैं कि इससे भी कुछ आगे की बातें लिखूँ, क्योंकि उनका खयाल है कि यदि मैं ऐसे प्रसंगों का थोड़ा-बहुत भी वर्णन करूँ कि जिनमें मैं सत्य की रक्षा कर सका, तो उससे वकीलों को कुछ जानने योग्य बातें मिल जायँगी।

मैं अपने विद्यार्थी-जीवन से ही यह बात सुनता आ रहा हूँ कि वकालत में बिना झूठ बोले काम नहीं चल सकता। परन्तु मुझे तो झूठ बोलकर न तो कोई पद प्राप्त करना था, न कुछ धन जुटाना था।

दक्षिण आफ्रिका में इसकी कसौटी के मौके बहुत बार आये। मैं जानता था कि हमारे विपक्ष के गवाह सिखा-पढ़ाकर लाये गये हैं और मैं यदि थोड़ा भी अपने मवक्किल को या गवाह को झूठ बोलने में उत्साहित करूँ तो मेरा मवक्किल जीत सकता है; परन्तु मैंने हमेशा इस लालच को पास नहीं भटकने दिया। ऐसे एक ही प्रसंग का स्मरण मुझे होता है कि जब मेरे मवक्किल की जीत हो जाने के बाद

मुझे ऐसा शक हुआ कि उसने मुझे धोखा दिया। कि मेरे अन्तः-करण में भी हमेशा यही भाव रहा करता कि यदि मेरे मवक्किल का पक्ष सच्चा हो तो उसकी जीत हो और झूठा हो तो उसकी हार हो। मुझे यह नहीं याद पड़ता कि मैंने अपनी फीस की दर मामले की हार-जीत पर निश्चित की हो। मवक्किल की हार हो या जीत, मैं तो हमेशा इसका मिहनताना ही माँगता और जीत होने के बाद भी उसीकी आशा रखता। मवक्किल को भी पहले ही कह देता कि यदि मामला झूठा हो तो मेरे पास न आना। गवाहों को बनाने का काम करने की आशा मुझसे न रखना। आगे जाकर तो मेरी ऐसी साख पड़ गई थी कि कोई झूठा मामला मेरे पास लाता ही नहीं था। ऐसे मवक्किल भी मेरे थे जो अपने सच्चे मामले ही मेरे पास लाते और जिनमें जरा भी गन्दगी होती तो वे दूसरे वकील के पास ले जाते। एक ऐसा समय भी आया था जिसमें मेरी बड़ी कड़ी परीक्षा हुई। एक मेरे अच्छे से अच्छे मवक्किल का मामला था। उसमें जमा-खर्च की बहुतेरी उलझनें थीं। बहुत समय से मामला चल रहा था। कितनी ही अदालतों में उसके कुछ-कुछ हिस्से गये थे। अन्त को अदालत द्वारा नियुक्त हिसाब-परीक्षक पंचों के जिम्मे उसका हिसाबी हिस्सा सौंपा गया था। पंच के ठहराव के अनुसार मेरे मवक्किल की पूरी जीत होती थी, परन्तु उसके हिसाब में एक छोटी सी परन्तु भारी

भूल रह गई थी। जमा-नामे की रकम पंच की भूल से उलटी लिख दी गई थी। विपक्षी ने इस पंच के फैसले को रद्द करने की दरख्वास्त दी थी। मेरे मवक्किल की तरफ से मैं छोटा वकील था। बड़े वकील ने पञ्च की भूल देख ली थी; परन्तु उनकी राय यह थी कि पञ्च की भूल कबूल करने के लिए मवक्किल बाध्य नहीं था। उनकी यह साफ राय थी कि अपने खिलाफ जानेवाली किसी बात को मंजूर करने के लिए कोई वकील बाध्य नहीं है। पर मैंने कहा, इस मामले की भूल तो हमें कबूल करनी ही चाहिए।

बड़े वकील ने कहा—'यदि ऐसा करें तो इस बात का पूरा अंदेशा है कि अदालत इस सारे फैसले को रद्द करदे और कोई भी समझदार वकील अपने मवक्किल को ऐसी जोखिम में नहीं डालेगा। मैं तो ऐसी जोखिम उठाने के लिए कभी तैयार न होऊँगा। यदि मामला फिर उलट जाय तो मवक्किल को कितना खर्च उठाना पड़े और अन्त को कौन कह सकता है कि नतीजा क्या हो ?'

इस बातचीत के समय हमारे मवक्किल भी मौजूद थे।

मैंने कहा, 'मैं तो समझता हूँ कि मवक्किल को और हम लोगों को ऐसी जोखिम जरूर उठाना चाहिए। फिर इस बात का भी क्या भरोसा कि अदालत को भूल मालूम हो जाय और

हम उसे मंजूर न करें तो भी वह भूल-भरा फैसला कायम ही रहेगा और यदि भूल सुधारते हुए मवक्किल को नुकसान सहना पड़े तो क्या हर्ज है ?'

'पर यह तो तभी न होगा जब हम भूल कबूल करें ?', बड़े वकील बोले।

'हम यदि भूल मंजूर न करें तो भी अदालत उसे न पकड़ लेगी अथवा विपक्षी भी उसको न देख लेंगे, इस बात का क्या निश्चय ?' मैंने उत्तर दिया।

'तो इस मुकदमे में आप बहस करने जायँगे ? भूल मंजूर करने की शर्त पर मैं बहस करने के लिए तैयार नहीं।' बड़े वकील ने दृढ़ता के साथ कहा।

मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, 'यदि आप न जायँगे और मवक्किल चाहेंगे तो मैं जानेके लिए तैयार हूँ। यदि भूल कबूल न की जाय तो इस मुकदमे में मेरे लिए काम करना असम्भव है।'

इतना कहकर मैंने मवक्किल के मुँह की ओर देखा। वह जरा झुँझलाये। क्योंकि इस मुकदमे में मैं शुरू से ही था और उनका मुझ पर पूरा-पूरा विश्वास था। वह मेरी प्रकृति से भी पूरे पूरे वाकिफ थे। इसलिए उन्होंने कहा—'तो अच्छी बात है, आप ही बहस करने जाइए। शौक से भूल मान लीजिए। हार ही नसीबमें लिखी होगी तो हार जायँगे। आखिर साँच को आँच क्या ?'

यह देख कर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मैंने दूसरे उत्तर की आशा ही नहीं रक्खी थी। बड़े वकील ने मुझे खूब चेताया और मेरी 'हठ-धर्मी' के लिए मुझपर तरस खाया और साथ ही धन्यवाद भी दिया।

अब अदालत में क्या हुआ सो अगले अध्याय में।

चालाकी ?

मेरी इस सलाह के औचित्य के विषय में मेरे मन में बिलकुल सन्देह न था, परन्तु इस बात की मेरे मन में जरूर हिचकिचाहट थी कि मैं इस मुकद्मे में योग्यता-पूर्वक बहस कर सकूँगा या नहीं। ऐसे जोखम-वाले मुकद्मे में बड़ी अदालत में मेरा बहस करने के लिए जाना मुझे बहुत भयावह मालूम हुआ। मैं मन में बहुत डरते और काँपते हुए न्यायाधीशों के सामने खड़ा रहा। ज्योंही इस भूल की बात निकली, त्योंही एक न्यायाधीश कह बैठे—

'क्या यह चालाकी नहीं है ?'

यह सुनकर मेरी त्यौरी बदली। जहाँ चालाकी की बू तक नहीं थी वहाँ उसका शक आना मुझे असह्य मालूम हुआ। मैंने मन में सोचा कि जहाँ पहले ही से न्यायाधीश का ख़याल ख़राब है, वहाँ इस झमेले में कैसे जीत होगी ?

पर मैंने अपने ग़ुस्से को दबाया और शान्त होकर जवाब दिया—

'मुझे आश्चर्य होता है कि आप पूरी बातें सुनने के पहले ही चालाकी का इलज़ाम लगाते हैं।'

'मैं इलज़ाम नही लगाता, सिर्फ़ अपनी शंका प्रकट करता हूँ।' वह न्यायाधीश बोले।

'आपकी यह शंका ही मुझे तो इलज़ाम जैसी मालूम होती है। मेरी सब बातें पहले सुन लीजिए और फिर यदि कहीं शंका के लिए जगह हो तो आप अवश्य शंका उठावें'—मैंने उत्तर दिया।

'मुझे अफ़सोस है कि मैंने आपके बीच में बाधा डाली। आप अपना स्पष्टीकरण कीजिए।' शान्त होकर न्यायाधीश बोले।

मेरे पास स्पष्टीकरण के लिए पूरा-पूरा मसाला था। मामले की शुरुआत में ही शङ्का उठ खड़ी हुई और मैं जज को अपनी दलील का कायल कर सका। इससे मेरा हौंसला बढ़ गया। मैंने उसे सब बातें ब्यौरेवार समझाईं। जज ने मेरी बात

धीरज के साथ सुनी और अन्त को वह समझ गये कि यह भूल महज भूल ही थी और बड़े परिश्रम से तैयार किये इस हिसाब को रद्द करना उन्हें अच्छा न मालूम हुआ।

विपक्ष के वकील को तो यह विश्वास ही था कि इस भूल के मान लिये जाने पर तो उन्हें बहुत बहस करने की जरूरत न रहेगी। परन्तु न्यायाधीश ऐसी भूल के लिए जो स्पष्ट हो गई है और सुधर सकती है, पंच के फैसले को रद्द करने के लिए बिलकुल तैयार न थे। विपक्ष के वकील ने बहुत माथा-पच्ची की, परन्तु जिस जज ने शंका उठाई थी वही मेरे हिमायती हो बैठे।

'मि० गांधी ने भूल कबूल न की होती तो आप क्या करते ?'-न्यायाधीश ने पूछा।

'जिन हिसाब-विशारदों को हमने नियुक्त किया उनसे अधिक होशियार या ईमानदार जानकारों को हम कहाँ से ला सकते हैं ?'-

'हमें मानना होगा कि आप अपने मुकद्दमे की असलियत अच्छी तरह जानते हैं। बड़े से बड़े हिसाब के अनुभवी भूल कर सकते हैं। और इस भूल के अलावा यदि कोई दूसरी भूल न बता सके तो फिर कानून की कमजोर बातों का सहारा लेकर अदालत दोनों फरीक़ैन को फिर से खर्च में डालने के लिए तैयार नहीं हो सकती। और यदि आप यह कहें कि अदालत ही फिर नये सिरे से इस मुकद्दमे की सुनवाई करे तो यह नहीं हो सकता।'

इन तथा इस तरह की दूसरी दलीलों से वकील को शान्त करके उस भूल को सुधार कर फिर अपना फैसला भेजने का हुक्म पंच के नाम लिख कर न्यायाधीश ने उस फैसले को बर-करार रक्खा।

इससे मेरे हर्ष का पार न रहा। क्या मेरे मवक्किल और क्या बड़े वकील दोनों खुश हुए और मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि वकालत में भी सत्य का पालन करके सफलता मिल सकती है।

परन्तु पाठक इस बात को न भूलें कि जो वकालत पेशे के तौर पर की जाती है उसकी मूलभूत बुराइयों को यह सत्य की रक्षा छिपा नहीं सकती।

मुवक्किल साथी बने

नेटाल और ट्रान्सवाल की वकालत में भेद था। नेटाल में एडवोकेट और अटर्नी ये दो विभाग होते हुए भी दोनों तमाम अदालतों में एकसाँ वकालत कर सकते थे। परन्तु ट्रांसवाल में बम्बई की तरह भेद था। वहाँ एडवोकेट सारा काम अटर्नी के मार्फत ही कर सकता था। जो बैरिस्टर हो गया हो वह एडवोकेट अथवा अटर्नी किसी भी एक के काम की सनद ले सकता है और फिर वही एक काम कर सकता था। नेटाल में मैंने एडवोकेट की सनद ली थी और ट्रान्सवाल में अटर्नी की। यदि एडवोकेट की ली होती तो मैं वहाँ के हिन्दु-

स्तानियों के सीधे सम्पर्क में न आ पाता और दक्षिण आफ्रिका में ऐसा वातावरण भी नहीं था कि गोरे अटर्नी मुझे मुकदमे ला-लाकर देते।

ट्रांसवाल में इस तरह वकालत करते हुए मजिस्ट्रेट की अदालत में मैं बहुत बार जा सकता था। ऐसा करते हुए एक मौका ऐसा आया कि मुकदमे की सुनवाई के बीच में मुझे पता चला कि मवक्किल ने मुझे धोखा दिया है। उसका मुकदमा झूठा था। वह कटघरे मे खड़ा हुआ तो मानों गिरा पड़ता था। इससे मैं मजिस्ट्रेट को यह कह कर बैठ गया कि आप मेरे मवक्किल के खिलाफ फैसला दीजिए। विपक्ष का वकील यह देखकर दंग रह गया। मजिस्ट्रेट खुश हुआ। मैंने मवक्किल को बड़ा उलहना दिया। क्योंकि उसे पता था कि मैं झूठे मुकदमें नहीं लेता था। उसने भी यह बात मंजूर की और मैं समझता हूँ कि उसके खिलाफ फैसला होने से वह मुझसे नाराज नहीं हुआ। जो हो। पर इतना जरूर है कि मेरे सत्य व्यवहार का कोई बुरा असर मेरे पेशे पर नहीं हुआ और अदालत में मेरा काम बड़ा सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि मेरी इस सत्य-पूजा की बदौलत वकील-बन्धुओं में भी मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी और परिस्थिति की विचित्रता के रहते हुए भी मैं उनमेंसे कितनों ही की प्रीति सम्पादन कर सका था।

वकालत करते हुए मैंने अपनी एक ऐसी आदत भी डाल ली थी कि मैं अपना अज्ञान न मवक्किल से छिपाता, न वकीलों से। जहाँ बात मेरी समझ में नहीं आती वहाँ मैं मवक्किल को दूसरे वकीलों के पास जाने को कहता अथवा यदि वे मुझे ही वकील बनाते तो अधिक अनुभवी वकील की सलाह लेकर काम करने की प्रेरणा करता। अपने इस शुद्ध भाव की बदौलत मैं मवक्किलों का अखूट प्रेम और विश्वास संपादन कर सका था। बड़े वकीलों की फीस भी वे खुशी-खुशी देते थे।

इस विश्वास और प्रेम का पूरा-पूरा लाभ मुझे सार्वजनिक कामों में मिला।

पिछले अध्यायों में मैं यह बता चुका हूँ कि दक्षिण आफ्रिका में वकालत करने में मेरा हेतु केवल लोक-सेवा था। इससे सेवा-कार्य के लिए भी मुझे लोगों का विश्वास प्राप्त कर लेने की आवश्यकता थी। परन्तु वहाँ के उदार-हृदय भारतीय भाइयों ने फ़ीस लेकर की हुई वकालत को भी सेवा का ही गौरव प्रदान किया और जब उन्हें उनके हकों के लिए जेल जाने और वहाँ के कष्टों के सहन करने की सलाह मैंने उन्हें दी तब उसका अङ्गीकार उनमें से बहुतों ने ज्ञानपूर्वक करने की अपेक्षा मेरे प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेम के कारण ही अधिक किया था।

यह लिखते हुए वकालत के समय की कितनी ही मीठी बातें

कलम में भर रही हैं। सैकड़ों मवक्किल मित्र बन गये, सार्वजनिक सेवा में मेरे सच्चे साथी बने, और उन्होंने मेरे कठिन जीवन को रस-मय बना डाला था।

मवक्किल जेल से कैसे बचा ?

पारसी रुस्तमजी के नाम से इन अध्यायों के पाठक भली-भाँति परिचित हैं। पारसी रुस्तमजी मेरे मवक्किल, और सार्वजनिक कार्य में साथी, एक ही साथ बने, बल्कि यह कहना चाहिए कि पहले साथी बने और बाद को मवक्किल। उनका विश्वास तो मैंने इस हद तक प्राप्त कर लिया था कि वह अपनी घरू और खानगी बातों में भी मेरी सलाह माँगते और उसका पालन करते। उन्हें यदि कोई बीमारी भी हो तो वह मेरी सलाह की जरूरत समझते और उनकी और मेरी रहन-सहन में बहुत कुछ भेद रहने पर भी वह खुद मेरे उपचार करते।

मेरे इस साथी पर एक बार बड़ी भारी आपत्ति आगई थी। हालाँ कि वह अपनी व्यापार-सम्बन्धी भी बहुत-सी बातें मुझसे किया करते थे, फिर भी एक बात मुझसे छिपा रक्खी थी। वह चुंगी चुरा लिया करते थे। बम्बई कलकत्ते से जो माल मँगाते उसकी चुंगी में चोरी कर लिया करते थे। तमाम अधिकारियों से उनका राह-रस्म अच्छा था। इसलिए किसी को उनपर शक नहीं होता था। जो बीजक वह पेश करते उसीपर से चुंगी की रकम जोड़ ली जाती। शायद कुछ ऐसे भी कर्मचारी होंगे, जो उनकी चोरी की ओर से आँखें मूँद लेते हों।

परन्तु आखा भगत की यह वाणी कहीं झूठी हो सकती है?—'काचो पारो खावो अन्न, तेवुं छे चोरी तुं धन।'

एक बार पारसी रुस्तमजी की चोरी पकड़ी गई। तब वह मेरे पास दौड़े आये। उनकी आँखों से आँसू निकल रहे थे। मुझसे कहा—'भाई, मैंने तुमको धोखा दिया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मैं चुंगी की चोरी करता रहा हूँ। अब तो मुझे जेल भोगने के सिवा दूसरी गति नहीं है। बस, अब मैं बरबाद हो गया। इस आफत मे से तो आपही मुझे बचा सकते हैं। मैंने वैसे आपसे कोई बात छिपा नहीं रक्खी है; परन्तु यह समझ कर कि यह व्यापार की चोरी है, इसका जिक्र आपसे क्या करूँ, यह बात मैंने आपसे छिपाई थी। अब इसके लिए पछताता हूँ।'

मैंने उन्हें धीरज और दिलासा देकर कहा—'मेरा तरीका तो आप जानते ही हैं। छुड़ाना न छुड़ाना तो खुदा के हाथ है। मैं तो आपको उसी हालत में छुड़ा सकता हूँ, जब आप अपना गुनाह कबूल करलें।'

यह सुनकर इस भले पारसी का चेहरा उतर गया।

'परन्तु मैंने आपके सामने कबूल कर लिया, इतना ही क्या काफी नहीं है?' रुस्तमजी सेठ ने पूछा।

'आपने कसूर तो सरकार का किया है, तो मेरे सामने कबूल करने से क्या होगा?' मैंने धीरे-से उत्तर दिया।

'अन्त को तो मैं वही करूँगा, जो आप बतावेंगे, परन्तु मेरे पुराने वकील—की भी तो सलाह लेलें, वह मेरे मित्र भी हैं।' पारसी रुस्तमजी ने कहा।

अधिक पूछ-ताछ करने से मालूम हुआ कि यह चोरी बहुत दिनों से होती आ रही थी। जो चोरी पकड़ी गई थी वह तो थोड़ी ही थी। पुराने वकील के पास हम लोग गये। उन्होंने सारी बातें सुनकर कहा कि 'यह मामला जूरी के पास जायगा। यहां के जूरर हिन्दुस्तानी को क्यों छोड़ने लगे?'

इन वकील के साथ मेरा गाढ़ा परिचय न था। इसलिए पारसी रुस्तमजी ने ही जवाब दिया, 'इसके लिए आपको धन्य-वाद है। परन्तु इस मुकदमे में मुझे मि० गाँधी की सलाह के

अनुसार काम करना है। वह मेरी बातों को अधिक जानते हैं।
आप जो-कुछ सलाह देना मुनासिब समझें हमें देते रहिएगा।'

इस तरह थोड़े में समेट कर हम रुस्तमजी सेठ की दूकान पर गये।

मैंने उन्हें समझाया, 'मुझे यह मामला अदालत में जाने लायक नहीं दिखाई देता। मुकदमा चलाना न चलाना चुंगी-अफसर के हाथ में है। उसे भी सरकार के प्रधान वकील की सलाह से काम करना होगा। मैं इन दोनो से मिलने के लिए तैयार हूँ, परन्तु मुझे तो उनके सामने यह चोरी की बात कबूल करना पड़ेगी, जो कि वे अभी तक नहीं जानते हैं। मैं तो यह सोचता हूँ कि जो जुर-माना वे तजवीज करदें उसे मंजूर कर लेना चाहिए। बहुत मुम-किन है कि वे मान जायँगे। परन्तु यदि न मानें तो फिर आपको जेल जाने के लिए तैयार रहना होगा। मेरी राय तो यह है कि लज्जा जेल जाने में नहीं, बल्कि चोरी करने में है। अब लज्जा का काम तो हो चुका; यदि जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त ही समझना चाहिए। सच्चा प्रायश्चित्त तो यह है कि अब आगे से ऐसी चोरी न करने की प्रतिज्ञा कर लेना चाहिए।' मैं यह नहीं कह सकता कि रुस्तमजी सेठ इन सब बातों को ठीक-ठीक समझ गये हों। वह बहादुर आदमी थे। पर इस समय हिम्मत हार गये थे। उनकी इज्जत बिगड़ जाने का मौका आ गया था

और उन्हें यह भी डर था कि खुद महनत करके जो यह इमारत खड़ी की थी वह कहीं सारी की सारी न ढह जाय।

उन्होंने कहा—'मैं तो आपसे कह चुका हूँ कि मेरी गरदन आपके हाथ में है। जैसा आप मुनासिब समझें वैसा करें।'

मैंने इस मामले में अपनी सारी कला और सौजन्य खर्च कर डाला। चुंगी के अफसर से मिला, चोरी की सारी बात मैंने निःशंक होकर उनसे कह दी, यह भी कह दिया कि आप चाहे तो सब कागज़-पत्र देख लीजिए। पारसी रुस्तमजी को इस घटना पर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है।

अफसरने कहा—'मैं इस पुराने पारसी को चाहता हूँ। उसने की तो यह बेवकूफी है; पर इस मामले में मेरा फर्ज क्या है, सो आप जानते हैं। मुझे तो प्रधान वकील की आज्ञा के अनुसार करना होगा। इसलिए आप अपनी समझाने की सारी कला का जितना उपयोग कर सकें वहाँ करें।'

यदि पारसी रुस्तमजी को अदालत में घसीट ले जाने पर जोर न दिया जाय तो मेरे लिए बस है।

इस अफसर से अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकील के साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया और उनसे मिला भी। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्य-प्रियता को उन्होंने देख लिया और उनके सामने मैं यह सिद्ध कर सका कि मैं कोई बात उनसे

छिपाता नहीं था। इस अथवा किसी दूसरे मामले में उनसे साबका पड़ा तो उन्होंने मुझे यह प्रमाण-पत्र दिया था—"मैं देखता हूँ कि आप जवाब मे 'ना' तो लेना ही नहीं जानते।"

रुस्तमजी पर मुकदमा नहीं चलाया गया। हुक्म हुआ कि जितनी चोरी पारसी रुस्तमजी ने कबूल की है उसके दूने रुपये उनसे ले लिए जायँ और उनपर मुकदमा न चलाया जाय।

रुस्तमजी ने अपनी इस चुंगी-चोरी का किस्सा लिखकर काँच में जड़ा कर अपने दफ्तर में टाँग दिया और अपने वारिसों तथा साथी व्यापारियों को ऐसा न करने के लिए खबरदार कर दिया। रुस्तमजी सेठ के व्यापारी मित्रों ने मुझे सावधान किया कि 'यह सच्चा वैराग्य नहीं, श्मशान-वैराग्य है।'

पर मैं नहीं कह सकता कि इस बात मे कितनी सत्यता होगी। जब मैंने यह बात रुस्तमजी सेठ से कही तो उन्होंने जवाब दिया कि आपको धोखा देकर मैं कहाँ जाऊँगा ?

चौथा भाग समाप्त।

आत्म-कथा

खण्ड २, भाग ५

पहला अनुभव

मेरे देश में पहुँचने के पहले ही वे लोग पहुँच चुके थे, जो फिनिक्स से वापस लौटनेवाले थे। हिसाब तो हम लोगों ने यह लगाया था कि मैं उनसे पहले पहुँच जाऊँगा। परन्तु मैं महायुद्ध के कारण लन्दन में रुक गया था, इसलिए मेरे सामने यह एक सवाल था कि फिनिक्स-वासियों को रक्खूँ कहाँ? मैं चाहता तो यह था कि सब एकसाथ ही रह सकें और फिनिक्स-आश्रम का जीवन बिता सकें तो अच्छा। किसी आश्रम के संचालक से मेरा परिचय भी नहीं था कि जिससे मैं उन्हें वहाँ जाने के लिए लिख देता। इसलिए मैंने उन्हें लिखा था कि

वे एण्डरूज साहब से मिल कर उनकी सलाह के मुताबिक काम करें।

पहले वे काँगड़ी-गुरुकुल में रक्खे गये। वहाँ स्वर्गीय श्रद्धानन्दजी ने उन्हें अपने बच्चों की तरह रक्खा। इसके बाद वे शान्ति-निकेतन में रक्खे गये, जहाँ कविवर ने और उनके समाज ने उनपर उतनी ही प्रेम-वृष्टि की। इन दो स्थानों पर जो अनुभव उन्हें मिला वह उनके तथा मेरे लिए बड़ा उपयोगी साबित हुआ।

कविवर, श्रद्धानन्दजी और श्री सुशील रुद्र को मैं एण्डरूज की 'त्रि-मूर्ति' मानता था। दक्षिण आफ्रिका में वह इन तीनों की स्तुति करते हुए थकते नहीं थे। दक्षिण आफ्रिका में हमारे स्नेह-सम्मेलन की बहुत-सी स्मृतियों में यह सदा मेरी आँखों के सामने नाचा करती है कि इन तीन महापुरुषों के नाम तो उनके हृदय में और ओठों पर रहते ही थे। सुशील रुद्र के परिचय में भी एण्डरूज ने मेरे बच्चों को ला दिया था। रुद्र के पास कोई आश्रम नहीं था, उनका अपना घर ही था, परन्तु उस घर का कब्जा उन्होंने मेरे इस परिवार को दे दिया था। उनके बाल-बच्चे उनके साथ एक ही दिन में इतने हिल-मिल गये थे कि वे फिनिक्स को भूल गये।

जिस समय मैं बम्बई बन्दर पर उतरा तो वहीं मुझे खबर

हुई कि उस समय यह परिवार शान्ति-निकेतन में था। इसलिए गोखले से मिलकर मैं वहाँ जाने के लिए अधीर हो रहा था।

बम्बई में स्वागत-सत्कार के समय ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ा था। मि० पेटिट के यहाँ मेरे निमित्त स्वागत-सभा की गई थी। वहाँ तो स्वागत का उत्तर गुजराती में देने की मेरी हिम्मत न चली। इस महल में और आँखों को चौंधिया देनेवाले वहाँ के ठाट-बाट में मैं जो गिरमिटियों के सहवास में रहा था, देहात के एक गँवार की तरह मालूम होता था। आज जिस तरह की वेश-भूषा मेरी है उससे तो उस समय का अँगरखा, साफ़ा इत्यादि अधिक सभ्य पहनाव कहा जा सकता है। फिर भी उस अलंकृत समाज में मैं एक बिलकुल अलग आदमी मालूम होता था। परन्तु वहाँ तो मैंने ज्यों-त्यों करके अपना काम चलाया और फ़िरोजशाह मेहता की छाया में जैसे-तैसे आश्रय लिया।

ऐसे अवसर पर गुजराती लोग भला मुझे क्यों छोड़ने लगे? स्वर्गीय उत्तमलाल त्रिवेदी ने भी एक सभा निमन्त्रित की थी। इस सभा के सम्बन्ध में कुछ बातें मैंने पहले ही से जान ली थीं। गुजराती होने के कारण मि० जिन्नाह भी उसमें आये थे। वह सभापति थे या प्रधान वक्ता थे, यह बात मैं भूल गया हूँ। उन्होंने अपना छोटा और मीठा भाषण अंग्रेजी में किया और

मुझे ऐसा याद पड़ता है कि और लोगों के भाषण भी अंग्रेजी में ही हुए थे। परन्तु जब मेरे बोलने का अवसर आया तब मैंने अपना जवाब गुजराती ही में दिया और गुजराती तथा हिन्दुस्तानी भाषा विषयक अपना पक्षपात मैंने वहाँ थोड़े शब्दों में प्रकट किया। इस प्रकार गुजरातियों की सभा में अंग्रेजी भाषा के प्रयोग के प्रति मैंने अपना नम्र विरोध प्रदर्शित किया। ऐसा करते हुए मेरे मन में संकोच तो बड़ा होता था। बहुत समय तक देश से बाहर रहने के बाद जो शख्स स्वदेश को लौटता है वह देश की बातों से अपरिचित आदमी यदि प्रचलित प्रथा के विपरीत आचरण करे तो यह अविवेक तो न होगा, यह शंका मन में बराबर आया करती थी। परन्तु गुजराती में जो मैंने उत्तर देने का साहस किया उसका किसी ने उलटा अर्थ नहीं लगाया और मेरे विरोध को सबने सहन कर लिया, यह देखकर मुझे आनन्द हुआ और इसपर से मैंने यह नतीजा निकाला कि मेरे दूसरे, नये-से प्रतीत होनेवाले, विचार भी यदि मैं लोगों के सामने रक्खूँ तो इसमें कोई कठिनाई नहीं आवेगी।

इस तरह बम्बई में दो-एक दिन रहकर देश का आरम्भिक अनुभव ले गोखले की आज्ञा से मैं पूना गया।

गोखले के साथ पूना में

मेरे बम्बई में पहुँचते ही गोखले ने मुझे तुरन्त खबर दी कि बम्बई के लाट साहब आपसे मिलना चाहते हैं और पूना आने के पहले आप उनसे मिल आवें तो अच्छा होगा। इसलिए मैं उनसे मिलने गया। मामूली बातचीत होने के बाद उन्होंने मुझसे कहा—

'आपसे मैं एक वचन लेना चाहता हूँ। मैं यह चाहता हूँ कि सरकार के सम्बन्ध में यदि आपको कहीं कुछ आन्दोलन करना हो तो उसके पहले आप मुझसे मिल लें और बातचीत करलें।'

मैंने उत्तर दिया कि 'यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है, क्योंकि सत्याग्रही की हैसियत से मेरा यह नियम ही है कि किसी के खिलाफ कुछ करने के पहले उसका दृष्टि-बिन्दु खुद उसीसे समझ लूँ और अपने से जहाँ तक हो सके उसके अनुकूल होने का यत्न करूँ। मैंने हमेशा दक्षिण आफ्रिका में इस नियम का पालन किया है और यहाँ भी मैं ऐसा ही करने का विचार करता हूँ।'

लार्ड विलिंग्डन ने इसपर मुझे धन्यवाद दिया और कहा—

'आप जब कभी मिलना चाहें, मुझसे तुरन्त मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझ कर कोई बुराई नहीं करना चाहती।'

मैंने जवाब दिया—'इसी विश्वास पर तो मैं जी रहा हूँ।'

अब मैं पूना पहुँचा। वहाँ के तमाम संस्मरण लिखना मेरे सामर्थ्य के बाहर हैं। गोखले ने और भारत-सेवक-समिति के सभ्यों ने मुझे प्रेम से पाग दिया। जहाँ तक मुझे याद है उन्होंने तमाम सभ्यों को पूना बुलाया था। सबके साथ दिल खोल कर मेरी बातें हुईं। गोखले की तीव्र इच्छा थी कि मैं भी समिति का सदस्य बनूँ। इधर मेरी तो इच्छा थी ही। परन्तु उसके सभ्यो की यह धारणा हुई कि समिति के आदर्श और उसकी कार्य-प्रणाली मुझसे भिन्न थी। इसलिए वे दुविधा में

थे कि मुझे सभ्य होना चाहिए या नहीं। गोखले की यह मान्यता थी कि अपने आदर्श पर दृढ़ रहने की जितनी प्रवृत्ति मेरी थी उतनी ही दूसरों के आदर्श की रक्षा करने और उनके साथ मिल जाने का स्वभाव भी था। उन्होंने कहा—'परन्तु हमारे साथी अभी आपके दूसरों को निभा लेने के इस गुण को नहीं पहचान पाये हैं। वे अपने आदर्श पर दृढ़ रहनेवाले स्वतन्त्र और निश्चित विचार के लोग हैं। मैं आशा तो यही रखता हूँ कि वे आपको सभ्य बनाना मंजूर कर लेंगे। परन्तु यदि न भी करें तो आप इससे यह तो हर्गिज न समझेंगे कि आपके प्रति उनका प्रेम या आदर कम है। अपने इस प्रेम को अखण्डित रहने देने के लिए ही वे किसी तरह की जोखिम उठाने से डरते हैं। परन्तु आप समिति के बाकायदा सभ्य हों या न हों, मैं तो आपको सभ्य मान कर ही चलूँगा।'

मैंने अपना संकल्प उनपर प्रकट कर दिया था। समिति का सभ्य बनूँ या न बनूँ, एक आश्रम की स्थापना करके फिनिक्स के साथियों को उसमें रखकर मैं वहाँ बैठ जाना चाहता था। गुजराती होने के कारण गुजरात के द्वारा सेवा करने की पूँजी मेरे पास अधिक होनी चाहिए, इस विचार से गुजरात में ही कहीं स्थिर होने की इच्छा थी। गोखले को यह विचार पसन्द हुआ और उन्होंने कहा—

'जरूर आश्रम स्थापित करो। सभ्यों के साथ जो बात चीत हुई है उसका फल कुछ भी निकलता रहे, परन्तु आपके आश्रम के लिए धन का प्रबन्ध मैं कर दूँगा। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूँगा।'

यह सुनकर मेरा हृदय फूल उठा। चंदा माँगने की झंझट से बचा, यह समझ कर बड़ी खुशी हुई; और इस विश्वास से कि अब मुझे अकेले अपनी जिम्मेवारी पर कुछ न करना पड़ेगा, बल्कि हरएक उलझन के समय मेरे लिए एक पथ-दर्शक यहाँ हैं, ऐसा मालूम हुआ मानों मेरे सिर का बोझ उतर गया।

गोखले ने स्वर्गीय डाक्टर देव को बुलाकर कह दिया, 'गांधी का खाता अपनी समिति में डाल लो और उनको अपने आश्रम के लिए तथा सार्वजनिक कामों के लिए जो कुछ रुपया चाहिए वह देते जाना।'

अब मैं पूना छोड़कर शान्ति-निकेतन जाने की तैयारी कर रहा था। अन्तिम रात को गोखले ने खास मित्रों की एक पार्टी इस विधि से की, जो मुझे रुचिकर होती। उसमें वही चीजें अर्थात् फल और मेवे मंगवाये थे, जो मैं खाया करता था। पार्टी उनके कमरे से कुछ ही दूर पर थी। उनकी हालत ऐसी न थी कि वे वहाँ तक भी आ सकते, परन्तु उनका प्रेम उन्हें कैसे रुकने देता? वह जिद करके आये थे; परन्तु उन्हें गश आगया और

वापस लौट जाना पड़ा। ऐसा गश उन्हें बार-बार आजाया करता था, इसलिए उन्होंने कहलवाया कि पार्टी में किसी प्रकार की गड़बड़ न होनी चाहिए। पार्टी क्या थी, समिति के आश्रम में अतिथि-घर के पास के मैदान में जाजम बिछाकर हम लोग बैठ गये थे और मूंगफली, पिंडखजूर वगैरा खाते हुए प्रेम-वार्ता करते थे, एवं एक दूसरे के हृदय को अधिक जानने का उद्योग करते थे।

किन्तु उनकी यह मूर्छा मेरे जीवन के लिए कोई मामूली अनुभव नहीं था।

धमकी ?

बम्बई से मुझे अपनी विधवा भौजाई और दूसरे कुटुम्बियों से मिलने के लिए राजकोट और पोरबन्दर जाना था। इसलिए मैं राजकोट गया। दक्षिण आफ्रिका में सत्याग्रह-आन्दोलन के सिलसिले में मैंने अपना पहनावा गिरमिटिया मजूर की तरह जितना हो सकता था कर डाला था। विलायत में भी घर में यही लिबास रक्खा था। देश में आकर मैं काठियावाड़ का पहनाव पहनना चाहता था। दक्षिण आफ्रिका में काठियावाड़ी कपड़े मेरे पास थे। इससे बम्बई में मैं काठियावाड़ी लिबास में अर्थात् कुरता, अँगरखा, धोती और सफेद साफा पहने हुए उतर सका था। ये सब कपड़े देशी मिल के बने हुए थे। बम्बई से काठि-

थाबाड़ तक तीसरे दरजे में सफर करने का निश्चय था। सो वह सफर और अँगरखा मुझे एक जंजाल मालूम हुए। इसलिए सिर्फ एक कुरता, धोती और आठ दस-आने की काश्मीरी टोपी साथ रक्खे थे। ऐसे कपड़े पहनने वाला आम तौर पर गरीब आदमियों में ही गिना जाता है। इस समय वीरमगाम और बढवाण में, प्लेग के कारण, तीसरे दरजे के मुसाफिरों की जाँच-परताल होती थी। मुझे उस समय हलका-सा बुखार था। जाँच करनेवाले अफसर ने मेरा हाथ देखा तो उसे वह गरम मालूम हुआ, इसलिए उसने हुक्म दिया कि राजकोट जाकर डाक्टर से मिलो और मेरा नाम लिख लिया।

बम्बई से शायद किसीने तार या चिट्ठी भेज दी होगी, इस कारण बढवाण स्टेशन पर दर्जी मोतीलाल, जो वहाँ के एक प्रसिद्ध प्रजा-सेवक माने जाते थे, मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझसे वीरमगाम की जकात की जाँच का तथा उसके सम्बन्ध में होनेवाली तकलीफों का जिक्र किया। मुझे बुखार चढ़ रहा था, इसलिए बात करने की इच्छा कम ही थी। मैंने उन्हें थोड़े में ही उत्तर दिया—

'आप जेल जाने के लिए तैयार हैं ?'

इस समय मैंने मोतीलाल को वैसा ही एक युवक समझा, जो बिना विचारे उत्साह में हाँ-कर लेते हैं। परन्तु उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—

"हां, जरूर जेल में चले जायँगे। पर आपको हमारा अगुआ बनना पड़ेगा। काठियावाड़ी की हैसियत से आप पर हमारा पहला हक है। अभी तो हम आपको नहीं रोक सकते, परन्तु वापस लौटते समय आपको बढवाण जरूर उतरना पड़ेगा। यहाँ के युवकों का काम और उत्साह देख कर आप खुश होंगे। आप जब चाहें तब अपनी सेना में हमें भरती कर सकेंगे।'

उस दिन से मोतीलाल पर मेरी नजर ठहर गई। उनके साथियों ने उनकी स्तुति करते हुए कहा—'यह भाई हैं तो दर्जी, पर अपने हुनर में बड़े तेज हैं। इसलिए रोज एक घंटा काम करके, प्रतिमास कोई पन्द्रह रुपये अपने खर्च के लायक पैदा कर लेते हैं; शेष सारा समय सार्वजनिक सेवा में लगाते हैं और हम सब पढ़े-लिखे लोगों को राह दिखाते हैं और शर्मिन्दा करते हैं।'

बाद को भाई मोतीलाल से मेरा बहुत साबका पड़ा था और मैंने देखा कि उनकी इस स्तुति में अत्युक्ति न थी। सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना के बाद वह हर महीने कुछ दिन आकर वहाँ रह जाते। बच्चों को सीना सिखाते और आश्रम में सीने का काम भी कर जाते। वीरमगाम की कुछ-न-कुछ बातें वह रोज सुनाते। मुसाफिरों को उससे जो कष्ट होते थे वह उन्हें नागवार हो रहा था। मोतीलाल को बीमारी भर जवानी में ही खा गई और बढवाण उनके बिना सूना हो गया।

राजकोट पहुँचते ही मैं दूसरे दिन सुबह पूर्वोक्त हुक्म के अनुसार अस्पताल गया। वहाँ तो मैं किसी के लिए अजनवी नहीं था। डाक्टर मुझे देखकर शर्माये और उस जाँच-कुनिन्दा पर गुस्सा होने लगे। मुझे इसमें गुस्से की कोई वजह नहीं मालूम होती थी। उसने तो अपना फर्ज अदा किया था। एक तो मुझे वह पहचानता ही नहीं था और दूसरे पहचानने पर भी उसका तो फर्ज यही था कि जो हुक्म मिला उसकी तामील करे। परन्तु मैं था मशहूर आदमी। इसलिए राजकोट में मुझे कहीं जाँच करने के लिए जाने के एवज मे लोग घर आकर मेरी पूछ-ताछ करने लगे।

तीसरे दर्जे के मुसाफिरो की जाँच ऐसे मामलों में आवश्यक है। जो लोग बड़े समझे जाते हैं वे भी अगर तीसरे दर्जे में सफर करें तो उन्हे उन नियमों का पालन जो गरीबों पर लगाये-जाते हैं खुद-ब-खुद करना चाहिए और कर्मचारियो को भी उनका पक्षपात न करना चाहिए। परन्तु मेरा तो अनुभव यह है कि कर्म्मचारी लोग तीसरे दर्जे के मुसाफिरो को आदमी नहीं बल्कि जानवर समझते हैं। अबे-तबे के सिवा उनसे बोलते नहीं हैं। तीसरे दर्जे का मुसाफिर न तो सामने जबाव दे सकता है, न कोई बात कह सकता है। बेचारे को इस तरह पेश आना पड़ता है, मानों वह उस क़र्मचारी का कोई नौकर हो। रेल के नौकर

उसे पीट देते हैं, रुपये-पैसे छीन लेते हैं. उसकी ट्रेन चुका देते हैं, टिकट देते समय उसको बहुत रुलाते हैं। ये सब बातें मैंने खुद अनुभव की हैं इस बुराई का सुधार उसी हालत में हो सकता है, जब कि कितने पढ़े-लिखे और धनी लोग गरीब की तरह रहने लगें और तीसरे दर्जे में सफर करके ऐसी एक भी सुविधा का लाभ न उठावें जो गरीब मुसाफिर को न मिलती हो। और वहाँ की असुविधा, अविवेक, अन्याय और बीभत्सता को चुपचाप न सहन करते हुए उसका विरोध करें और उसको मिटा दें।

काठियावाड़ में मैं जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ वीरमगाम की जकात की जाँच से होने वाली तकलीफों की शिकायतें मैंने सुनीं।

इसलिए लार्ड वेलिंगडन ने जो निमंत्रण मुझे दे रक्खा था उसका मैंने तुरंत उपयोग किया। इस सम्बन्ध में जितने कागज-पत्र मिल सकते थे सब मैंने पढ़े। मैंने देखा कि इन शिकायतों में बहुत तथ्य था। उसको दूर करने के लिए मैंने बम्बई-सरकार से लिखा-पढ़ी की। उसके सेक्रेटरी से मिला। लार्ड वेलिंगडन से भी मिला। उन्होंने सहानुभूति बताई, परन्तु कहा कि दिल्ली की तरफ से ढील हो रही है। 'यदि यह बात हमारे हाथ में होती

तो हम कभी के इस जकात को उठा देते। आप भारत-सरकार के पास अपनी शिकायत ले जाइए' सेक्रेटरी ने कहा।

मैंने भारत-सरकार के साथ लिखा-पढ़ी शुरू की। परन्तु वहाँ से पहुँच के अलावा कुछ भी जवाब न मिला। जब मुझे लार्ड चेम्सफोर्ड से मिलने का अवसर आया तब, अर्थात् दो-तीन वर्ष की लिखा पढ़ी के बाद, कुछ सुनवाई हुई। लार्ड चेम्सफोर्ड से मैंने इसका जिक्र किया तो उन्होंने इसपर आश्चर्य प्रकट किया। वीरमगाम के मामले का उन्हें कुछ पता न था। उन्होंने मेरी बातें गौर के साथ सुनीं और उसी समय टेलीफोन देकर वीरमगाम के कागज-पत्र मँगाये और वचन दिया कि यदि इसके खिलाफ कर्मचारियों का कुछ कहना न होगा तो जकात रद करदी जायगी। इस मुलाकात के थोड़े ही दिन बाद अखबारों में पढ़ा कि जकात रद हो गई।

इस जीत को मैंने सत्याग्रह की बुनियाद मानी। क्योंकि वीरमगाम के सम्बन्ध में जब बातें हुईं तब बम्बई-सरकार के सेक्रेटरी ने मुझसे कहा था कि बकसरा में इस सम्बन्ध में आपका जो भाषण हुआ था उसकी नकल मेरे पास है। और उसमें मैंने जो सत्याग्रह का उल्लेख किया था उसपर उन्होंने अपनी नाराजगी भी बतलाई। उन्होंने मुझसे पूछा—'आप इसे धमकी नहीं कहते ? इस प्रकार बलवान् सरकार कहीं धमकी की परवाह कर सकती है ?'

मैंने जवाब दिया—'यह धमकी नहीं है। यह तो लोकमत को

शिक्षित करने का उपाय है। लोगों को अपने कष्ट दूर करने के लिए तमाम उचित उपाय बताना मुझ जैसों का धर्म है। जो प्रजा स्वतंत्रता चाहती है उसके पास अपनी रक्षा का अन्तिम इलाज अवश्य होना चाहिए। आम तौर पर ऐसे इलाज हिंसात्मक होते हैं। परन्तु सत्याग्रह शुद्ध अहिंसात्मक शस्त्र है। उसका उपयोग और उसकी मर्यादा बताना मैं अपना धर्म समझता हूँ। अँग्रेज सरकार बलवान् है, इस बात पर मुझे सन्देह नहीं। परन्तु सत्याग्रह सर्वोपरि शस्त्र है, इस विषय में भी मुझे कोई सन्देह नहीं।'

इसपर उस समझदार सेक्रेटरी ने सिर हिलाया और कहा—'देखेंगे।'

शान्ति-निकेतन

राजकोट से मैं शान्ति-निकेतन गया। वहाँ के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने मुझपर बड़ी प्रेम-वृष्टि की। स्वागत की विधि में सादगी, कला और प्रेम का सुन्दर मिश्रण था। वहाँ काका सा० कालेलकर से मेरी पहली बार मुलाकात हुई।

कालेलकर 'काका साहब' क्यों कहलाते थे, यह मैं उस समय नहीं जानता था। पर बाद को मालूम हुआ कि केशवराव देशपाण्डे, जो विलायत में मेरे सम-कालीन थे और जिनके साथ विलायत में मेरा बहुत परिचय हो गया था, बड़ौदा राज्य में 'गंगनाथ विद्यालय' का संचालन कर रहे थे। वहाँ की बहुतेरी

भावनाओं में एक भावना यह भी थी कि विद्यालय में कुटुम्ब-भाव होना चाहिए। इस कारण वहाँ तमाम अध्यापकों के कौटुम्बिक नाम रक्खे गये थे। इसमें कालेलकर को 'काका' नाम दिया था। फड़के 'मामा' हुए। हरिहर शर्मा 'अण्णा' बने। इसी तरह और भी नाम रक्खे गये। आगे चलकर इस कुटुम्ब में आनन्दानन्द (स्वामी) काका के साथी के रूप में और पटवर्धन (आप्पा) मामा के मित्र के रूप में इस कुटुम्ब में शामिल हुए। इस कुटुम्ब के ये पाँचों सज्जन एक के बाद एक मेरे साथी हुए। देशपाण्डे 'साहब' के नाम से विख्यात हुए। साहब का विद्यालय बन्द होने के बाद यह कुटुम्ब तितर-बितर हो गया, परन्तु इन लोगों ने अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं छोड़ा। काका सा० तरह-तरह के अनुभव लेने लगे और इसी क्रम में वह शान्ति-निकेतन में रह रहे थे। उसी मण्डल के एक और सज्जन चिन्तामण शास्त्री भी वहाँ रहते थे। ये दोनों संस्कृत पढ़ाने में सहायता देते थे।

शान्ति-निकेतन में मेरे मण्डल को अलग स्थान में ठहराया गया था। वहाँ मगनलाल गांधी उस मण्डल की देखभाल कर रहे थे और फिनिक्स-आश्रम के तमाम नियमों का बारीकी से पालन कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने शान्ति-निकेतन में अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योग-शीलता के कारण अपनी सुगन्ध,

फैला रक्खी थी। एण्डरूज तो वहाँ थे ही। पीयर्सन भी थे। जगदानन्द बाबू, नेपाल बाबू, संतोष बाबू, खितिमोहन बाबू, नगीन बाबू, शरद बाबू और काली बाबू से उनका अच्छा परिचय हो गया था।

अपने स्वभाव के अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकों मे मिल-जुल गया और शारीरिक श्रम तथा काम करने के बारे मे वहाँ चर्चा करने लगा। मैंने सूचित किया कि वैतनिक रसोइया की जगह यदि शिक्षक और विद्यार्थी ही अपनी रसोई पका लें तो अच्छा हो। रसोईघर पर आरोग्य और नीति की दृष्टि से शिक्षक-गण देख-भाल करें और विद्यार्थी स्वावलम्बन और स्वयं-पाक का पदार्थ-पाठ लें। यह बात मैंने स्वय वहाँ के शिक्षकों के सामने उपस्थित की। एक दो शिक्षकों ने तो इसपर सिर हिला-दिया, परंतु कुछ लोगों को मेरी बात बहुत पसंद भी हुई। बालकों को तो वह बहुत ही जँच गई, क्योंकि उनको तो स्वभाव से ही हर एक नई बात पसंद आ जाया करती है। बस, फिर क्या था, प्रयोग शुरू हुआ। जब कविवर तक यह बात पहुँची तो उन्होंने कहा, यदि शिक्षक लोगो को यह बात पसंद आ जाय तो मुझे यह जरूर प्रिय है। उन्होंने विद्यार्थियो से कहा कि यह स्वराज्य की कुञ्जी है।

पीयर्सन ने इस प्रयोग को सफल करने में जी-जान से

मिहनत की। उनको यह बात बहुत ही पसंद आई थी। एक ओर शाक काटने वालों का जमघट हो गया, दूसरी ओर अनाज साफ करने वाली मण्डली बैठ गई। रसोई-घर के आस-पास शास्त्रीय शुद्धि करने में नगीन बाबू आदि उठ गये। उनको कुदाली-फावड़े लेकर काम करते हुए देख मेरा हृदय बाँसों उछलने लगा।

परन्तु यह शारीरिक श्रम का काम ऐसा नहीं था कि सवा सौ लड़के और शिक्षक एकाएक बरदाश्त कर सकें। इसलिए रोज इसपर बहस होती। कितने ही लोग थक भी जाते। किन्तु पीयर्सन क्यों थकने लगे? वह हमेशा हँसमुख रहकर रसोई के किसी-न-किसी काम में लगे ही रहते। बड़े-बड़े बर्तनों को माँजना उन्हींका काम था।

बर्तन माँजनेवाली टुकड़ी की थकावट उतारने के लिए कितने ही विद्यार्थी वहाँ सितार बजाते। हर काम को विद्यार्थी बड़े उत्साह के साथ करने लगे और सारा शान्ति-निकेतन शहद के छत्ते की तरह गुंजार करने लगा।

इस तरह के परिवर्तन जो एक बार आरम्भ होते हैं तो फिर वे रुकते नहीं। फिनिक्स का रसोई-घर केवल स्वावलम्बी ही नहीं था, बल्कि उसमें रसोई भी बहुत सादी बनती थी। मसाले वगैरा काम में नहीं लाये जाते थे। इसलिए भात, दाल, शाक और गेहूँ की चीजें भाफ में पका ली जाती थीं। बंगाली भोजन में

सुधार करने के इरादे से इस प्रकार की एक पाकशाला रक्खी गई थी। इसमें एक-दो अध्यापक और कुछ विद्यार्थी शामिल हुए थे।

ऐसे प्रयोगों के फल-स्वरूप सार्वजनिक अर्थात् बड़े भोजनालय को स्वावलम्बी रखने का प्रयोग शुरू हो सका था।

परन्तु अन्त को कुछ कारणों से यह प्रयोग बन्द होगया। मेरा यह निश्चित मत है कि थोड़े समय के लिए भी इस जग-विख्यात संस्था ने इस प्रयोग को करके कुछ खोया नहीं है और उससे जो कुछ अनुभव हुए हैं वे उसके लिए उपयोगी साबित हुए थे।

मेरा इरादा शान्ति-निकेतन में कुछ दिन रहने का था। परन्तु मुझे विधाता जबर्दस्ती वहाँ से घसीट ले गया। मैं मुश्किल से वहाँ एक सप्ताह रहा होऊँगा कि पूने से गोखले के अवसान का तार मिला। सारा शान्ति-निकेतन शोक मे डूब गया। मेरे पास सब मातमपुरसी के लिए आये। वहाँ के मन्दिर में खास तौर पर सभा हुई। उस समय वहाँ का गम्भीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूना रवाना हुआ। साथ में पत्नी और मगनलाल को लिया। बाकी सब लोग शान्ति-निकेतन में रहे।

एंडरूज बर्दवान तक मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या आपको प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तान मे सत्याग्रह करने का समय आवेगा? यदि हाँ, तो कब? इसका कुछ खयाल होता है?'

मैंने इसका उत्तर दिया—'यह कहना मुश्किल है। अभी तो

एक साल तक मैं कुछ करना नहीं चाहता। गोखले ने मुझसे वचन लिया है कि मैं एक साल तक भ्रमण करूँ। किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर अपने विचार न प्रकट करूँ। मैं अक्षरशः इस वचन का पालन करना चाहता हूँ। इसके बाद भी मैं तबतक कोई बात न कहूँगा, जबतक किसी प्रश्न पर कुछ कहने की आवश्यकता न होगी। इसलिए मैं नहीं समझता कि अगले पाँच वर्ष तक सत्याग्रह करने का कोई अवसर आवेगा।'

यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने जो विचार प्रदर्शित किये हैं गोखले उनपर हँसा करते और कहते थे, 'एक वर्ष तुम हिन्दुस्तान में रहकर देखोगे तो तुम्हारे ये विचार अपने-आप ठंडे हो जायँगे।'

तीसरे दर्जे की मुसीबत

अदैवान पहुँचकर हम तीसरे दर्जे का टिकट कटाना चाहते थे, पर टिकिट लेने में बड़ी मुसीबत हुई। टिकट लेने पहुँचा तो जवाब मिला—'तीसरे दर्जे के मुसाफिर के लिए पहले से टिकट नहीं दिया जाता।' तब मैं स्टेशन-मास्टर के पास गया। मुझे वहाँ भला कौन जाने देता? किसी ने दया करके बताया कि स्टेशन-मास्टर वहाँ हैं। मैं पहुँचा। उनके पास से भी वही उत्तर मिला। जब खिड़की खुली तब टिकट लेने गया, परंतु टिकट मिलना आसान नहीं था। हट्टे-कट्टे मुसाफिर मुझ जैसों को पीछे धकेल कर आगे घुस जाते। आखिर टिकट तो किसी तरह मिल गया।

गाड़ी आई। इसमें भी जो जबर्दस्त थे वे घुस गये। उतरने-वालों और चढ़नेवालों के सिर टकराने लगे और धक्का-मुक्की होने लगी। इसमें भला मैं कैसे शरीक हो सकता था? इसलिए हम तीनों एक जगह से दूसरी जगह जाते। सब जगह से यही जवाब मिलता—'यहाँ जगह नहीं है।' तब मैं गार्ड के पास गया। उसने जवाब दिया—'जगह मिले तो बैठ जाओ, नहीं तो दूसरी गाड़ी से जाना।' मैंने नरमी से उत्तर दिया—'पर मुझे जरूरी काम है।' गार्ड को यह सुनने का वक्त नहीं था। अब मैं सब तरह से हार गया। मगनलाल से कहा—'जहाँ जगह मिल जाय बैठ जाओ।' और मैं पत्नी को लेकर तीसरे दर्जे के टिकट से ही ड्योढ़े दर्जे में घुसा। गार्ड ने मुझे उसमें जाते हुए देख लिया था।

आसनसोल स्टेशन पर गार्ड ड्योढ़े दर्जे का किराया लेने आया। मैंने कहा—'आपका फर्ज था कि आप मुझे जगह बताते। वहाँ जगह न मिलने से मैं यहाँ बैठ गया। मुझे तीसरे दर्जे में जगह दिलाइए तो मैं वहाँ जाने को तैयार हूँ।'

गार्ड सा० बोले—'मुझसे तुम दलील न करो। मेरे पास जगह नहीं है, किराया न दोगे तो तुमको गाड़ी से उतर जाना होगा।'

मुझे तो किसी तरह जल्दी पूना पहुँचना था। गार्ड से लड़ने के लिए मेरे पास समय न था, न सुविधा ही थी। लाचार होकर

मैंने किराया चुका दिया। उसने ठेठ पूना तक का ड्योढ़े दर्जे का किराया वसूल किया। मुझे यह अन्याय बहुत अखरा।

सुबह हम मुगलसराय आये। मगनलाल को तीसरे दर्जे मे जगह मिल गई थी। वहाँ मैंने टिकट-कलेक्टर को सब हाल सुनाया और इस घटना का प्रमाण-पत्र मैंने उससे माँगा। उसने इन्कार कर दिया। मैंने रेलवे के बड़े अफसर को अधिक भाड़ा वापस मिलने के लिए दरख्वास्त दी। उसका उत्तर इस आशय का मिला—'प्रमाण-पत्र के बिना अधिक भाड़े का रुपया लौटाने का रिवाज हमारे यहाँ नहीं है। परंतु यह आपका मामला है, इसलिए आपको लौटा देते हैं। बर्दवान से मुगलसराय तक का अधिक किराया वापस नहीं दिया जा सकता।'

इसके बाद तीसरे दर्जे के सफर के इतने अनुभव हुए हैं कि उनकी एक पुस्तक बन सकती है। परंतु प्रसङ्गोपात उनका जिक्र करने के उपरान्त इन अध्यायों में उनका समावेश नहीं हो सकता। शरीर-प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण मेरी तीसरे दर्जे की यात्रा बन्द हो गई है। यह बात मुझे सदा खटकती रहती है और खटकती रहेगी। तीसरे दर्जे के सफर में कर्मचारियों की 'जो-हुक्मी' की जिल्लत तो उठानी ही पड़ती है; परन्तु तीसरे दर्जे के यात्रियों की जहालत, गंदगी, स्वार्थ-भाव और अज्ञान का भी कम अनुभव नहीं होता। खेद की बात तो यह है कि बहुत बार

तो मुसाफिर जानते ही नहीं कि वे उद्दण्डता करते हैं या गंदगी बढ़ाते हैं या स्वार्थ साधते हैं। वे जो-कुछ करते हैं वह उन्हें स्वाभाविक मालूम होता है। और इधर हम जो सुधारक कहे जाते हैं, उनकी बिलकुल पर्वाह नहीं करते।

कल्याण जंक्शन पर हम किसी तरह थके-मांदे पहुँचे। नहाने की तैयारी की। मगनलाल और मैं स्टेशन के नल से पानी लेकर नहाये। पत्नी के लिए मैं कुछ तजवीज कर रहा था कि इतने में भारत-सेवक-समिति के भाई कौल ने हमको पहचाना। वह भी पूना जा रहे थे। उन्होंने कहा—'इनको तो नहाने के लिए दूसरे दर्जे के कमरे में ले जाना चाहिए।' उनके इस सौजन्य से लाभ उठाते हुए मुझे संकोच हुआ। मैं जानता था कि पत्नी को दूसरे दर्जे के कमरे का लाभ उठाने का अधिकार न था। परन्तु मैंने इस अनौचित्य की ओर से उस समय आँखें मूँद लीं। सत्य के पुजारी को सत्य का इतना उल्लंघन भी शोभा नहीं देता। पत्नी का आग्रह नहीं था कि वह उसमें जाकर नहावे। परन्तु पति के मोह-रूपी सुवर्ण पात्र ने सत्य को ढाँक लिया था।

मेरा प्रयत्न

पूना पहुँचकर उत्तर-क्रिया इत्यादि से निवृत्त हो हम सब लोग इस बात पर विचार करने लगे कि समिति का काम कैसे चलाया जाय और मैं उसका सभ्य बनूँ या नहीं। इस समय मुझपर बड़ा बोझ आपड़ा था। गोखले के जीतेजी मुझे समिति में प्रवेश करने की आवश्यकता ही नहीं थी। मैं तो सिर्फ गोखले की आज्ञा और इच्छा के अधीन रहना चाहता था। यह स्थिति मुझे भी पसन्द थी; क्योंकि भारतवर्ष के जैसे तूफानी समुद्र में कूदते हुए मुझे एक दक्ष कर्णधार की आवश्यकता थी और गोखले जैसे कर्णधार के आश्रय मे मैं अपने को सुरक्षित समझता था।

अब मेरा मन कहने लगा कि मुझे ।समिति में प्रविष्ट होने के लिए जरूर प्रयत्न करना चाहिए। मैंने सोचा कि गोखले की आत्मा यही चाहती होगी। मैंने बिना संकोच के दृढ़ता के साथ प्रयत्न शुरू किया। इस समय समिति के सब सदस्य वहाँ मौजूद थे। मैंने उनको समझाने और मेरे सम्बन्ध में जो भय उन्हें था उसको दूर करने की भरसक कोशिश की। पर मैंने देखा कि सभ्यों में इस विषय पर मत-भेद था। कुछ सभ्यों की राय थी कि मुझे समिति में लेलेना चाहिए और कुछ दृढ़ता-पूर्वक इसका विरोध करते थे। परन्तु दोनों के मन में मेरे प्रति प्रेम-भाव की कमी न थी। किन्तु, हाँ, मेरे प्रति प्रेम की अपेक्षा समिति के प्रति उनकी वफादारी शायद अधिक थी, मेरे प्रति प्रेम से तो कम किसी हालत में न थी।

इससे हमारी यह सारी बहस मीठी थी और केवल सिद्धान्त पर ही थी। जो मित्र मेरा विरोध कर रहे थे उनका यह खयाल हुआ कि कई बातों में मेरे और उनके विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर है। इससे भी आगे चलकर उनका यह खयाल हुआ कि जिन ध्येयों को सामने रखकर गोखले ने समिति की रचना की थी, मेरे समिति में आजाने से उन्हीं के जोखिम में पड़ जाने की संभावना थी और यह बात उन्हें स्वाभाविक तौर पर ही असह्य मालूम हुई। बहुत-कुछ चर्चा हो जाने के बाद हम अपने-अपने

घर गये। सभ्यों ने अन्तिम निर्णय सभा की दूसरी बैठक तक स्थगित रक्खा।

घर जाते हुए मैं बड़े विचार के भँवर में पड़ गया। बहु-मत के बल पर मेरा समिति में दाखिल होना क्या उचित है? क्या गोखले के प्रति यह मेरी वफादारी होगी? यदि बहु-मत मेरे खिलाफ हो जाय तो क्या इससे मैं समिति की स्थिति को विषम बनाने का निमित्त न बनूंगा? मुझे यह साफ दिखाई पड़ा कि जबतक समिति के सभ्यों में मुझे सदस्य बनाने के विषय में मत-भेद हो तबतक मुझे खुद ही उसमें दाखिल हो जाने का आग्रह छोड़ देना चाहिए, और इस तरह विरोधी पक्ष को नाजुक स्थिति में पड़ने से बचा लेना चाहिए। इसीमें मुझे समिति और गोखले के प्रति अपनी वफादारी दिखाई दी। अन्तरात्मा में यह निर्णय होते ही तुरंत मैंने श्री शास्त्री को पत्र लिखा कि आप मुझे सदस्य बनाने के विषय में सभा न बुलावें। विरोधी पक्ष को मेरा यह निश्चय बहुत पसंद आया। वे धर्म-संकट में से बच गये। उनकी मेरे साथ स्नेह-गांठ अधिक मजबूत हो गई। और इस तरह समिति में दाखिल होने की मेरी दरख्वास्त को वापस लेकर मैं समिति का सच्चा सभ्य बना।

अब अनुभव से मैं देखता हूँ कि मेरा बाकायदा समिति का सभ्य न होना ठीक ही हुआ। और कुछ सभ्यों ने मेरे सदस्य

बनने का जो विरोध किया था वह वास्तविक था। अनुभव ने दिखला दिया है कि उनके और मेरे सिद्धान्तों में भेद था। परंतु मत-भेद जान लेने के बाद भी हम लोगों की आत्मा में कभी अन्तर न पड़ा। न कभी मन-मुटाव ही हुआ। मत-भेद रहते हुए भी हम बन्धु और मित्र बने हुए हैं। समिति का स्थान मेरे लिए यात्रा-स्थल हो गया है। लौकिक दृष्टि से भले ही मैं उसका सभ्य न बना हूँ; पर आध्यात्मिक दृष्टि से तो हूँ ही। लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा आध्यात्मिक संबंध अधिक कीमती है। आध्यात्मिक संबंध से हीन लौकिक सम्बन्ध प्राण-हीन शरीर के समान है।

कुम्भ

मुझे डाक्टर प्राणजीवनदास महता से मिलने रंगून जाना था। रास्ते में कलकत्ता में श्री भूपेन्द्रनाथ बसु के निमन्त्रण से, मैं उनके यहाँ ठहरा। यहाँ तो मैंने बंगाल के शिष्टाचार की हद देखी। इन दिनों मैं सिर्फ फलाहार ही करता था। मेरे साथ मेरा पुत्र रामदास भी था। भूपेन्द्र बाबू के यहाँ जितने फल और मेवे कलकत्ता में मिलते थे सब लाकर जुटाये गये थे। स्त्रियों ने रातों-रात जग कर बादाम पिस्ता वगैरा को भिगो-कर उनके छिलके निकाले थे। तरह-तरह के फल भी जितना हो सकता था सुरुचि और चतुराई के साथ तैयार किये गये थे।

मेरे साथियों के लिए तरह-तरह के पकान्न बनाये गये थे। इस प्रेम और विवेक के आन्तरिक भाव को तो मैं समझा; परन्तु यह बात मुझे असह्य मालूम हुई कि एक-दो मेहमानों के लिए सारा घर दिन-भर काम में लगा रहे। किंतु इस संकट से बचने का मेरे पास कोई उपाय न था। रंगून जाते हुए जहाज में मैंने डेक पर यात्रा की थी। श्री बसु के यहाँ यदि प्रेम की मुसीबत थी तो जहाज में प्रेम के अभाव की। यहाँ डेक के यात्रियों के कष्टों का बहुत बुरा अनुभव हुआ। नहाने की जगह इतनी गंदगी थी कि खड़ा नहीं रहा जाता था। पाखाना तो नरक ही समझिए। मल-मूत्र को छूकर या लांघ कर ही पाखाने में जा सकते थे। मेरे लिए ये कठिनाइयाँ बहुत भारी थीं। मैंने कप्तान से इसकी शिकायत की। पर कौन सुनने लगा? इधर यात्रियों ने भी खूब गन्दगी कर-करके डेक को बिगाड़ रक्खा था। जहाँ बैठे होते वहीं थूक देते, वहीं तम्बाकू की पिचकारियाँ चला देते, वहीं खा-पी कर छिलके और कचरा डाल देते। बात-चीत की आवाज और शोर-गुल का तो कहना ही क्या? हर शख्स जितनी होती थी ज्यादह जगह रोक लेता था, कोई किसी की सुविधा का जरा भी खयाल न करता था। खुद जितनी जगह पर कब्जा करते उससे ज्यादा जगह सामान से रोक लेते। ये दो दिन मैंने राम-राम करके बिताये।

रंगून पहुँचने पर मैंने एजेण्ट को इस दुर्दशा की कथा लिख भेजी। लौटते वक्त भी मैं आया तो डेक ही में; परन्तु उस चिट्ठी के तथा डाक्टर मेहता के इन्तज़ाम के फल-स्वरूप उतने कष्ट न उठाने पड़े।

मेरे फलाहार की झंझट यहाँ भी आवश्यकता से अधिक की जाती थी। डाक्टर मेहता से तो मेरा ऐसा सम्बन्ध है कि उनके घर को मैं अपना घर समझ सकता हूँ। इससे मैंने खाने की चीज़ों की संख्या तो कम कर दी थी; परन्तु अपने लिए उसकी कोई मर्यादा नहीं बनाई थी। इससे तरह-तरह का मेवा वहाँ आता और मैं उसका विरोध न करता। उस समय मेरी हालत यह थी कि यदि तरह-तरह की चीजें होतीं तो वे आँख और जीभ को रुचती थीं। खाने के वक्त का कोई बन्धन तो था ही नहीं। मैं खुद जल्दी खाना पसन्द करता था, इसलिए बहुत देर नहीं होती थी, हालाँकि रात को आठ-नौ तो सहज बज जाते।

इस साल (१९१५) हरद्वार में कुम्भ का मेला पड़ता था। उसमें जाने की मेरी प्रबल इच्छा थी। फिर मुझे महात्मा मुंशीरामजी के दर्शन भी करने थे। कुंभ के मेले के अवसर पर गोखले के सेवक-समाज ने एक बड़ा स्वयं-सेवक-दल भेजा था। उसकी व्यवस्था का भार श्री हृदयनाथ कुंजरू को सौंपा गया था। स्वर्गीय डाक्टर देव भी उसमें थे। यह बात तय पाई कि उन्हें मदद देने के लिए

मैं भी अपनी टुकड़ी को ले जाऊँ। इसलिए मगनलाल गांधी शान्ति-निकेतन वाली हमारी टुकड़ी को लेकर मुझसे पहले हरद्वार पहुँच गये थे। मैं भी रंगून से लौटकर उनके साथ शामिल हो गया।

कलकत्ते से हरद्वार पहुँचते हुए रेल में खूब आफत उठानी पड़ी। डिब्बों में कभी-कभी तो रोशनी तक भी न होती। सहारनपुर से तो यात्रियों को मवेशी की तरह डिब्बों में भर दिया था। खुले डिब्बे, ऊपर से मध्याह्न का सूर्य तप रहा था, नीचे लोहे की जमीन गरम हो रही थी। इस मुसीबत का क्या पूछना? फिर भी भावुक हिन्दू प्यास से गला सूखने पर भी मुसलमान पानी आता तो नहीं पीते। जब 'हिन्दू पानी' की आवाज आती तभी पानी पीते। वही भावुक हिन्दू, दवा में जब डाक्टर शराब देते हैं, मुसलमान या ईसाई पानी देते हैं, मांसका सत्व देते हैं, तब उसे पीने में संकोच नहीं करते। उसके सम्बन्ध में तो पूछ-ताछ करने की आवश्यकता ही नहीं समझते।

हमने यह बात शान्ति-निकेतन में ही देख ली थी कि हिन्दुस्थान में भंगी का काम करना हमारा विशेष कार्य हो जायगा। स्वयंसेवकों के लिए वहाँ किसी धर्म-शाला में तंबू ताने गये थे। पाखाने के लिए डाक्टर देव ने गड्ढे खुदवाये थे, परन्तु उनकी सफाई का इन्तजाम तो वह उन्हीं थोड़े मेहतरों से करा सकते थे, जो ऐसे समय वेतन पर मिल सकते थे। ऐसी दशा में मैंने यह

प्रस्ताव किया कि गड्ढों में मल को समय समय पर मिट्टी से ढाँकना तथा और तरह से सफाई रखना, यह काम फिनिक्स के स्वयंसेवकों के जिम्मे किया जाय। डाक्टर देव ने इसे स्वीकार किया। इस सेवा को माँगकर लेने वाला तो था मैं, परन्तु उसे पूरा करने का बोझा उठाने वाले थे मगनलाल गाँधी।

मेरा काम वहाँ क्या था? डेरे में बैठकर जो अनेक यात्री आते उन्हें 'दर्शन' देना और उनके साथ धर्म-चर्चा तथा दूसरी बातें करना। दर्शन देते-देते मैं घबरा उठा, उससे मुझे एक मिनट की भी फुरसत नहीं मिलती थी। मैं नहाने जाता तो वहाँ भी मुझे दर्शनाभिलाषी अकेला नहीं छोड़ते। और फलाहार के समय तो एकान्त मिल ही कैसे सकता था? तम्बू में कहीं भी एक पल के लिए अकेला न बैठता। दक्षिण आफ्रिका में जो कुछ सेवा मुझसे हो सकी उसका इतना गहरा असर सारे भरत-खण्ड में हुआ होगा, यह बात मैंने हरद्वार में ही अनुभव की।

मैं तो मानों चक्की के दोनों पाटों में पिसने लगा। जहाँ लोग पहचानते नहीं वहाँ तीसरे दर्जे के यात्री के रूप में मुसीबत उठाता; जहाँ ठहर जाता वहाँ दर्शनार्थियों के प्रेम से घबरा जाता। दो में से कौन सी स्थिति अधिक दयाजनक है, यह मेरे लिए कहना बहुत बार मुश्किल हुआ है। हाँ, इतना तो जानता हूँ कि दर्शनार्थियों के प्रदर्शन से मुझे गुस्सा आया है और मन ही मन तो

उससे अधिक बार संताप हुआ है। तीसरे दर्जे की मुसीबतों से सिर्फ मुझे कष्ट ही उठाने पड़े हैं, गुस्सा मुझे शायद ही आया हो, और इस कष्ट से तो मेरी उन्नति ही हुई है।

इस समय मेरे शरीर में घूमने-फिरने की शक्ति अच्छी थी। इससे मैं इधर-उधर ठीक-ठीक घूम-फिर सका। उस समय मैं इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ था कि जिससे रास्तों में चलना भी मुश्किल होता हो। इस भ्रमण में मैंने लोगों की धर्म-भावना की अपेक्षा उनकी लापर्वाही, अधीरता, पाखण्ड और अव्यवस्थितता अधिक देखी। साधुओं के और जमातों के तो दल टूट पड़े थे। ऐसा मालूम होता था मानों वे महज मालपूए और खीर खाने के लिए ही जन्मे हों। यहाँ मैंने पाँच पांव वाली गाय देखी। उसे देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ; परन्तु अनुभवी आदमियों ने तुरंत मेरा अज्ञान दूर कर दिया। यह पांच पैरोंवाली गाय तो दुष्ट और लोभी लोगों का शिकार थी—बलिदान था। जीते बछड़े के पैर काट कर गाय के कन्धे का चमड़ा चीर कर उसमें चिपका दिया जाता था और इस दुहेरी घातक क्रिया के द्वारा भोले-भाले लोगों को दिन-दहाड़े ठगने का उपाय निकाला गया था! कौन हिन्दू ऐसा है, जो इस पाँच पाँव वाली गायके दर्शन के लिए न उत्सुक हो? इस पाँच पाँव वाली गाय के लिए वह जितना ही दान दे उतना ही कम!!

अब कुम्भ का दिन आया। मेरे लिए वह घड़ी धन्य थी। परन्तु मैं तीर्थयात्रा की भावना से हरद्वार नहीं गया था। पवित्रता आदि के लिए तीर्थक्षेत्र में जाने का मोह मुझे कभी न रहा। मेरा खयाल यह था कि सत्रह लाख आदमियों में सभी पाखण्डी नहीं हो सकते। यह कहा जाता था कि मेले में सत्रह लाख आदमी इकट्ठे हुए थे। मुझे इस विषय में कुछ सन्देह नहीं था कि इनमें असंख्य लोग पुण्य कमाने के लिए, अपने को शुद्ध करने के लिए, आये थे। परन्तु इस प्रकार की श्रद्धा से आत्मा की उन्नति होती होगी, यह कहना असम्भव नहीं तो मुश्किल जरूर है।

बिछौने में पड़ा-पड़ा मैं विचार-सागर में डूब गया, 'चारों ओर फैले इस पाखण्ड में वे पवित्र आत्मायें भी हैं? वे लोग ईश्वर के दरबार में दण्ड के पात्र नहीं माने जा सकते। ऐसे समय हरद्वार में आना ही यदि पाप हो तो फिर मुझे प्रकट रूप से उसका विरोध करके कुम्भ के दिन तो हरद्वार अवश्य छोड़ देना चाहिए। यदि यहाँ आना और कुम्भ के दिन रहना पाप न हो तो मुझे कोई कठोर व्रत लेकर इस प्रचलित पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिए। आत्मशुद्धि करनी चाहिए।' मेरा जीवन व्रतों पर रचा गया है; इसलिए कोई कठोर व्रत लेने का निश्चय किया। इसी समय कलकत्ता और रंगून में मेरे निमित्त यजमानों को जो अनावश्यक परिश्रम करना पड़ा उसका भी स्मरण हो आया।

इस कारण मैंने भोजन की वस्तुओं की संख्या मर्यादित कर लेने का और शाम को अंधेरे के पहले भोजन कर लेने का व्रत लेना निश्चित किया। मैंने सोचा कि यदि मैं अपने भोजन की मर्यादा नहीं रक्खूँगा तो यजमानों के लिए बहुत असुविधा-जनक होता रहूँगा और सेवा करने के बजाय उनको अपनी सेवा करने में लगाता रहूँगा। इसलिए चौबीस घण्टों में पाँच चीजों से अधिक न खाने का और रात्रि-भोजन-त्याग का व्रत ले लिया। दोनों की कठिनाई का पूरा-पूरा विचार कर लिया था। इन व्रतों में एक भी अपवाद न रखने का निश्चय किया। बीमारी में दवा के रूप में ज्यादा चीजें लेना या न लेना, दवा को भोजन की वस्तु में गिनना या न गिनना, इन सब बातों का विचार कर लिया और निश्चय किया कि खाने की कोई चीज पाँच से अधिक न लूँगा। इन दो व्रतों को आज तेरह साल हो गये। इन्होंने मेरी खासी परीक्षा की है, परन्तु जहाँ एक ओर उन्होंने परीक्षा की है वहाँ उन्होंने मेरे लिए ढाल का भी काम दिया है। मैं मानता हूँ कि इन व्रतों ने मेरी आयु बढ़ा दी है, इनकी बदौलत मेरी धारणा है कि मैं बहुत बार बीमारियों से बच गया हूँ।

लक्ष्मण-झूला

पहाड़-जैसे दीखनेवाले महात्मा मुन्शीराम के दर्शन करने और उनके गुरुकुल को देखने जब मैं गया तब मुझे बहुत शान्ति मिली। हरद्वार के कोलाहल और गुरुकुल की शान्ति का भेद स्पष्ट दिखाई देता था। महात्माजी ने मुझपर भरपूर प्रेम की वृष्टि की। ब्रह्मचारी लोग मेरे पास से हटते ही नहीं थे। रामदेवजी से भी उसी समय मुलाकात हुई और उनकी कार्य-शक्ति को मैं तुरन्त पहचान सका था। यद्यपि हमारी मत-भिन्नता हमें उसी समय दिखाई पड़ गई थी; फिर भी हमारे आपस में स्नेह गाँठ बँध गई। गुरुकुल में औद्योगिक शिक्षण का

प्रवेश करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में रामदेवजी तथा दूसरे शिक्षकों के साथ मेरा ठीक-ठीक वार्तालाप भी हुआ। इससे जल्दी ही गुरुकुल को छोड़ते हुए मुझे दुःख हुआ।

'लक्ष्मण-झूला' की तारीफ मैंने बहुत सुन रक्खी थी। ऋषिकेश गये बिना हरद्वार न छोड़ने की सलाह मुझे बहुत से लोगों ने दी। मैंने वहाँ पैदल जाना चाहा। एक मंजिल ऋषिकेश की और दूसरी लक्षमण-झूले की की।

ऋषिकेश में बहुत से संन्यासी मिलने के लिए आये थे। उनमें से एक को मेरे जीवन-क्रम में बहुत दिलचस्पी पैदा हुई। फिनिक्स-मण्डली मेरे साथ थी ही। हम सबको देखकर उन्होंने बहुतेरे प्रश्न पूछे। हम लोगों में धर्म-चर्चा भी हुई। उन्होंने देख लिया कि मेरे अन्दर तीव्र धर्मभाव है। मैं गंगा-स्नान करके आया था और मेरा शरीर खुला था। उन्होंने मेरे सिर पर न चोटी देखी और न बदन पर जनेऊ। इससे उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने कहा—

'आप हैं तो आस्तिक, परन्तु शिखा-सूत्र नहीं रखते; इससे हम जैसों को दुःख होता है। हिन्दू-धर्म की ये दो बाह्य-संज्ञायें हैं और प्रत्येक हिन्दू को इन्हें धारण करना चाहिए।'

जब मेरी उमर कोई दस वर्ष की रही होगी तब पोरबन्दर में ब्राह्मणों के जनेऊ से बँधी चाबियों की झंकार मैं सुना करता

था और उसकी मुझे ईर्ष्या भी होती थी। मन में यह भाव उठा करता कि मैं इसी तरह जनेऊ में चावियाँ लटका कर झंकार किया करूँ तो अच्छा हो। काठियावाड़ के वैश्य कुटुम्बों में उस समय जनेऊ का रिवाज नहीं था। हाँ, नये सिरे से इस बात का प्रचार अलबत्ता हो रहा था कि द्विज-मात्र को जनेऊ अवश्य पहनना चाहिए। उसके फल-स्वरूप गांधी-कुटुम्ब के कितने ही लोग जनेऊ पहनने लगे थे। जिस ब्राह्मण ने हम दो-तीन सगे-सम्बन्धियों को राम-रक्षा का पाठ सिखाया था, उसीने हमें जनेऊ पहनाया। मुझे अपने पास चावियाँ रखने का कोई प्रयोजन नहीं था। तो भी मैंने दो-तीन चावियाँ लटका लीं। जब वह जनेऊ टूट गया तब उसका मोह उतर गया था या नहीं, यह तो याद नहीं पड़ता; परन्तु मैंने नया जनेऊ फिर नहीं पहना।

बड़ी उमर में दूसरे लोगों ने फिर हिन्दुस्तान में तथा दक्षिण आफ्रिका में जनेऊ पहनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु उनकी दलीलों का असर मेरे दिल पर नहीं हुआ। शूद्र यदि जनेऊ नहीं पहन सकता तो फिर दूसरे लोगों को क्यों पहनना चाहिए? जिस बाह्य-चिन्ह का रिवाज हमारे कुटुम्ब में नहीं था उसे धारण करने का एक भी सबल कारण मुझे नहीं दिखाई दिया। मुझे जनेऊ से अरुचि नहीं थी। परन्तु उसे पहनने के कारणों का अभाव मालूम होता था। हाँ, वैष्णव होने के कारण

में कण्ठी जरूर पहनता था। शिखा तो घर के बड़े-बूढ़े हम भाइयों के सिर पर रखवाते थे; परन्तु विलायत में सिर खुला रखना पड़ता था। गोरे लोग देखकर हँसेंगे और हमें जंगली समझेंगे, इस शर्म से शिखा कटा डाली थी। मेरे भतीजे छगनलाल गांधी जो दक्षिण आफ्रिका में मेरे साथ रहते थे, बड़े भाव के साथ शिखा रख रहे थे। परन्तु इस वहम से कि उनकी शिखा वहाँ सार्वजनिक कामों में बाधा डालेगी, मैंने उनके दिल को दुखाकर भी छुड़ादी थी। इस तरह शिखा से मुझे उस समय शर्म लगती थी।

इन स्वामीजी से मैंने यह सब कथा सुनाकर कहा—

'जनेऊ तो मैं धारण नहीं करूँगा; क्योंकि असंख्य हिन्दू जनेऊ नहीं पहनते हैं फिर भी वे हिन्दू समझे जाते हैं, तो फिर मैं अपने लिए उसकी जरूरत नहीं देखता। फिर जनेऊ धारण के मानी हैं—दूसरा जन्म लेना अर्थात् हम विचार-पूर्वक शुद्ध हों, ऊर्ध्वगामी हों। आज तो हिन्दू-समाज और हिन्दुस्तान दोनों गिरी दशा में हैं। इसलिए हमें जनेऊ पहनने का अधिकार ही कहाँ है? जब हिन्दू-समाज अस्पृश्यता का दोष धो डालेगा, ऊँच-नीच का भेद भूल जायगा, दूसरी गहरी बुराइयों को मिटा देगा, चारों तरफ फैले अधर्म और पाखण्ड को दूर कर देगा, तब उसे भले ही जनेऊ पहनने का अधिकार हो। इसलिए जनेऊ

धारण करने की आपकी बात तो मुझे पट नहीं रही है। हाँ, शिखा-सम्बन्धी आपकी बात पर मुझे अवश्य विचार करना पड़ेगा। शिखा तो मैं रखता था। परन्तु शर्म और डर से उसे कटा डाला। मैं समझता हूँ कि वह तो मुझे फिर धारण कर लेनी चाहिए। अपने साथियों के साथ इस बात का विचार कर लूँगा।'

स्वामीजी को जनेऊ-विषयक मेरी दलील न जँची। जो कारण मैंने जनेऊ न पहनने के पक्ष में पेश किये, वे उन्हें पहनने के पक्ष में दिखाई दिये। अस्तु। जनेऊ के सम्बन्ध में उस समय ऋषिकेश में मैं जो विचार मैंने प्रदर्शित किया था वह आज भी प्रायः वैसा ही कायम है। जबतक संसार में भिन्न-भिन्न धर्मों का अस्तित्व है तबतक प्रत्येक धर्म के लिए किसी बाह्य संज्ञा की आवश्यकता भी शायद हो; परंतु जब वह बाह्य संज्ञा आडम्बर का रूप धारण कर लेती है अथवा अपने धर्म को दूसरे धर्म से पृथक् दिखलाने का साधन हो जाय, तब वह त्याज्य हो जाती है। आजकल मुझे जनेऊ हिन्दू-धर्म को ऊँचा उठाने का साधन नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए मैं उसके सम्बन्ध में उदासीन रहता हूँ।

शिखा के त्याग की बात जुदी है। वह शर्म और भय के कारण हुआ था; इसलिए अपने साथियों के साथ विचार करके मैंने उसे धारण करने का निश्चय किया। फिर अब हमको लक्ष्मण-झूले की ओर चलना चाहिए।

ऋषिकेश और लक्ष्मण-झूले के प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत पसंद आये। हमारे पूर्वजों की प्राकृतिक कला को पहचानने की क्षमता के प्रति और कला को धार्मिक स्वरूप देने की उनकी दूरंदेशी के प्रति मेरे मन में बड़ा आदर उत्पन्न हुआ। परंतु दूसरी ओर मनुष्य की कृति को वहाँ देखकर चित्त को शान्ति न हुई। हरद्वार की तरह ऋषिकेश में भी लोग रास्तों को और गंगा के सुन्दर किनारों को गंदा कर डालते थे। गंगा के पवित्र पानी को बिगाड़ते हुए भी उन्हें कुछ संकोच न होता था। दिशा-जंगल जाने वाले आम जगह और रास्तों पर ही बैठ जाते, यह देखकर मेरे चित्त को बड़ी चोट पहुँची।

लक्ष्मण-झूला जाते हुए रास्ते में लोहे का एक झूलता हुआ पुल देखा। लोगों से मालूम हुआ कि पहले यह पुल रस्सी का और बहुत मजबूत था, उसे तोड़कर एक उदार-हृदय मारवाड़ी सज्जन ने बहुत रुपये लगाकर यह लोहे का पुल बना दिया और उसकी कुञ्जी सौंप दी सरकार को! रस्सी के पुल का तो मुझे कुछ खयाल नहीं हो सकता; परन्तु यह लोहे का पुल तो वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य को कलुषित करता था और बहुत भद्दा मालूम होता था। फिर यात्रियों के इस रास्ते की कुञ्जी सरकार को सौंप दी गई, यह बात तो मेरी उस समय की वफादारी को भी असह्य मालूम हुई।

वहाँ से भी अधिक दुःखद दृश्य स्वर्गाश्रम का था। टीन के तबेले जैसे कमरों का नाम स्वर्गाश्रम रक्खा गया था। कहा गया था कि यह साधकों के लिए बनाया गया है। परंतु उस समय शायद ही कोई साधक वहाँ रहता हो। वहाँ की मुख्य इमारत में जो लोग रहते थे उन्होंने भी मेरे दिल पर अच्छी छाप नहीं डाली।

जो हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि हरद्वार के अनुभव मेरे लिए अमूल्य साबित हुए। मैं कहाँ जाकर बसूँ और क्या करूँ, इसका निश्चय करने में हरद्वार के अनुभव ने मुझे बहुत सहायता दी।

आश्रम की स्थापना

कुम्भ की यात्रा के पहले मैं एक बार और हरद्वार आ चुका था। सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना २५ मई १९१५ ई० को हुई। श्रद्धानन्दजी की यह राय थी कि मैं हरद्वार में बसूँ। कलकत्ते के कुछ मित्रों की सलाह थी कि वैद्यनाथ-धाम में डेरा डालूँ। और कुछ मित्र इस बात पर जोर दे रहे थे कि राजकोट में रहूँ।

पर जब मैं अहमदाबाद से गुजरा तो बहुतेरे मित्रों ने कहा कि आप अहमदाबाद को चुनिए। और आश्रम के खर्च का भार भी अपने जिम्मे उन्होंने लिया। मकान खोजने का भी आश्वासन

दिया। इसलिए अहमदाबाद पर मेरी नजर ठहर गई थी। मैं मानता था कि गुजराती होने के कारण मैं गुजराती भाषा के द्वारा देश की अधिक से अधिक सेवा कर सकूँगा। अहमदाबाद पहले हाथ-बुनाई का बड़ा भारी केन्द्र था, इससे चरखे का काम यहाँ अच्छी तरह हो सकेगा; और गुजरात का प्रधान नगर होने के कारण यहाँ के धनाढ्य लोग धन के द्वारा अधिक सहायता दे सकेंगे, यह भी ख़याल था।

अहमदाबाद के मित्रों के साथ जब आश्रम के विषय में बातचीत हुई तो अस्पृश्यों के प्रश्न की भी चर्चा उनसे हुई थी। मैंने साफ तौर पर कहा था कि यदि कोई योग्य अंत्यज भाई आश्रम में प्रविष्ट होना चाहेंगे तो मैं उन्हें अवश्य आश्रम में लूँगा।

'आपकी शर्तों का पालन कर सकने वाले अन्त्यज ऐसे कहाँ रास्तों में पड़े हुए हैं ?' एक वैष्णव मित्र ने ऐसा कहकर अपने मन को संतोष दे लिया और अन्त को अहमदाबाद में बसने का निश्चय हुआ।

अब हम मकान की तलाश करने लगे। श्री जीवनलाल बैरिस्टर का मकान, जो कोचरब में है, किराये लेना तय पाया। वही मुझे अहमदाबाद बसानेवालों मे अग्रणी थे।

इसके बाद आश्रम का नाम रखने का प्रश्न खड़ा हुआ। मित्रों से मैंने मशवरा किया। सेवाश्रम, तपोवन इत्यादि नाम सुझाये

गये। सेवाश्रम नाम हम लोगों को पसंद आता था। परन्तु उससे सेवा की पद्धति का परिचय नहीं होता था। तपोवन नाम तो भला स्वीकृत कैसे हो सकता था ? क्योंकि यद्यपि तपश्चर्या हम लोगों को प्रिय थी, फिर भी यह नाम हम लोगों को अपने लिए भारी मालूम हुआ। हम लोगों का उद्देश्य तो था सत्य की पूजा; सत्य की शोध करना, उसीका आग्रह रखना और दक्षिण आफ्रिका में जिस पद्धति का उपयोग हम लोगों ने किया था उसीका परिचय भारतवासियोंको कराना; एवं हमें यह भी देखना था कि उसकी शक्ति और प्रभाव कहाँ तक व्यापक हो सकता है। इसलिए मैंने और साथियों ने 'सत्याग्रहाश्रम' नाम पसंद किया। उसमें सेवा और सेवा-पद्धति, दोनों का भाव अपने-आप आजाता था।

आश्रम के संचालन के लिए नियमावली की आवश्यकता थी। इसलिए नियमावली बनाकर उसपर जगह-जगह से रायें मँगवाई गईं। बहुतेरी सम्मतियों में सर गुरुदास बनरजी की राय मुझे याद रहगई है। उन्हें नियमावली पसंद हुई, परन्तु उन्होंने सुझाया कि इन व्रतों में नम्रता के व्रत को भी स्थान मिलना चाहिए। उनके पत्र की ध्वनि यह थी कि हमारे युवक-वर्ग में नम्रता की कमी है। मैं भी जगह-जगह नम्रता के अभाव को अनुभव कर रहा था, मगर व्रत में स्थान देने से नम्रता के नम्रता न रह जाने का आभास आता था। नम्रता का पूरा अर्थ तो है शून्यता।

शून्यता प्राप्त करने के लिए दूसरे व्रत हुई हैं। शून्यता मोक्ष की स्थिति है। मुमुक्षु या सेवक के प्रत्येक कार्य में यदि नम्रता-निरभिमानिता न हो तो वह मुमुक्ष नहीं, सेवक नहीं; वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

आश्रम में इस समय लगभग तेरह तामिल लोग थे। मेरे साथ दक्षिण आफ्रिका से पाँच तामिल बालक आये थे। वे तथा यहाँ के लगभग २५ पुरुष मिलकर आश्रम का आरम्भ हुआ था। सब एकही भोजन-शाला में भोजन करते थे और इस तरह रहने का प्रयत्न करते थे, मानों सब एक ही कुटुम्ब के हों।

कसौटी पर

आश्रम की स्थापना को अभी कुछ ही महीने हुए थे कि इतने में हमारी एक ऐसी कसौटी हो गई, जिसकी हमने आशा नहीं की थी। एक दिन मुझे भाई अमृतलाल ठक्कर का पत्र मिला—'एक गरीब और दयानतदार अन्त्यज कुटुम्ब की इच्छा आपके आश्रम मे आकर रहने की है। क्या आप उसे ले सकेंगे?'

चिट्ठी पढ़कर मैं चौंका तो; क्योंकि मैंने यह बिलकुल आशा न की थी कि ठक्कर बापा जैसों की सिफारिश लेकर कोई अंत्यज कुटुम्ब इतनी जल्दी आजायगा। मैंने साथियों को वह चिट्ठी

दिखाई। उन लोगों ने उसका स्वागत किया। हमने अमृतलाल भाई को चिट्ठी लिखी कि यदि वह कुटुम्ब आश्रम के नियमों का पालन करने के लिए तैयार हो तो हम उसे लेने के लिए तैयार हैं।

बस, दूधाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दुधमुँही लक्ष्मी आश्रम में आ गये। दूधाभाई बम्बई में शिक्षक थे। वह आश्रम के नियमों का पालन करने के लिए तैयार थे। इसलिए वह आश्रम में ले लिये गये।

पर इससे सहायक मित्र-मण्डल में बड़ी खलबली मची। जिस कुँए में बंगले के मालिक का भाग था उसमें से पानी भरने में दिक्कत आने लगी। चरस हाँकनेवाले को भी यदि हमारे पानी के छींटे लग जाते तो उसे छूत लग जाती। उसने हमें गालियाँ देना शुरू किया। दूधाभाई को भी वह सताने लगा। मैंने सबसे कह रक्खा था कि गालियाँ सह लेना चाहिए और दृढ़ता-पूर्वक पानी भरते रहना चाहिए। हमको चुपचाप गालियाँ सुनता देख कर चरसवाला शर्मिन्दा हुआ और उसने हमारा पिण्ड छोड़ दिया। परन्तु इससे आर्थिक सहायता मिलना बन्द हो गया। जिन भाइयों ने पहले से ही उन अछूतों के प्रवेश पर भी, जो आश्रम के नियमों का पालन करते हों, शंका खड़ी की थी उन्हें तो यह आशा ही नहीं थी कि आश्रम में कोई अन्त्यज आजायगा। इधर आर्थिक सहायता बन्द हुई, उधर हम लोगों के बहिष्कार

की अफ़वाह मेरे कान पर आने लगी। मैंने अपने साथियों के साथ यह विचार कर रक्खा था कि यदि हमारा बहिष्कार हो जाय और हमें कहीं से सहायता न मिले तो भी हमें अहमदाबाद न छोड़ना चाहिए। हम अछूतों के मुहल्लों में जाकर बस जायँगे, और जो कुछ मिल जायगा उसपर अथवा मजदूरी करके गुज़र कर लेंगे।

अन्त को मगनलाल ने मुझे नोटिस दिया कि अगले महीने आश्रम-ख़र्च के लिए हमारे पास रुपये न रहेंगे। मैंने धीरज के साथ जवाब दिया—'तो हम लोग अछूतों के मुहल्लों में रहने लगेंगे।'

मुझपर यह संकट पहली ही बार नहीं आया था। परन्तु हर बार अख़ीर में जाकर उस साँवलिया ने कहीं-न-कहीं से मदद भेज दी है।

मगनलाल के इस नोटिस के थोड़े ही दिन बाद एक सुबह किसी बालक ने आकर ख़बर दी कि बाहर एक मोटर खड़ी है। एक सेठ आपको बुला रहे हैं। मैं मोटर के पास गया। सेठ ने मुझसे कहा—'मैं आश्रम को कुछ मदद देना चाहता हूँ, आप लेंगे?' मैंने उत्तर दिया—'हाँ, आप दें तो मैं ज़रूर ले लूँगा। और इस समय तो मुझे ज़रूरत भी है।'

'मैं कल इसी समय यहाँ आऊँगा तो आप आश्रम में ही

'मिलेंगे न ?' मैंने कहा—'हाँ।' और सेठ अपने घर गये। दूसरे दिन नियत समय पर मोटर का भोंपू बजा। बालकों ने मुझे खबर की। वह सेठ अन्दर नहीं आये। मैं ही उनसे मिलने के लिए गया। मेरे हाथ में (१३०००) रु० के नोट रखकर वह बिदा हो गये। इस मदद की मैंने बिलकुल आशा न की थी। मदद देने का यह तरीका भी नया ही देखा। उन्होंने आश्रम में इससे पहले कभी पैर न रक्खा था। मुझे ऐसा याद पड़ता है कि मैं उनसे एक बार पहले भी मिला था। न तो वह आश्रम के अन्दर आये, न कुछ पूछा-ताछा। बाहर से ही रुपया देकर चलते बने। इस तरह का यह पहला अनुभव मुझे था। इस मदद से अछूतों के मुहल्ले में जाने का विचार स्थगित रहा। क्योंकि लगभग एक वर्ष के खर्च का रुपया मुझे मिल गया था।

परन्तु बाहर की तरह आश्रम के अन्दर भी खलबली मची। यद्यपि दक्षिण आफ्रिका में अछूत वगैरा मेरे यहाँ आते, रहते, और खाते थे, परंतु यहाँ अछूत कुटुम्ब का आना और आकर रहना पत्नी को तथा दूसरी स्त्रियों को पसंद न हुआ। दानी बहन के प्रति उनका तिरस्कार तो नहीं, पर उदासीनता मेरी सूक्ष्म आँखें और तीक्ष्ण कान, जो ऐसे विषयों मे खास तौर पर सतर्क रहते हैं, देखते और सुनते थे। आर्थिक सहायता के अभाव से न तो मैं भय-भीत हुआ न चिन्ता-ग्रस्त ही। परंतु

यह भीतरी क्षोभ कठिन था। दानी बहन मामूली स्त्री थी। दूधाभाई की पढ़ाई भी मामूली थी, पर वह ज्यादा समझदार थे। उनका धीरज मुझे पसंद आया। कभी-कभी उन्हें गुस्सा आजाता, परन्तु आम तौर पर उनकी सहनशीलता की अच्छी ही छाप मुझपर पड़ी है। मैं दूधाभाई को समझाता कि छोटे छोटे अपमानों को हमें पी जाना चाहिए। वह समझ जाते और दानी बहन को भी सहन करने की प्रेरणा करते।

इस कुटुम्ब को आश्रम में रख कर आश्रम ने बहुत सबक सीखे हैं। और आरम्भ-काल में ही यह बात साफ़ तौर से स्पष्ट हो जाने से कि आश्रम में अस्पृश्यता के लिए जगह नहीं है आश्रम की मर्यादा बँध गई और इस दिशा में उसका काम बहुत सरल हो गया। इतना होते हुए भी आश्रम का खर्च बढ़ते जाते हुए भी ज्यादातर सहायता उन्हीं हिन्दुओं की तरफ़ से मिलती आ रही है, यह बात स्पष्ट रूप से शायद इसी बात को सूचित करती है कि अस्पृश्यता की जड़ अच्छी तरह हिल गई है। इसके दूसरे प्रमाण तो बहुतेरे हैं। परंतु जहाँ अछूत के साथ खान-पान में परहेज नहीं रक्खा जाता वहाँ भी वे हिन्दू भाई मदद करें जो अपने को सनातनी मानते हैं, तो यह प्रमाण न-कुछ नहीं समझा जा सकता।

इसी प्रश्न के संबंध में एक और बात भी आश्रम में स्पष्ट

हो गई। इस विषय में जो-जो नाजुक सवाल पैदा हुए उनका भी हल मिला। कितनी ही अकल्पित असुविधाओं का स्वागत करना पड़ा। ये तथा और भी सत्य की शोध के सिलसिले में हुए प्रयोगों का वर्णन आवश्यक तो है, पर मैं उन्हें यहाँ छोड़ देता हूँ। इस बात पर मुझे दुःख तो है, परंतु अब आगे के अध्यायों में यह दोष थोड़ा-बहुत रहता ही रहेगा—कुछ जरूरी बातें मुझे छोड़ देनी पड़ेंगी-क्योंकि उनमें योग देने वाले बहुतेरे पात्र अभी मौजूद हैं और उनकी इजाजत के बिना उनके नाम और उनसे सम्बन्ध रखने वाली बातों का वर्णन आजादी से करना अनुचित मालूम होता है। सबकी स्वीकृति समय-समय पर मँगाना अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाली बातें उनको भेजकर सुधरवाना एक असंभव बात है और फिर यह इस आत्मकथा की मर्यादा के भी बाहर है। इसलिए अब आगे की कथा यद्यपि मेरी दृष्टि से सत्य के शोधक के लिए जानने योग्य है, फिर भी मुझे डर है कि वह अधूरी छपती रहेगी। इतना होते हुए भी, ईश्वर की इच्छा होगी तो, असहयोग के युग तक पहुँचने की मेरी आशा है।

गिरमिट-प्रथा

अब इस नये बसे हुए आश्रम को छोड़कर, जो कि अब भीतरी और बाहरी तूफानों से निकल चुका था, गिरमिट-प्रथा या कुली-प्रथा पर थोड़ा-सा विचार करलेने का समय आगया है। गिरमिटिया उस कुली या मजूर को कहते हैं, जो पाँच या उससे कम वर्ष के लिए मजूरी करने का लेखी इकरार करके भारत के बाहर चला जाता है। नेटाल के ऐसे गिरमिटियों पर से तीन पौंड का वार्षिक कर १९१४ में उठा दिया गया था, परन्तु वह प्रथा अभी बन्द नहीं हुई थी। १९१६ ई० में भारत-भूषण पंडित मालवीयजी ने इस सवाल को धारा-सभा में उठाया

था, और लार्ड हार्डिङ्ग ने इनके प्रस्ताव को स्वीकार करके यह घोषणा की थी कि यह प्रथा 'समय आते ही' उठा देने का वचन मुझे सम्राट् की ओर से मिला है। परन्तु मेरा तो यह स्पष्ट मत हुआ था कि इस प्रथा को तत्काल बन्द कर देने का निर्णय हो जाना चाहिए। हिन्दुस्तान अपनी लापरवाही से इस प्रथा को बहुत वर्षों तक दरगुजर करता रहा, पर अब मैंने यह देखा कि लोगों में इतनी जागृति आगई है कि अब यह बन्द की जा सकती है; इसलिए मैं कितने ही नेताओं से इस विषय में मिला, कुछ अखबारों में इस सम्बन्ध में लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथा का उच्छेद कर देने के पक्ष में था। मेरे मन में प्रश्न उठा कि क्या इसमें सत्याग्रह का कुछ उपयोग हो सकता है? मुझे उपयोग के विषय में तो कुछ सन्देह नहीं था, परन्तु यह बात मुझे नहीं दिखाई पड़ती थी कि उपयोग किया कैसे जाय।

इस बीच वाइसराय ने 'समय आने पर' इन शब्दों का अर्थ भी स्पष्ट कर दिया। उन्होंने प्रकट किया कि दूसरी व्यवस्था करने में जितना समय लगेगा, उतने समय में यह प्रथा निर्मूल करदी जायगी। इसपर से फ़रवरी १९१७ में भारत-भूषण मालवीय जी ने गिरमिट-प्रथा को कतई उठा देने का कानून पेश करने की इजाजत बड़ी धारा-सभा में माँगी, तो वाइसराय ने उसे नामंजूर कर दिया। तब इस मसले को लेकर मैंने हिन्दुस्तान में भ्रमण शुरू किया।

भ्रमण शुरू करने के पहले वाइसराय से मिल लेना मैंने उचित समझा। उन्होंने तुरंत मुझे मिलने का समय दिया। उस समय मि० मेफी, अब सर जान मेफी, उनके मंत्री थे। मि० मेफी के साथ मेरा ठीक सम्बन्ध बँध गया था। लॉर्ड चेम्सफोर्ड के साथ इस विषय पर संतोष-जनक बातचीत हुई। उन्होंने निश्चय-पूर्वक तो कुछ नहीं कहा, परन्तु उनसे मदद मिलने की आशा जरूर मेरे मन में बँधी।

भ्रमण का आरम्भ मैंने बम्बई से किया। बम्बई में सभा करने का जिम्मा मि० जहांगीरजी पेटिट ने लिया। इम्पीरियल सिटीजनशिप असोसिएशन के नाम पर सभा हुई। उसमें जो प्रस्ताव उपस्थित किये जाने वाले थे, उनका मसविदा बनाने के लिए एक समिति बनाई गई। उसमें डा० रीड, सर लल्लूभाई श्यामलदास, मि० नटराजन इत्यादि थे। मि० पेटिट तो थे ही। प्रस्ताव में यह प्रार्थना की गई थी कि गिरमिट-प्रथा बन्द कर दी जाय। पर सवाल यह था कि कब बन्द की जाय? इसके सम्बन्ध में तीन सूचनायें पेश हुईं—(१) 'जितनी जल्दी हो सके', (२) '३१ जुलाई', और (३) 'तुरन्त'। '३१ जुलाई' वाली सूचना मेरी थी। मुझे तो निश्चित तारीख की जरूरत थी कि जिससे उस मियाद तक यदि कुछ न हो तो हम बात को सूझ पड़ सके कि आगे क्या किया जाय और क्या किया जा सकता है। सर

लल्लूभाई की राय थी कि 'तुरन्त' शब्द रक्खा जाय। उन्होंने कहा कि '३१ जुलाई' से तो 'तुरन्त' शब्द में अधिक जल्दी का भाव आता है। इसपर मैंने यह समझाने की कोशिश की कि लोग 'तुरन्त' शब्द का तात्पर्य न समझ सकेंगे। लोगों से यदि कुछ काम लेना हो, तो उनके सामने निश्चयात्मक शब्द रखना चाहिए। 'तुरन्त' का अर्थ सब अपनी मर्जी के अनुसार कर सकते हैं। सरकार एक कर सकती है, लोग दूसरा कर सकते हैं। परन्तु '३१ जुलाई' का अर्थ सब एक ही करेंगे और उस तारीख तक यदि कोई फैसला न हो तो हम यह विचार कर सकते हैं कि अब हमें क्या कार्यवाही करनी चाहिए। यह दलील डा० रीड को तुरन्त जँच गई। अन्त को सर लल्लूभाई को भी '३१ जुलाई' रुची और प्रस्ताव में वही तारीख रक्खी गई। सभा मे यह प्रस्ताव रक्खा गया और सब जगह '३१ जुलाई' की मर्यादा घोषित हुई।

बम्बई से श्रीमती जायजी पेटिट की अथक मिहनत से स्त्रियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल वाइसराय के पास गया। उसमे लेडी ताता, स्वर्गीय दिलशाद बेगम वगैरा थीं। सब बहनों के नाम तो मुझे इस समय याद नहीं हैं; परन्तु इस शिष्ट-मण्डल का असर बहुत अच्छा हुआ और वाइसराय सा० ने उसका आशा-वर्धक उत्तर दिया था। करांची, कलकत्ता वगैरा जगह भी मैं हो आया

था। सब जगह अच्छी सभायें हुईं और जगह-जगह लोगों में खूब उत्साह था। जब मैंने इस काम को उठाया तब ऐसी सभायें होने की और इतनी संख्या में लोगों के आने की आशा मैंने नहीं रक्खी थी।

इस समय मैं अकेला ही सफ़र करता था, इससे अलौकिक अनुभव प्राप्त होता था। खुफिया पुलिस तो पीछे लगी ही रहती थी, पर इनके साथ झगड़ने की मुझे कोई ज़रूरत नहीं थी। मेरे पास कुछ भी छिपी बात थी नहीं। इसलिए वे न मुझे सताते और न मैं उन्हें सताता था। सौभाग्य से उस समय मुझपर 'महात्मा' की छाप नहीं लगी थी। हालाँकि जहाँ लोग मुझे पह-चान लेते वहाँ इस नाम का घोष होने लगता था। एक दफ़ा रेल में जाते हुए बहुत से स्टेशनों पर खुफिया मेरा टिकिट देखने आते और नम्बर वगैरा लेते। मैं तो वे जो सवाल पूछते उनका जवाब तुरन्त दे देता। इससे साथी मुसाफिरों ने समझा कि मैं कोई सीधा-सादा साधु या फकीर हूँ। जब दो-चार स्टेशन पर खुफिया आये तो वे मुसाफिर बिगड़े और उस खुफिया को गाली देकर डाँटने लगे—'इस बेचारे साधु को नाहक क्यों सताते हो?' और मेरी तरफ मुखातिब होकर कहा—'इन बदमाशों को टिकट मत बताओ।'

मैंने हौले से इन यात्रियों से कहा—'उनके टिकट देखने

से मुझे कोई कष्ट नहीं होता, वे अपना फर्ज अदा करते हैं, इससे मुझे किसी तरह का दुःख नहीं है।'

उन मुसाफिरों को यह बात जँची नहीं। वे मुझपर अधिक तरस खाने लगे और आपस में बातें करने लगे कि देखो, निरपराध लोगों को भी ये लोग कैसे हैरान करते हैं!

इन खुफियों से तो मुझे कोई तकलीफ न मालूम हुई, परंतु लाहौर से लेकर देहली तक मुझे रेलवे की भीड़ और तकलीफ का बहुत ही कड़ुवा अनुभव हुआ। कराँची से लाहौर होकर मुझे कलकत्ता जाना था। लाहौर में गाड़ी बदलनी पड़ती थी। वहाँ गाड़ी में मेरी कहीं दाल नहीं गलती थी। मुसाफिर जबरदस्ती घुस पड़ते थे। दरवाजा बन्द होता तो खिड़की में से अन्दर घुस जाते थे। इधर मुझे नियत तिथि को कलकत्ता पहुँचना जरूरी था। यदि यह ट्रेन छूट जाती तो मैं कलकत्ते समय पर नहीं पहुँच सकता था। मैं जगह मिलने की आशा मन में छोड़ रहा था। कोई मुझे अपने डब्बे में नहीं लेता था। आखीर को मुझे जगह खोजता हुआ देखकर एक मजदूर ने कहा—'मुझे बारह आने दो तो मैं जगह दिला दूँ।' मैंने कहा—'मुझे जगह दिला दो तो मैं जरूर बारह आने दूंगा।' बेचारा मजदूर मुसाफिरों के हाथ-पाँव जोड़ने लगा; पर कोई मुझे जगह देने के लिए तैयार नहीं होते थे। गाड़ी छूटने की तैयारी थी। इतने में एक डब्बे के कुछ

मुसाफिर बोले—'यहाँ जगह नहीं है; लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो, खड़ा रहना होगा।' मजदूर ने मुझसे पूछा—'क्योंजी !' मैंने कहा—'हाँ घुसा दो!' तब उसने मुझे उठाकर खिड़की में से अन्दर फेंक दिया। मैं अन्दर घुसा और उस मजदूर ने बारह आने कमाये।

मेरी यह रात बड़ी मुश्किलों से बीती। दूसरे मुसाफिर तो किसी तरह ज्यों-त्यों करके बैठ गये, परन्तु मैं ऊपर की बैठक की जंजीर पकड़ कर खड़ा ही रहा। बीच-बीच में यात्री लोग मुझे डाटते जाते—'अरे खड़ा क्यों है, बैठ क्यों नहीं जाता ?' मैंने उन्हें बहुतेरा समझाया कि बैठने की जगह नहीं है। परन्तु उन्हें मेरा खड़ा रहना भी बरदाश्त नहीं होता था। हालाँ कि वे खुद ऊपर की बैठक में आराम से पैर ताने पड़े हुए थे, पर मुझे बार-बार दिक् करते थे। ज्यों-ज्यों वे मुझे दिक करते, त्यों-त्यों मैं उन्हें शान्ति से जवाब देता। इससे वे कुछ शान्त हुए। फिर मेरा नाम-ठाम पूछने लगे। जब मुझे अपना नाम बताना पड़ा तब वे बड़े शर्मिन्दा हुए। मुझसे माफी माँगने लगे और तुरंत अपने पास जगह करदी।'सबर का फल मीठा होता है'—यह कहावत मुझे याद आई। इस समय मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। जब बैठने की जगह की सचमुच जरूरत थी तब ईश्वर ने उसकी सुविधा कर दी।

इस तरह धक्के खाता हुआ आखिर समय पर कलकत्ते पहुँच गया। कासिमबाज़ार के महाराज ने अपने यहाँ ठहरने का मुझे निमंत्रण दे रक्खा था। कलकत्ते की सभा के सभापति भी वही थे। करांची की तरह कलकत्ते में भी लोगों का उत्साह उमड़ रहा था, कुछ अंग्रेज लोग भी आये थे।

३१ जुलाई के पहले कुली-प्रथा बन्द होने की घोषणा प्रकाशित हुई। १८९४ ई० में इस प्रथा का विरोध करने के लिए पहली दरख्वास्त मैंने बनाई थी और यह आशा रक्खी थी कि किसी दिन यह 'अर्ध-गुलामी' जरूर रद्द हो जायगी। १८९४ में शुरू हुए इस कार्य में यद्यपि बहुतेरे लोगों की सहायता थी, परंतु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस बार के प्रयत्न के साथ शुद्ध सत्याग्रह भी सम्मिलित था।

इस घटना का अधिक ब्यौरा और उसमें भाग लेनेवाले पात्रों का परिचय दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में पाठकों को मिलेगा।

नील का दाग़

चम्पारन राजा जनक की भूमि है। चम्पारन में जैसे आम के वन हैं उसी तरह, १९१७ में, नील के खेत थे। चम्पारन के किसान अपनी ही जमीन के ३/२० हिस्से में नील की खेती जमीन के असली मालिक के लिए करने पर कानूनन बाध्य थे। इसे वहाँ 'तीन कठिया' कहते थे। २० कट्ठे का वहां एक एकड़ था और उसमें से ३ कट्ठे नील बोना पड़ता था। इसीलिए उस प्रथा का नाम था 'तीन कठिया'।

मैं यह कह देना चाहता हूँ कि चम्पारन में आने के पहले मैं उसका नाम-निशान नहीं जानता था। यह खयाल भी प्राय.

नहीं के बराबर ही था, कि वहाँ नील की खेती होती है। नील की गोटियां देखी थीं, परन्तु मुझे यह बिलकुल पता न था कि वे चम्पारन में बनती थीं और उनके लिए हजारों किसानों को वहाँ दुःख उठाना पड़ता था।

राजकुमार शुक्ल नाम के एक किसान चम्पारन में रहते थे। उनपर नील की खेती के सिलसिले में बड़ी बुरी बीती थी। वह दुःख उन्हें खल रहा था और उसीके फल-स्वरूप सबके लिए इस नील के दाग़ को धो डालने का उत्साह पैदा हुआ था।

जब मैं महासभा में लखनऊ गया था, तब इस किसान ने मेरा पल्ला पकड़ा। 'वकील बाबू आपको सब हाल बतायेंगे' यह कहते हुए चम्पारन चलने का निमंत्रण मुझे देते जाते थे।

यह वकील बाबू और कोई नहीं, मेरे चम्पारन के प्रिय साथी, बिहार के सेवा-जीवन के प्राण, ब्रजकिशोर बाबू ही थे। उन्हें राजकुमार शुक्ल मेरे डेरे में लाये। वह काले अलपके का अचकन, पतलून वगैरा पहने हुए थे। मेरे दिल पर उनकी कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। मैंने समझा कि इस भोले किसान को लूटनेवाले यह कोई वकील साहब होंगे।

मैंने उनसे चम्पारन की थोड़ी सी कथा सुनली और अपने रिवाज के मुताबिक जवाब दिया—'जबतक मैं खुद जाकर सब हाल न देखलूँ तबतक मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप महा-

सभा में इस विषय पर बोलें। किन्तु मुझे तो अभी छोड़ ही दीजिए'। राजकुमार शुक्ल तो चाहते ही थे कि महासभा की मदद मिले। चम्पारन के विषय में महासभा में ब्रजकिशोर बाबू बोले और सहानुभूति का एक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्ल को इससे खुशी हुई, परन्तु इतने ही से उन्हें संतोष न हुआ। वह तो खुद चम्पारन के किसानों के दुःख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा—'मैं अपने भ्रमण में चम्पारन को भी ले लूँगा, और एक-दो दिन वहाँ के लिए दे दूँगा।' उन्होंने कहा—'एक दिन काफी होगा, अपनी नजरों से देखिए तो सही।'

लखनऊ से मैं कानपुर गया था। वहाँ भी देखा तो राजकुमार शुक्ल मौजूद। 'यहाँ से चम्पारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिए।' 'अभी तो मुझे माफ कीजिए, पर मैं यह वचन देता हूँ कि मैं आऊँगा जरूर।' यह कह कर वहाँ जाने के लिए मैं और भी बँध गया।

मैं आश्रम पहुँचा तो वहाँ भी राजकुमार शुक्ल मेरे पीछे-पीछे मौजूद। 'अब तो दिन मुकर्रर कर दीजिए।' मैंने कहा—'अच्छा, अमुक तारीख को मुझे कलकत्ते जाना है, वहाँ आकर मुझे ले जाना।' कहाँ जाना, क्या करना, क्या देखना-मुझे इसका कुछ पता न था। कलकत्ते में भूपेन बाबू के यहाँ मेरे पहुँचने के पहले ही राजकुमार शुक्ल का पड़ाव पड़ चुका था। अब तो

इस अपढ़-अनघड़ परन्तु निश्चयी किसान ने मुझे जीत लिया।

१९१७ के आरम्भ में कलकत्ते से हम दोनों रवाना हुए। हम दोनों की एक-सी जोड़ी—दोनों किसान-से दीखते थे। राजकुमार शुक्ल और मैं—हम दोनों एक ही गाड़ी में बैठे। सुबह पटना उतरे।

पटने की यह मेरी पहली यात्रा थी। वहाँ मेरी किसी से इतनी पहचान नहीं थी कि कहीं ठहर सकूँ।

मैंने मन में सोचा था कि राजकुमार शुक्ल हैं तो अनघड़ किसान, परन्तु यहाँ उनका कुछ न कुछ जरिया जरूर होगा। ट्रेन में उनका मुझे अधिक हाल मालूम हुआ। पटने में जाकर उनकी कलई खुल गई। राजकुमार शुक्ल का भाव तो निर्दोष था; परन्तु जिन वकीलों को उन्होंने मित्र माना था वे मित्र न थे, बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित की तरह थे। इस किसान मवक्किल और उन वकीलों के बीच उतना ही अन्तर था, जितना कि चौड़ा पाट बरसात में गङ्गाजी का हो जाता है।

मुझे वह राजेन्द्र बाबू के यहाँ ले गये। राजेन्द्र बाबू पुरी या कहीं और गये थे। बंगले पर एक-दो नौकर थे। खाने के लिए कुछ तो मेरे साथ था। परन्तु मुझे पिण्डखजूर की जरूरत थी, सो बेचारे राजकुमार शुक्ल ने बाजार से ला दी।

परन्तु बिहार में छुआ-छूत का बड़ा सख्त रिवाज था। मेरे

डोल के पानी के छींटे से नौकर को छूत लगती थी। नौकर बेचारा क्या जानता कि मैं किस जाति का था? अन्दर के पाखाने का उपयोग करने के लिए राजकुमार ने कहा, तो नौकर ने बाहर के पाखाने की तरफ अँगुली बताई। मेरे लिए इसमें अचरज की या रोष की कोई बात न थी, क्योंकि ऐसे अनुभवों से मैं पक्का हो गया था। नौकर तो, बेचारा अपने धर्म का पालन कर रहा था, और राजेन्द्रबाबू के प्रति अपना फ़र्ज़ अदा करता था। इन रंगतदार अनुभवों से राजकुमार शुक्ल के प्रति जहाँ एक ओर मेरा मान घटा, तहाँ उनके सम्बन्ध में मेरा ज्ञान भी बढ़ा। अब पटना से लगाम मैंने अपने हाथ में लेली।

बिहार की सरलता

मौलाना मज़हरुलहक़ और मैं एकसाथ लन्दन में पढ़ते थे। उसके बाद हम बम्बई में १९१५ की महासभा में मिले थे। उस साल वह मुसलिम-लीग के सभापति थे। उन्होंने पुरानी पहचान निकाल कर जब कभी मैं पटना आऊँ तो उनके यहाँ ठहरने का निमन्त्रण दिया था। इस निमन्त्रण के आधार पर मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी और अपने काम का भी परिचय दिया। वह तुरंत अपनी मोटर लेकर आये और मुझे अपने यहाँ चलने का इसरार करने लगे। इसके लिए मैंने उनको धन्यवाद दिया और कहा कि 'मुझे अपने गन्तव्य स्थान पर

पहली ट्रेन से रवाना कर दीजिए। रेलवे गाइड से उस मुकाम का मुझे कुछ पता नहीं लग सकता।' उन्होंने राजकुमार शुक्ल के साथ बात की और कहा कि पहले मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन शाम को मुजफ्फपुर की गाड़ी जाती थी। उसमें उन्होंने मुझे रवाना कर दिया। मुजफ्फपुर में उस समय आचार्य कृपलानी रहते थे। उन्हें मैं पहचानता था। जब मैं हैदराबाद गया था तब उनके महात्याग की, उनके जीवन की, और उनके द्रव्य से चलने वाले आश्रम की बात डॉक्टर चोइथराम के मुख से सुनी थी। वह मुजफ्फपुर-कॉलेज में प्रोफेसर थे। पर उस समय वहां से मुक्त हो बैठे थे। मैंने उन्हें तार किया। मुजफ्फरपुर ट्रेन आधी-रात को पहुँचती थी। वह अपने शिष्य-मंडल को लेकर स्टेशन आ पहुँचे थे। परन्तु उनके घर-बार कुछ न था। वह अध्यापक मलकानी के यहां रहते थे। मुझे उनके यहां ले गये। मलकानी भी वहां के कालेज में प्रोफेसर थे और उस ज़माने में सरकारी कालेज के प्रोफेसर का मुझे अपने यहां ठहराना एक असाधारण बात थी।

कृपालानीजी ने बिहार की और उसमें तिरहुत-विभाग की दीन दशा का वर्णन किया और मुझे अपने काम की कठिनाई का अन्दाज बताया। कृपलानीजी ने बिहारियों के साथ गाढ़ा सम्बन्ध कर लिया था। उन्होंने मेरे काम की बात वहाँ के लोगों

से कर रक्खी थी। सुबह होते ही कुछ वकील मेरे पास आये। उनमें से रामनवमी प्रसादजी का नाम मुझे याद रह गया है। उन्होंने अपने इस आग्रह के कारण मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा था।

'आप जिस काम को करने यहां आये हैं वह इस जगह से नहीं हो सकता। आपको तो हम जैसे लोगों के यहां चलकर ठहरना चाहिए। गया बाबू यहां के मशहूर वकील हैं। उनकी तरफ से मैं आपको उनके यहां ठहरने का आग्रह करता हूँ। हम सब सरकार से तो जरूर डरते हैं; परन्तु हमसे जितनी हो सकेगी आपकी मदद करेंगे। राजकुमार शुक्ल की बहुतेरी बातें सच हैं। हमें अफसोस है कि हमारे अगुआ आज यहां नहीं हैं। बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद को और राजेन्द्रप्रसाद को मैंने तार किया है। दोनों यहां जल्दी आजायँगे और आपको पूरी-पूरी वाकफियत और मदद दे सकेंगे। मिहरबानी करके आप गया बाबू के यहां चलिए।'

यह भाषण सुनकर मैं ललचाया। पर मुझे इस भय से संकोच हुआ कि मुझे ठहराने से कहीं गया बाबू की स्थिति विषम न हो जाय। परन्तु गया बाबू ने इसके विषय में मुझे निश्चिन्त कर दिया।

अब मैं गया बाबू के यहाँ ठहरा। उन्होंने तथा उनके कुटुम्बी-जनों ने मुझपर बड़े प्रेम की वर्षा की।

ब्रजकिशोर बाबू दरभंगा से, और राजेन्द्र बाबू पुरी से आये। यहां जो मैंने देखा तो ये लखनऊ वाले ब्रजकिशोरप्रसाद नहीं थे। उनके अन्दर बिहारी की नम्रता, सादगी, भलमंसी और असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्ष से फूल उठा। बिहारी वकील-मंडल का आदर-भाव उनके प्रति देखकर मुझे आनन्द और आश्चर्य दोनों हुए।

तबसे इस वकील-मण्डल के और मेरे जन्म-भर के लिए स्नेह-गाँठ बँध गई।

ब्रजकिशोर बाबू ने मुझे सब बातों से वाक़िफ कर दिया। वह गरीब किसानों की तरफ से मुकदमे लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमे उस समय चल रहे थे। ऐसे मुकदमों के द्वारा वह कुछ व्यक्तियों को राहत दिलाते थे। पर कभी-कभी इसमें भी असफल हो जाते थे। इन भोले-भाले किसानों से वह फीस लिया करते थे। त्यागी होते हुए भी ब्रजकिशोर बाबू या राजेन्द्र बाबू फीस लेने में संकोच न करते थे। 'पेशे के काम में अगर फीस न लें तो हमारा घर-खर्च नहीं चल सकता और हम लोगों की मदद भी नहीं कर सकते.' यह उनकी दलील थी। उनकी तथा बंगाल-बिहार के बैरिस्टरों की फीस के कल्पनातीत अंक सुनकर मैं तो चकित रह गया। '... को हमने 'ओपिनियन' के लिए दस हजार रुपये दिये।' हजारों के सिवाय तो मैंने बात ही नहीं सुनी।

इस मित्र-मण्डल ने इस विषय में मेरा मीठा उलहना प्रेम के साथ सुना। उन्होंने उसका उलटा अर्थ नहीं लगाया।

मैंने कहा—'इन मुकदमों को मिसलें देखने के बाद मेरा तो यह राय होती है कि हम यह मुकदमेबाजी अब छोड़ दें। ऐसे मुकदमों से बहुत कम लाभ होता है। जहाँ प्रजा इतनी कुचली जाती है, जहाँ सब लोग इतने भयभीत रहते हैं, वहाँ अदालतों के द्वारा बहुत कम राहत मिल सकती है। इसका सच्चा इलाज तो है लोगो के दिल से डर को निकाल देना। इसलिए अब जबतक यह 'तीनकठिया' प्रथा मिट नहीं जाती, तबतक हम आराम से नहीं बैठ सकते। मैं तो अभी दो दिन में जितना देख सकूँ देखने के लिए आया हूँ। परन्तु मैं देखता हूँ कि इस काम में दो वर्ष भी लग सकते हैं। परन्तु इतने समय की भी जरूरत हो तो मैं देने के लिए तैयार हूँ। यह तो मुझे सूझ रहा है कि मुझे क्या करना चाहिए। परन्तु आपकी मदद की जरूरत है।'

मैंने देखा कि ब्रजकिशोर बाबू निश्चित विचार के आदमी हैं। उन्होंने शान्ति के साथ उत्तर दिया—'हमसे जो-कुछ बन सकेगी वह मदद हम जरूर करेंगे। परन्तु हमें आप बतलाइये कि आप किस तरह की मदद चाहते हैं।'

हम लोग रातभर बैठकर इस विषय पर बात करते रहे। मैंने कहा—'मुझे आपकी वकालत की सहायता की जरूरत कम

होगी। आप जैसों से मैं लेखक और दुभाषिये के रूप में सहायता चाहता हूँ। सम्भव है, इस काम में जेल जाने की भी नौबत आ जाय। यदि आप इस जोखिम में पड़ सकें तो मैं इसे पसन्द करूँगा। परन्तु यदि आप न पड़ना चाहें तो भी कोई बात नहीं। वकालत को अनिश्चित समय के लिए बन्द करके लेखक के रूप में काम करना भी मेरी कुछ कम माँग नहीं है। यहाँ की बोली समझने में मुझे बहुत दिक्कत पड़ती है। कागज-पत्र सब उर्दू या कैथी में लिखे होते हैं, जिन्हें मैं पढ़ नहीं सकता। उनके अनुवाद की मैं आपसे आशा रखता हूँ। रुपये देकर यह काम कराना चाहें तो अपने सामर्थ्य के बाहर है। यह सब सेवा-भाव से, बिना पैसे के, होना चाहिए।'

ब्रजकिशोर बाबू मेरी बात को समझ तो गये, परन्तु उन्होंने मुझसे तथा अपने साथियों से जिरह शुरू की। मेरी बातों का फलितार्थ उन्हें बताया। मुझसे पूछा—'आपके अन्दाज में कबतक वकीलों को यह त्याग करना चाहिए, कितना करना चाहिए, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिए आते रहें तो काम चलेगा या नहीं?' इत्यादि। वकीलों से उन्होंने पूछा कि आप लोग कितना-कितना त्याग कर सकेंगे?

अन्त में उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया—'हम इतने लोग तो आप जो काम सौंपेंगे करने के लिए तैयार रहेंगे। इनमें

से जितनों को आप जिस समय चाहेंगे आपके पास हाजिर रहेंगे। जेल जाने की बात अलबत्ता हमारे लिए नई है। पर उसकी भी हिम्मत करने की हम कोशिश करेंगे।'

अहिंसादेवी का साक्षात्कार

मुझे तो किसानों की जाँच करनी थी। यह देखना था कि नील के मालिकों की जो शिकायत किसानों को थी उसमें कितनी सचाई है। इसमें हजारों किसानों से मिलने की जरूरत थी। परन्तु इस तरह आम तौर पर उनसे मिलने-जुलने के पहले, निलहे मालिकों की बात सुन लेने और कमिश्नर से मिलने की आवश्यकता मुझे दिखाई दी। मैंने दोनों को चिट्ठी लिखी।

मालिकों के मण्डल के मन्त्री से मिला तो उन्होंने मुझे साफ कह दिया, 'आप तो बाहरी आदमी हैं। आपको हमारे और

किसानों के झगड़े में न पड़ना चाहिए। फिर भी यदि आपको कुछ कहना हो तो लिखकर भेज दीजिएगा।' मैंने मन्त्री से सौजन्य के साथ कहा—'मैं अपने को बाहरी आदमी नहीं समझता और किसान यदि चाहते हों तो उनकी स्थिति की जाँच करने का मुझे पूरा अधिकार है।' कमिश्नर साहब से मिला तो उन्होंने तो मुझे धमकाने से ही शुरुआत की और आगे कोई कार्यवाही न करते मुझे तिरहुत छोड़ने की सलाह दी।

मैंने साथियों से ये सब बातें करके कहा कि संभव है सरकार जाँच करने से मुझे रोके और जेल-यात्रा का समय शायद मेरे अन्दाज़ से पहले ही आ जाय। यदि पकड़े जाने का ही मौक़ा आवे तो मुझे मोतीहारी और हो सके तो बेतिया में गिरफ्तार होना चाहिए। इसलिए जितनी जल्दी हो सके मुझे वहाँ पहुँच जाना चाहिए।

चम्पारन तिरहुत-जिले का एक विभाग था और मोतीहारी उसका एक मुख्य शहर। बेतिया के ही आसपास राजकुमार शुक्ल का मकान था। और उसके आसपास की कोठियों के किसान सबसे ज्यादा ग़रीब थे। उनकी हालत दिखाने का लोभ राजकुमार शुक्ल को था और मुझे अब उन्हींको देखने की इच्छा थी, इसलिए साथियों को लेकर मैं उसी दिन मोतीहारी जाने के लिए रवाना हुआ। मोतीहारी में गोरख बाबू ने आश्रय दिया

और उनका घर खासी धर्मशाला बन गया। हम सब ज्यों-त्यों करके उसमें समा सकते थे। जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन हमने सुना कि मोतीहारी से पांचेक मील दूर एक किसान रहता था और उसपर बहुत अत्याचार हुआ था। निश्चय हुआ कि उसे देखने के लिए धरणीधरप्रसाद वकील को लेकर सुबह जाऊँ। तदनुसार सुबह होते ही हम हाथी पर सवार होकर चल पड़े। चम्पारन में हाथी लगभग वही काम देता है जो गुजरात में बैल-गाड़ी देती है। हम आधे रास्ते पहुँचे होंगे कि पुलिस-सुपरिन्टेन्डेन्ट का सिपाही आ पहुँचा और उसने मुझे कहा—'सुपरिन्टेन्डेन्ट सा० ने आपको सलाम भेजा है।' मैं उसका मतलब समझ गया। धरणीधर बाबू से मैंने कहा, आप आगे चलिए, और मैं उस जासूस के साथ उस गाड़ी में बैठा, जो वह किराये पर लाया था। उसने मुझे चम्पारन छोड़ देने का नोटिस दिया। घर लेजाकर उसपर मेरे दस्तखत मांगे। मैंने जवाब लिख दिया कि 'मैं चम्पारन छोड़ना नहीं चाहता। आगे मुफस्सिलात में जाकर जाँच करनी है।' इस हुक्म का अनादर करने के अपराध में दूसरे ही दिन मुझे अदालत में हाजिर होने का समन मिला।

सारी रात जग कर मैंने जगह-जगह आवश्यक चिट्ठियाँ लिखीं और जो-जो आवश्यक बातें थीं वे ब्रजकिशोर बाबू को समझा दीं।

समन की बात एक क्षण में चारों ओर फैल गई और लोग कहते थे कि ऐसा दृश्य मोतीहारी में पहले कभी नहीं देखा गया था। गोरखबाबू के घर और अदालत में खचाखच भीड़ हो गई। खुशकिस्मती से मैंने अपना सारा काम रात को ही खतम कर लिया था, इससे इस भीड़ का मैं इन्तजाम कर सका। इस समय अपने साथियों की पूरी-पूरी कीमत देखने का मुझे मौका मिला। वे लोगों को नियम के अन्दर रखने में जुट पड़े। अदालत में मैं जहाँ जाता वहीं लोगों की भीड़ मेरे पीछे-पीछे आती। कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिन्टेन्डेन्ट वग़ैरा के और मेरे दरमियान भी एक तरह का अच्छा सम्बन्ध हो गया। सरकारी नोटिस इत्यादि का अगर मैं बाकायदा विरोध करता तो कर सकता था, परन्तु ऐसा करने के बजाय मैंने उनके तमाम नोटिसों को मंजूर कर लिया। फिर राजकर्मचारियों के साथ मेरे जाती वाक़फ़ात में जिस मिठास का मैंने अवलम्बन किया, उससे वे समझ गये कि मैं उनकी सत्ता का विरोध नहीं करना चाहता, बल्कि उनके हुक्म का सविनय विरोध करना चाहता हूँ। इससे वे एक प्रकार से निश्चिन्त हुए। मुझे दिक करने के बजाय उन्होंने लोगों को नियम में रखने के काम में मेरी और मेरे साथियों की सहायता खुशी से ली; पर साथ ही वे यह भी समझ गये कि आज से हमारी सत्ता यहाँ से उठ गई। लोग थोड़ी देर के लिए सजा का

भय छोड़ कर अपने नये मित्र के प्रेम की सत्ता के अधीन हो गये।

यहाँ पाठक याद रक्खें की चम्पारन में मुझे कोई पहचानता न था। किसान लोग बिलकुल अनपढ़ थे। चम्पारन गंगा के उस पार ठेठ हिमालय की तराई में, नेपाल के नजदीक का हिस्सा है। उसे नई दुनिया ही कहना चाहिए। यहाँ महासभा (कांग्रेस) का नाम-निशान भी नहीं था, न उसके कोई सभ्य ही थे। जिन लोगों ने महासभा का नाम सुन रक्खा था वे उसका नाम लेते हुए और उसमें शरीक होते हुए डरते थे। पर आज वहाँ महासभा के नाम के बिना महासभा ने और महासभा के सेवकों ने प्रवेश किया और महासभा की दुहाई घूम गई।

साथियों के साथ कुछ सलाह करके मैंने यह निश्चय किया था कि महासभा के नाम पर कुछ भी काम यहाँ न किया जाय। नाम से नहीं, हमको काम से मतलब है। कथनी की नहीं करनी की जरूरत है। महासभा का नाम यहाँ लोगों को खलता है। इस प्रान्त में महासभा का अर्थ है वकीलों की तू-तू मैं-मैं, कानून की गलियों में से निकल भागने की कोशिश। महासभा का अर्थ है यहाँ बम-गोले, और कहना कुछ करना कुछ। ऐसा खयाल कांग्रेस के बारे में यहाँ सरकार और सरकार की सरकार निलहे मालिकों के मन में था। परन्तु हमें यह साबित करना था कि

महासभा ऐसी नहीं, दूसरी ही वस्तु है। इसलिए हमने यह निश्चय किया था कि कहीं भी महासभा का नाम न लिया जाय और लोगों को महासभा के भौतिक देह का परिचय भी न कराया जाय। हमने सोचा कि वे महासभा के अक्षर को—नाम को न जानते हुए उसकी आत्मा को जानें और उसका अनुसरण करें तो बस है, यही वास्तविक बात है।

इसलिए महासभा की तरफ से किसी छिपे या प्रकट दूतों के द्वारा कोई ज़मीन तैयार नहीं कराई गई थी। कोई पेशबन्दी नहीं की गई थी। राजकुमार शुक्ल में हजारों लोगों में प्रवेश करने का सामर्थ्य न था, वहाँ लोगों के अंदर किसी ने भी आज तक कोई राजनैतिक काम नहीं किया था। चम्पारन के सिवा बाहर की दुनिया को वे जानते ही न थे। फिर भी उनका और मेरा मिलाप किसी पुराने मित्र के मिलाप-सा था। अतएव यह कहने में मुझे कोई अत्युक्ति नहीं मालूम होती, बल्कि यह अक्षरशः सत्य है, कि मैंने वहाँ ईश्वर का, अहिंसा का, और सत्य का, साक्षात्कार किया। जब साक्षात्कार-विषयक अपने इस अधिकार पर विचार करता हूँ तो मुझे उसमें प्रेम के सिवा दूसरी कोई बात नहीं दिखाई पड़ती और यह प्रेम अथवा अहिंसा के प्रति मेरी अचल श्रद्धा के सिवा और कुछ नहीं है।

चम्पारन का यह दिन मेरे जीवन में ऐसा था, जिसे मैं कभी

नहीं भूल सकता। यह मेरे तथा किसानों के लिए उत्सव का दिन था। मुझपर सरकारी कानून के मुताबिक मुकद्दमा चलाया जाने-वाला था। परंतु सच पूछा जाय तो मुकद्दमा सरकार पर चल रहा था। कमिश्नर ने जो जाल मेरे लिए फैलाया था उसमें उसने सरकार को ही फँसा मारा।

मुकदमा वापस

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट वगैरा चिंतित हो रहे थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ता था कि क्या करें। सरकारी वकील तारीख बढ़ाने की कोशिश कर रहा था। मैं बीच में पड़ा और मैंने अर्ज किया कि 'तारीख बढ़ाने की कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि मैं अपना यह अपराध कबूल करना चाहता हूँ कि मैंने चम्पारन छोड़ने के नोटिस का अनादर किया है।' यह कह कर मैंने जो अपना छोटा सा वक्तव्य तैयार किया था, वह पढ़ सुनाया।

वह इस प्रकार था—

"अदालत की आज्ञा लेकर मैं संक्षेप में यह बतलाना चाहता हूँ कि नोटिस द्वारा मुझे जो आज्ञा दी गई है, उसकी अवज्ञा मैंने क्यों की। मेरी समझ में यह स्थानीय अधिकारियों और मेरे बीच मत-भेद का प्रश्न है। मैं इस प्रदेश में राष्ट्रीय तथा मानवीय सेवा करने के विचार से आया हूँ। यहाँ आकर उन रय्यतों की सहायता करने के लिए मुझसे बहुत आग्रह किया गया था, जिनके साथ कहा जाता है कि निलहे साहब अच्छा व्यवहार नहीं करते। पर जबतक मैं सब बातें अच्छी तरह जान न लेता, तबतक उन लोगों की कोई सहायता नहीं कर सकता था। इसलिए यदि हो सके तो अधिकारियों और निलहे साहबों की सहायता से मैं सब बातें जानने के लिए आया हूँ। मैं किसी बुरे उद्देश्य से यहाँ नहीं आया हूँ। मुझे यह विश्वास नहीं होता कि मेरे यहाँ आने से किसी प्रकार शांति-भंग या प्राण-हानि हो सकती है। मैं कह सकता हूँ कि, मुझे ऐसी बातों का बहुत अनुभव है। अधिकारियों को जो कठिनाइयाँ होती हैं, उनको मैं समझता हूँ; और मैं यह भी मानता हूँ कि उन्हें जो सूचना मिलती है, वे केवल उसीके अनुसार काम कर सकते हैं। कानून मानने वाले व्यक्ति की तरह मेरी प्रवृत्ति यही होनी चाहिए थी, और ऐसी प्रवृत्ति हुई भी, कि मैं इस आज्ञा का पालन करूँ। पर मैं उन लोगों के प्रति, जिनके कारण मैं यहाँ आया हूँ, अपने कर्त्तव्य का उल्लंघन नहीं कर सकता था। मैं समझता हूँ कि मैं उन लोगों के बीच रहकर ही उनकी भलाई कर सकता हूँ। इस कारण मैं स्वेच्छा से इस स्थान से

नहीं जा सकता था। दो कर्तव्यों के परस्पर विरोध की दशा में मैं केवल यही कर सकता था कि अपने को हटाने की सारी जिम्मेवारी शासकों पर छोड़ दूँ। मैं भली-भांति जानता हूँ कि भारत के सार्वजनिक जीवन में मेरी जैसी स्थितिवाले लोगों को आदर्श उपस्थित करने में बहुत ही सचेत रहना पड़ता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस स्थिति में मैं हूँ उस स्थिति में प्रत्येक प्रतिष्ठित व्यक्ति को वही काम करना सबसे अच्छा है, जो इस समय मैंने करना निश्चय किया है; और वह यह है कि बिना किसी प्रकार का विरोध किये आज्ञा न मानने का दण्ड सहने के लिए तैयार हो जाऊँ। मैंने जो बयान दिया है,वह इसलिए नहीं है कि जो दण्ड मुझे मिलनेवाला है, वह कम किया जाय; बल्कि इस बात को दिखलाने के लिए कि मैंने सरकारी आज्ञा की अवज्ञा इस कारण से नहीं की है कि मुझे सरकार के प्रति विश्वास नहीं है, बल्कि इस कारण से कि मैंने उससे भी उच्चतर आज्ञा—अपनी विवेक-बुद्धि की आज्ञा—का पालन करना उचित समझा है।"

अब मुकदमे की सुनवाई मुल्तवी रखने का तो कुछ कारण ही नहीं रह गया था। परन्तु मजिस्ट्रेट या सरकारी वकील इस परिणाम की आशा नहीं रखते थे। अतएव सजा के लिए अदालत ने फैसला मुल्तवी रक्खा। मैंने वाइसराय को तार द्वारा सब हालात की सूचना दे दी थी, पटना भी तार दे दिया था। भारत-भूषण पंडित मालवीयजी वगैरा को भी तार द्वारा समाचार भेज दिया था। अब सजा सुनने के लिए अदालत में जाने का समय

आने के पहले ही मुझे मजिस्ट्रेट का हुक्म मिला कि लाट सा० के हुक्म से मुकदमा उठा लिया गया है और कलेक्टर की चिट्ठी मिली कि आप जो कुछ जाँच करना चाहें शौक से करें और उसमें जो कुछ मदद सरकारी कर्मचारियों की ओर से लेना चाहें लें। ऐसे तत्काल और शुभ परिणाम की आशा हममें से किसी ने नहीं रक्खी थी।

मैं कलेक्टर मि० हैकाक से मिला। वह भला आदमी मालूम हुआ और इन्साफ करने के लिए तत्पर नजर आया। उन्होंने कहा कि आप जो-कुछ कागज-पत्र या और कुछ देखना चाहें देख सकते हैं। जब कभी मिलना चाहें जरूर मिल सकते हैं।

दूसरी तरफ सारे भारतवर्ष को सत्याग्रह का अथवा कानून के सविनय भंग का पहला स्थानिक पदार्थ-पाठ मिला। अखबारों में इस प्रकरण की खूब चर्चा चली और चम्पारन को तथा मेरी जाँच को अकल्पित विज्ञापन मिल गया।

मुझे अपनी जाँच के लिए जहाँ एक ओर सरकार के निष्पक्ष रहने की जरूरत थी, वहाँ दूसरी ओर अखबारों में चर्चा होने की और उनके संवाददाताओं की जरूरत नहीं थी। यही नहीं, बल्कि उनकी कड़ी टीका और जाँच की बड़ी बड़ी रिपोर्टों से हानि होने का भी भय था। इसलिए मैंने मुख्य-मुख्य अखबारों के सम्पादकों से अनुरोध किया कि 'आप अपने संवाददाताओं

को भेजने का ख़र्च न उठावें। जितनी बातें प्रकाशित करने योग्य होंगी वे मैं आपको खुद ही भेजता रहूँगा और खबर भी देता रहूँगा।'

चम्पारन के निलहे मालिक खूब बिगड़े हुए थे, यह मैं जानता था; और यह भी मैं समझता था कि अधिकारी लोग भी मन में खुश न रहते होंगे।

अखबारों में जो झूठी-सच्ची खबरें छपतीं उनसे वे और भी चिढ़ते। उनकी चिढ़ का असर मुझपर तो क्या होता; परन्तु बेचारे ग़रीब, डरपोक रय्यत पर उनका गुस्सा उतरे बिना न रहता और ऐसा होने से जो वास्तविक स्थिति मैं जानना चाहता था उसमें विघ्न पड़ता। निलहों की तरफ से ज़हरीला आन्दोलन शुरू हो गया था। उनकी तरफ से अखबारों में मेरे तथा मेरे साथियों के विषय में मनमानी झूठी बातें फैलाई जाती थीं; परन्तु मेरी अत्यन्त सावधानी के कारण, और छोटी से छोटी बात में भी सत्य पर दृढ़ रहने की आदत के कारण, उनके सब तीर बेकार गये।

ब्रजकिशोर बाबू की अनेक तरह से निन्दा करने में निलहों ने किसी बात की कमी न रक्खी थी, परन्तु वे ज्यों-ज्यों उनकी निन्दा करते गये त्यों-त्यों ब्रजकिशोर बाबू की प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

ऐसी नाजुक हालत में मैंने संवाद-दाताओं को वहाँ आने के

लिए बिलकुल उत्साहित नहीं किया। नेताओं को भी नहीं बुलाया। मालवीय जी ने मुझे कहला रक्खा था कि जब जरूरत हो तब मुझे बुला लेना, मैं आने के लिए तैयार हूँ। पर उन्हें भी कष्ट नहीं दिया और न आन्दोलन को राजनैतिक रूप ही ग्रहण करने दिया। वहाँ के समाचारों का विवरण मैं समय-समय पर मुख्य-मुख्य पत्रों को भेजता रहता था। राजनैतिक कामों में भी जहाँ राजनीति की गुञ्जाइश न हो वहाँ राजनैतिक रूप दे देने से 'माया मिली न राम' वाली मसल होती और इस तरह से—विषयों का स्थानान्तर न करने से—दोनों सुधरते हैं, यह मैंने बहुत दफा अनुभव करके देखा है। शुद्ध लोक-सेवा में प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप में राजनीति समाई रहती, है यह बात चम्पारन का आन्दोलन सिद्ध कर रहा था।

कार्य-पद्धति

चम्पारन की जाँच का विवरण देना मानों चम्पारन के किसानो का इतिहास देना है। यह सारा इतिहास इन अध्यायों में नहीं दिया जा सकता। फिर चम्पारन की जाँच क्या थी, अहिंसा और सत्य का बड़ा प्रयोग ही था। और जितनी बातो का सम्बन्ध इस प्रयोग से है वे जैसे-जैसे मुझे सूझती जाती हैं, प्रति सप्ताह देता जाता हूँ।*

---

* अधिक विवरण जानना हो तो पाठकों को बाबू राजेन्द्रप्रसाद-लिखित 'चम्पारन में महात्मा गाँधी' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिए।

अब मूल विषय पर आता हूँ। गोरख बाबू के यहाँ रहकर जाँच की जाती तो गोरख बाबू को अपना घर ही खाली करना पड़ता। मोतीहारी में लोग इतने निर्भय नहीं थे कि माँगते ही अपना मकान किराये पर दे दें। परन्तु चतुर ब्रजकिशोर बाबू ने एक अच्छे चौगानवाला मकान किराये ले लिया और हम लोग वहाँ चले गये। वहाँ का काम-काज चलाने के लिए धन की भी आवश्यकता थी। सार्वजनिक काम के लिए लोगों से रुपया माँगने की प्रथा आज तक न थी। ब्रजकिशोर बाबू का यह मण्डल मुख्यतः वकील-मंडल था। इसलिए जब कभी आवश्यकता होती तो या तो अपनी जेब से रुपया देते या कुछ मित्रों से माँग लाते। उनका खयाल यह था कि जो लोग खुद रुपये-पैसे से सुखी हैं वे सर्व-साधारण से धन की भिक्षा कैसे माँग सकते हैं? और मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चम्पारन की रैयत से एक कौड़ी न लेना चाहिए। यदि ऐसा करते तो उसका उलटा अर्थ होता। यह भी निश्चय था कि इस जाँच के कार्य के लिए भारतवर्ष में भी आम लोगों से चन्दा न करना चाहिए। ऐसा करने से इस जाँच को राष्ट्रीय और राजनैतिक स्वरूप प्राप्त हो जाता। बम्बई से मित्रों ने १५०००) सहायता भेजने का तार दिया। पर उनकी सहायता मैंने स-धन्यवाद अस्वीकार कर दी। यह सोचा था कि चम्पारन के बाहर से परन्तु बिहार के ही हैसियतदार और सुखी

लोगों से ही ब्रजकिशोर बाबू का मंडल जितनी सहायता प्राप्त कर सके उतनी लेलें और शेष रकम मैं डाक्टर प्राणजीवनदास से मँगा लूँ। डाक्टर मेहता ने लिखा कि 'जितनी आवश्यकता हो मँगा लीजिएगा। इससे हम रुपये-पैसे के बारे में निश्चिन्त हो गये। ग़रीबी के साथ भरसक कम खर्च करके यह आन्दोलन चलाना था। इसलिए बहुत रुपये की आवश्यकता नहीं थी। और दरहकीकत जरूरत पड़ी भी नहीं। मेरा खयाल है कि सब मिला कर दो-तीन हजार से ज्यादा खर्च न हुआ होगा। और मुझे याद है कि जितना रुपया इकट्ठा किया था उसमें से भी पाँचसौ या हजार बच गया था।

शुरुआत में वहाँ हमारी रहन-सहन बड़ी विचित्र थी। और मेरे लिए तो वह रोज हँसी-मजाक का विषय हो गई थी। इस वकील-मंडल में हरएक के पास एक नौकर रसोइया होता। हरएक की अलग रसोई बनती। रात के बारह बजे तक भी वे लोग खाना खाते। ये महाशय खर्च वगैरा तो सब अपना ही करते थे, फिर भी मेरे लिए यह रहन-सहन एक आफत थी। अपने इन साथियों के साथ मेरी स्नेह-गांठ ऐसी मजबूत हो गई थी कि हमारे दरमियान कभी गलत-फहमी न होने पाती थी। मेरे शब्द-बाणों को वे प्रेम से झेलते। अन्त को यह तय पाया कि नौकरों को छुट्टी दे दी जाय, सब एकसाथ खाना खावें और

भोजन के नियमों का पालन करें। उसमें सभी निरामिषाहारी न थे और तरह तरह की अलग-अलग रसोई बनाने का इन्तजाम करने से खर्च बढ़ता था। इससे यही निश्चय किया गया कि निरामिष भोजन ही पकाया जाय और एक ही जगह सब की रसोई बनाई जाय। भोजन भी सादा ही रखने पर जोर दिया जाता था। इससे खर्च बहुत कम पड़ा, हम लोगों के काम करने का सामर्थ्य बढ़ा, और समय बच गया।

हमें अधिक सामर्थ्य की आवश्यकता भी थी; क्योंकि किसानों के झुण्ड के झुण्ड अपनी कहानी लिखाने के लिए आने लगे थे। एक-एक कहानी लिखानेवाले के साथ एक भीड़ भी रहती थी। इससे मकान का चौगान भर जाता था। मुझे दर्शनाभिलाषियों से बचाने के लिए साथी लोग बहुत प्रयत्न करते। परन्तु वे निष्फल जाते। एक निश्चित समय पर दर्शन देने के लिए मुझे बाहर लाने पर ही पिंड छूटता था। कहानी-लेखक हमेशा पाँच-सात रहते थे। फिर भी शाम तक सबके बयान पूरे न हो पाते थे। यों इतने सब लोगों के बयानों की जरूरत नहीं थी, फिर भी उनके लिख लेने से लोगों को संतोष हो जाता था, और मुझे उनके मनोभावों का पता लग जाता था।

कहानी-लेखकों को कुछ नियम पालन करने पड़ते थे। वे ये थे—'प्रत्येक किसान से जिरह करनी चाहिए। जिरह में जो

गिर जाय उसका बयान न लिखा जाय। जिसकी बात शुरू से ही कमज़ोर पाई जाय वह न लिखी जाय।' इन नियमों के पालन से यद्यपि कुछ समय अधिक जाता था फिर भी उससे सच्चे और साबित होने लायक बयान ही लिखे जाते थे।

जब ये बयान लिखे जाते तो खुफिया पुलिस के कोई न कोई कर्मचारी वहाँ मौजूद रहते। इन कर्मचारियों को हम रोक सकते थे। परन्तु हमने शुरू से यह निश्चय किया था कि उन्हें न रोका जाय। यही नहीं बल्कि उनके प्रति सौजन्य रक्खा जाय और जो ख़बरें उन्हें दी जा सकती हों दी जायँ। जो बयान लिये जाते उनको वे देखते और सुनते थे। इससे लाभ यह हुआ कि लोगों में अधिक निर्भयता आ गई। और बयान उनके सामने लिये जाने से अत्युक्ति का भय कम रहता था। इस डर से कि झूठ बोलेंगे तो पुलिस वाले फँसा देंगे, उन्हें सोच-समझ कर बोलना पड़ता था।

मैं निलहे-मालिकों को चिढ़ाना नहीं चाहता था। बल्कि अपने सौजन्य से उन्हें जीतने का प्रयत्न करता था। इसलिए जिनके बारे में विशेष शिकायतें होतीं उन्हें मैं चिट्ठी लिखता और मिलने की कोशिश भी करता। उनके मंडल से भी मैं मिला था और रैयत की शिकायतें उनके सामने पेश की थीं और उनका कहना भी सुन लिया था। इनमें से कितने तो मेरा तिरस्कार

करते थे, कितने ही उदासीन थे, और खास-खास सौजन्य भी दिखाते थे।

साथी

ब्रजकिशोर बाबू और राजेन्द्र बाबू की जोड़ी अद्वितीय थी। उन्होंने प्रेम से मुझे ऐसा अपंग बना दिया था कि उनके बिना मैं एक कदम भी आगे न रख सकता था। उनके शिष्य कहिए या साथी कहिए, शम्भू बाबू, अनुग्रह बाबू, धरणी बाबू और रामनवमी बाबू—ये वकील प्रायः निरन्तर साथ ही रहते थे। विन्ध्या बाबू और जनकधारी बाबू भी समय-समय साथ रहते थे। यह तो हुआ बिहार-संघ। इनका मुख्य काम था लोगों के बयान लिखना। इसमें अध्यापक कृपलानी भला शामिल हुए बिना कैसे रह सकते थे? सिन्धी होते हुए भी वह बिहारी से भी

अधिक बिहारी हो गये थे। मैंने ऐसे थोड़े सेवकों को देखा है जो जिस प्रान्त में जाते हैं वहीं के लोगों में दूध-शक्कर की तरह घुल-मिल जाते हैं, और किसी को यह नहीं मालूम होने देते कि वह गैर प्रान्त के हैं। कृपलानी इनमें एक हैं। उनके जिम्मे मुख्य काम था द्वारपाल का। दर्शन करनेवालों से मुझे बचा लेने में ही उन्होंने उस समय अपने जीवन की सार्थकता मान ली थी। किसीको हँसी-दिल्लगी से और किसीको अहिंसक धमकी देकर वह मेरे पास आने से रोकते थे। रात को अपनी अध्यापकी शुरू करते और तमाम साथियों को हँसा मारते और यदि कोई डरपोक आदमी वहाँ पहुँच जाता तो उसका हौंसला बढ़ाते।

मौलाना मजहरुलहक़ ने मेरे सहायक के रूप में अपना हक़ लिखवा रक्खा था और महीने में एक-दो बार आकर मुझसे मिल जाया करते। उस समय के उनके ठाट-बाट और शान में तथा आज की सादगी में जमीन-आसमान का अन्तर है। वह हम लोगों में आकर अपने हृदय को तो मिला जाते, परन्तु अपने साहबी ठाट-बाट के कारण बिहार के लोगों को वह हमसे भिन्न मालूम होते थे।

ज्यों-ज्यों मैं अनुभव प्राप्त करता गया त्यों-त्यों मुझे मालूम हुआ कि यदि चम्पारन में ठीक-ठीक काम करना हो, तो गाँवों में शिक्षा का प्रवेश होना चाहिए। वहाँ लोगों का अज्ञान दया-

जनक था। गाँव में लड़के-बच्चे इधर-उधर भटकते फिरते थे; या माँ-बाप उन्हें दो-तीन पैसे रोज की मजदूरी पर दिन भर नील के खेतों में मजदूरी कराते। इस समय मर्दों को १० पैसे से ज्यादा मजदूरी नहीं मिलती थी। स्त्रियों को ६ पैसा, और बच्चों को तीन। जिस किसी को चार आना मजदूरी मिल जाती वह भाग्यवान समझा जाता।

अपने साथियों के साथ विचार करके पहले तो ६ गाँवों मे बच्चों के लिए पाठशाला खोलने का विचार हुआ। शर्त यह थी कि उन गाँवों के अगुआ मकान और शिक्षक के खाने का खर्च दें और दूसरे खर्च का इन्तजाम हम लोग करदें। यहाँ के गाँवों में रुपये-पैसे की तो बहुतायत नहीं थी, परन्तु लोग अनाज वगैरा दे सकते थे, इसलिए वे अनाज देने को तैयार हो गये थे।

अब यह एक महा-प्रश्न था कि शिक्षक कहाँ से लावें? बिहार में थोड़ा वेतन लेने वाले या कुछ न लेने वाले अच्छे शिक्षकों का मिलना कठिन था। मेरा खयाल यह था कि बच्चों की शिक्षा का भार मामूली शिक्षक को न देना चहिए। शिक्षक को पुस्तक-ज्ञान चाहे कम हो, परन्तु उसमें चरित्र-बल अवश्य होना चाहिए।

इस काम के लिए मैंने आम तौर पर स्वयंसेवक माँगे। उसके जवाब में गंगाधरराव देशपांडे ने बाबा सा० सोमण और

पुंडलीक को भेजा। बम्बई से अवन्तिकाबाई गोखले आईं। दक्षिण से आनन्दीबाई आ गईं। मैंने छोटेलाल, सुरेन्द्रनाथ, तथा अपने लड़के देवदास को बुला लिया। इन्हीं दिनों में महादेव देसाई और नरहरि पारख की पत्नी मणि-बहन भी आपहुँचीं। कस्तूरबाई को भी मैंने बुला लिया था। शिक्षकों और शिक्षिकाओं का यह संघ काफ़ी था। श्रीमती अवन्तिकाबाई और आनन्दीबाई तो पढ़ी-लिखी समझी जा सकती थीं, परंतु मणि-बहन पारख और दुर्गाबहन देसाई थोड़ा-बहुत गुजराती जानती थीं, कस्तूरबाई को तो नहीं के बराबर हिंदी का ज्ञान था। अब सवाल यह था कि ये बहनें बालकों को हिन्दी पढ़ायेंगी किस तरह?

बहनों को मैंने दलीलें देकर समझाया कि बालकों को व्याकरण नहीं बल्कि रहन-सहन सिखाना है। पढ़ने-लिखने की अपेक्षा, उन्हें सफ़ाई के नियम सिखाने की जरूरत है। हिंदी, गुजराती और मराठी में कोई भारी भेद नहीं हैं, यह भी उन्हें बताया, और समझाया कि शुरुआत में तो सिर्फ गिनती और वर्णमाला ही सिखानी होगी। इसलिए दिक्कत न आयगी। इसका फल यह हुआ कि बहनों की पढ़ाई का काम बहुत अच्छी तरह चल निकला और उनका आत्म-विश्वास बढ़ा। उन्हें अपने काम में रस आने लगा। अवन्तिकाबाई की पाठशाला आदर्श बन

गई। उन्होंने अपनी पाठशाला में जीवन डाल दिया। वह इस काम को जानती भी खूब थीं। इन बहनों के मार्फत देहात के स्त्री-समाज में भी हमारा प्रवेश हो गया था।

परन्तु मुझे पढ़ाई तक ही न रुक जाना था। गाँवों में गन्दगी बेहद थी। रास्तों और गलियो में कूड़े और कंकर का ढेर, कुँओं के पास कीचड और बदबू, आँगन इतने गन्दे कि देखा न जाता था। बड़े-बूढ़ों को सफाई सिखाने की जरूरत थी। चम्पारन के लोग बीमारियो के शिकार दिखाई पड़ते थे। इसलिए जहाँतक हो सके उनका सुधार करने और इस तरह लोगो के जीवन के के प्रत्येक विभाग में प्रवेश करने की इच्छा थी।

इस काम मे डॉक्टर की सहायता की जरूरत थी। इसलिए मैंने गोखले की समिति से डाक्टर देव को भेजने का अनुरोध किया। उनके साथ मेरा स्नेह तो पहले ही हो चुका था। छः महीने के लिए उनकी सेवा का लाभ मिला। यह तय हुआ कि उनकी देख-रेख में शिक्षक और शिक्षिका सुधार-काम करें।

इन सबके साथ यह बात तय पाई थी कि इनमें से कोई भी निलहो की शिकायतो के झगड़े में न पड़ें। राजनैतिक बातो को न छुएँ। जो शिकायत लावें उनको सीधा मेरे पास भेज दें। कोई भी अपने क्षेत्र और काम को छोड़कर एकदम इधर-उधर न हो।

चम्पारन के मेरे इन साथियों का नियम-पालन अद्भुत था। मुझे ऐसा कोई अवसर याद नहीं आता कि जब किसी ने भी इन नियमों का उल्लंघन किया हो।

ग्राम-प्रवेश

बहुत करके हर पाठशाला में एक पुरुष और एक स्त्री की योजना की थी। उन्हींकी मार्फत दवा और सुधार के काम करने का निश्चय किया था। स्त्रियों के द्वारा स्त्री-समाज में प्रवेश करना था। दवा का काम बहुत आसान कर दिया था। अरण्डी का तेल, कुनैन और मरहम—इतनी चीजें हर पाठशाला में रक्खी गई थीं। जीभ मैली दिखाई दे और क़ब्ज की शिकायत हो तो अरण्डी का तेल पिला देना, बुखार की शिकायत हो तो अरण्डी का तेल पी लेने वाले को कुनैन पिला देना, और फोड़े-फुन्सी हो तो उन्हें धोकर मरहम लगा देना, बस इतना ही काम

था। खाने की दवा या पिलाने की दवा किसी को घर ले जाने के लिए नहीं दी जाती थी। कोई ऐसी बीमारी हो, जो समझ में नहीं आई हो या जिसमें कुछ जोखिम हो, तो डॉक्टर देव का दिखा लिया जाता। डॉ० देव नियमित समय पर जगह-जगह जाते। इस सादी सुविधा से लोग ठीक-ठीक लाभ उठाते थे। आम तौर पर फैली हुई बीमारियों की संख्या कम ही होती है और उनके लिए बड़े विशारदों की जरूरत नहीं होती। यह बात अगर ध्यान में रक्खी जाय तो पूर्वोक्त योजना किसी को हास्यजनक न मालूम होगी। वहाँ के लोगों को तो नहीं मालूम हुई। परंतु सुधार-काम कठिन था। लोग गंदगी दूर करने के लिए तैयार नहीं होते थे। अपने हाथ से मैला साफ करने के लिए वे लोग भी तैयार न होते थे जो रोज खेत पर मजदूरी करते थे। परन्तु डॉ० देव झट निराश होने वाले जीव नहीं थे। उन्होंने खुद तथा स्वयं-सेवकों ने मिलकर एक गाँव के रास्ते साफ किये, लोगों के आंगन से कूड़ा-करकट निकाला, कुँए के आस-पास के गढ़े भरे, कीचड़ निकाली और गाँव के लोगों को प्रेमपूर्वक समझाते रहे कि इस काम के लिए स्वयंसेवक दो। कहीं लोगों ने शरम खाकर काम करना शुरू भी किया, और कहीं-कहीं तो लोगों ने मेरी मोटर के लिए रास्ता भी खुद ही ठीक कर दिया। इन मीठे अनुभवों के साथ ही लोगों की लापरवाही के कड़वे अनुभव भी मिलते जाते

थे। मुझे याद है कि यह सुधार की बात सुनकर कितनी ही जगह लोगों के मन में दुर्भाव भी पैदा हुआ था।

इस जगह एक अनुभव का वर्णन करना अनुचित न होगा, हालांकि उसका ज़िक्र मैंने स्त्रियों की कितनी ही सभाओं में किया है। भीतिहरवा नामक एक छोटा-सा गांव है। उसके पास एक उससे भी छोटा गांव है। वहां कितनी ही बहनों के कपड़े बहुत मैले दिखाई दिये। मैंने कस्तूरबाई से कहा कि इनको कपड़े धोने और बदलने के लिए समझाओ। उसने उनसे बातचीत की तो एक बहन उसे अपने झोंपड़े में लेगई और बोली कि 'देखो, यहां कोई सन्दूक या अलमारी नहीं, कि जिसमें कोई कपड़े रक्खे हों। मेरे पास सिर्फ यह एक ही धोती है, जिसे मैं पहने हूँ। अब मैं इसको किस तरह धोऊँ? महात्माजी से कहो कि हमें कपड़े दिलावें। तो मैं रोज नहाने और कपड़े धोने और बदलने के लिए तैयार हूँ।' ऐसे झोंपड़े हिन्दुस्तान में इने-गिने नहीं हैं। असंख्य झोपड़े ऐसे मिलेंगे जिनमें साज-सामान, सन्दूक-पिटारा, कपड़े-लत्ते नहीं होते और असंख्य लोग उन्हीं कपड़ों पर अपनी जिन्दगी निकालते हैं जो वे पहने होते हैं।

एक दूसरा अनुभव भी लिखने लायक है। चम्पारन में बाँस और घास की कमी नहीं है। लोगों ने भीतिहरवा में पाठशाला का जो छप्पर बाँस और घास का बनाया था, किसी ने एक रात

को उसे जला डाला। शक गया था आस-पास के निलहे लोगों के आदमियों पर। दुबारा घास और बाँस का मकान बनाना ठीक न मालूम हुआ। यह पाठशाला श्री सोमण और कस्तूरबाई के जिम्मे थी। श्री सोमण ने ईंट का पक्का मकान बनाने का निश्चय किया और वह खुद उसके बनाने में भिड़ गये। दूसरों को भी उसका स्वाद लगा और देखते-देखते ईंटों का मकान खड़ा हो गया और फिर मकान के जलने का डर न रहा।

इस तरह पाठशाला, स्वच्छता, सुधार और दवा के कामों से लोगों में स्वयं-सेवकों के प्रति विश्वास और आदर बढ़ा और उनके मन पर अच्छा असर हुआ।

परन्तु मुझे दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि इस काम को क़ायम करने की मेरी मुराद बर न आई। जो स्वयं-सेवक मिले थे वे खास समय तक के लिए मिले थे। दूसरे नये स्वयं-सेवक मिलने में कठिनाइयां पेश आई और बिहार से इस काम के लिए योग्य स्थायी सेवक न मिल सके। मुझे भी चम्पारन का काम खतम होने के बाद दूसरा काम जो तैयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतना होते हुए भी छ: मास के इस काम ने इतनी जड़ जमा ली कि एक नहीं तो दूसरे रूप में उसका असर आज तक क़ायम है।

उज्ज्वल पक्ष

एक तरफ तो पिछले अध्याय में वर्णन किये अनुसार समाज-सेवा के काम चल रहे थे और दूसरी ओर लोगों के दु:ख की कथायें लिखते रहने का काम दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। जब हजारों लोगों की कहानियाँ लिखी गईं, तो भला इसका असर हुए बिना कैसे रह सकता था? मेरे मुकाम पर लोगों की ज्यों-ज्यों आमद-रफ्त बढ़ती गई त्यों-त्यों निलहे लोगों का क्रोध भी बढ़ता चला। मेरी जाँच बंद कराने की कोशिशें उनकी ओर से दिन-दिन अधिकाधिक होने लगीं। एक दिन मुझे बिहार-सरकार का पत्र मिला, जिसका भावार्थ यह था,

"आपकी जाँच में काफ़ी दिन लग गये हैं और आपको अब अपना काम खतम करके बिहार छोड़ देना चाहिए। पत्र यद्यपि सौजन्य से युक्त था, परन्तु उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा "जाँच में तो अभी और दिन लगेंगे, और जाँच के बाद भी जब तक लोगों का दुःख दूर न होगा मेरा इरादा बिहार छोड़ने का नहीं है।"

मेरी जाँच बंद करने का एक ही अच्छा इलाज सरकार के पास था। लोगों की शिकायतों को सच मानकर उन्हें दूर करना अथवा उनकी शिकायतों पर ध्यान देकर अपनी तरफ से एक जाँच-समिति नियुक्त कर देना। गवर्नर सर एडवर्ड गेट ने मुझे बुलाया और कहा कि मैं जाँच-समिति नियुक्त करने के लिए तैयार हूँ, और उसका सदस्य बनने के लिए उन्होंने मुझे निमंत्रण दिया, दूसरे सभ्यों के नाम देखकर और अपने साथियों से सलाह करके इस शर्त पर मैंने सभ्य होना स्वीकार किया कि मुझे अपने साथियों के साथ सलाह-मशवरा करने की छुट्टी रहनी चाहिए और सरकार को समझ लेना चाहिए कि सभ्य बन जाने से किसानों का हिमायती रहने का मेरा अधिकार नहीं जाता रहेगा, एवं जाँच होने के बाद यदि मुझे सन्तोष न हो तो किसानों की रहनुमाई करने की मेरी स्वतंत्रता जाती न रहे।

सर एडवर्ड गेट ने इन शर्तों को वांछित समझकर मंजूर

किया। स्वर्गीय सर फ्रैंक स्लाई उसके अध्यक्ष बनाये गये। जाँच-समिति ने किसानों की तमाम शिकायतों को सच्चा बताया और यह सिफारिश की कि निलहे लोग अनुचित रीति से पाये रुपयों का कुछ भाग वापस दें और 'तीन कठिया' का कायदा रद्द किया जाय।

इस रिपोर्ट के साङ्गोपाङ्ग होने में सर एडवर्ड गेट का बड़ा हाथ था। वे यदि मजबूत न रहे होते और पूरी-पूरी कुशलता से काम न लिया होता तो जो रिपोर्ट एक-मत से लिखी गई वह नहीं लिखी जा सकती थी और अन्त को जो कानून बना वह न बन पाता। निलहों की सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्ट हो जाने के बाद भी कितनों ही ने बिल का घोर विरोध किया था। परन्तु सर एडवर्ड गेट अन्त तक दृढ़ रहे और समिति की तमाम सिफारिशों का पूरा-पूरा पालन उन्होंने कराया।

इस तरह सौ वर्ष का पुराना यह तीन कठिया कानून रद्द हुआ और उसके साथ ही साथ निलहों का राज्य भी अस्त हो गया। रैयत ने, जो दबी हुई थी, अपने बल को कुछ पहिचाना और उसका यह वहम दूर हो गया कि नील का दाग तो धोया नहीं धुलता।

मेरी इच्छा थी कि चम्पारन में जो रचनात्मक कार्य आरम्भ हुआ है उसे जारी रख कर लोगों में कुछ वर्षों तक काम किया

जाय और अधिक पाठशालायें खोल कर अधिक गाँवों मे प्रवेश किया जाय। क्षेत्र तो तैयार था, परन्तु मेरे मनसूबे ईश्वर ने बहुत बार पार नहीं पड़ने दिये हैं। मैंने सोचा था एक और दैव ने मुझे दूसरे ही काम में ले घसीटा।

मजदूरों से सम्बन्ध

अभी मैं चम्पारन मे जाँच-समिति का काम खतम कर ही रहा था कि इतने में खेड़ा से मोहनलाल पराड्या और शंकरलाल पारख का पत्र मिला कि खेड़ा जिले में फसल नष्ट हो गई है और उसका लगान माफ होना जरूरी है। आप आइए और वहाँ चल कर लोगों को राह दिखाइए। वहाँ जाकर जबतक मैं खुद जाँच न करलूँ, तबतक कुछ सलाह देने की इच्छा मुझे न थी, और न ऐसा सामर्थ्य और साहस ही था।

दूसरी ओर श्रीमती अनसूयाबहन की चिट्ठी उनके मजूर-संघ के सम्बन्ध में मिली। मजदूरों का वेतन कम था।

बहुत दिनों से उनकी माँग थी कि वेतन बढ़ाया जाय। इस सम्बन्ध में उनका पथ-प्रदर्शन करने का उत्साह मुझे था। यह काम यों तो छोटा-सा था, परन्तु मैं उसे दूर बैठकर नहीं कर सकता था। इससे मैं तुरंत अहमदाबाद पहुँचा। मैंने सोचा तो यह था कि दोनों कामों की जाँच करके थोड़े ही समय में चम्पारन लौट आऊँगा और वहां के रचनात्मक काम को सम्हाल लूँगा।

परन्तु अहमदाबाद पहुँचने के बाद ऐसे काम निकल आये कि मैं बहुत समय तक चम्पारन न जा सका और जो पाठशालायें वहाँ चलती थीं वे एक के बाद एक टूट गईं। साथियों ने और मैंने जो कितने ही हवाई किले बाँध रक्खे थे वे कुछ समय के लिए तो टूट गये।

चम्पारन में ग्राम-पाठशाला और ग्राम-सुधार के अलावा गोरक्षा का काम भी मैंने अपने हाथ में लिया था। अपने भ्रमण में मैं यह बात देख चुका था कि गोशाला और हिन्दी-प्रचार के काम का ठेका मारवाड़ी भाइयों ने ले लिया है। बेतिया में एक मारवाड़ी सज्जन ने अपनी धर्मशाला में मुझे आश्रय दिया था। बेतिया के मारवाड़ी सज्जनों ने मुझे उनकी गोशाला की ओर आकृष्ट किया था। गोरक्षा के सम्बन्ध में जो विचार मेरे आज हैं वही उस समय बन चुके थे। गोरक्षा का अर्थ है गोवंश की वृद्धि, गोजाति का सुधार, बैल से मर्यादित काम लेना, गोशाला

को आदर्श दुग्धालय बनाना, इत्यादि। इस काम में मारवाड़ी भाइयों ने पूरी मदद देने का वचन दिया था। परन्तु मैं चम्पारन में जमकर नहीं बैठ सका। इसलिए वह काम अधूरा ही रह गया। बेतिया में गोशाला तो आज भी चल रही है। परन्तु वह आदर्श दुग्धालय नहीं बन सकी। चम्पारन में बैलों से आज भी ज्यादा काम लिया जाता है। हिन्दू-नामधारी अब भी बैलों को निर्दयता से पीटते हैं और इस तरह अपने धर्म को डुबोते हैं। यह अफसोस मुझे हमेशा के लिए रह गया है। मैं जब-जब चम्पारन जाता हूँ तब-तब उन अधूरे रहे कामों को स्मरण करके एक लम्बी साँस छोड़ता हूँ और उन्हें अधूरा छोड़ देने के लिए मारवाड़ी भाइयों और बिहारियों का मीठा उलाहना सुनता हूँ।

पाठशालाओं का काम तो एक नहीं दूसरी रीति से दूसरी जगह चल रहा है, परन्तु गो-सेवा के कार्य-क्रम की तो जड़ ही नहीं जमी थी, इसलिए उसे आवश्यक दिशा में गति नहीं मिल सकी।

अहमदाबाद में खेड़ा के काम के लिए बातचीत चल रही थी, या सलाह-मशवरा चल रहा था कि इतने में मजदूरों का काम मैंने अपने हाथ में ले लिया।

इसमें मेरी स्थिति बड़ी नाजुक थी। मजदूरों का पक्ष मुझे मजबूत मालूम हुआ। श्रीमती अनसूयाबहन को अपने सगे

भाई के साथ लड़ने का प्रसंग आ गया था। मजूरों और मालिकों के इस दारुण युद्ध में श्री अम्बालाल साराभाई ने मुख्य भाग लिया था। मिल-मालिकों के साथ मेरा मीठा संबंध था। उनके साथ लड़ना मेरे लिए विषम काम था। मैंने उनसे आपस में बातचीत करके अनुरोध किया कि पंच बनाकर मजदूरों की माँग का फैसला कर लीजिए। परन्तु मालिकों ने अपने और मजदूरों के बीच में पंच की मध्यस्थता को पसंद न किया।

तब मजदूरों को मैंने हड़ताल कर देने की सलाह दी। यह सलाह देने के पहले मैंने मजूरों और उनके नेताओं से काफ़ी पहचान और बातचीत कर ली थी। उन्हें मैंने हड़ताल की नीचे लिखी शर्तें समझाईं—

(१) किसी हालत में शान्ति-भंग न करना।

(२) जो काम पर जाना चाहे उनके साथ किसी किस्म की ज्यादती या जबरदस्ती न करना।

(३) मजूर भिक्षान्न न खावें।

(४) हड़ताल चाहे जबतक करना पड़े, पर वे दृढ़ रहें, और जब रुपया-पैसा न रहे, तो दूसरी मजदूरी करके पेट पालें।

अगुआ लोग इन शर्तों को समझ गये और उन्हें ये पसंद भी आईं। अब मजदूरों ने एक आम सभा की और उसमें प्रस्ताव किया कि जबतक हमारी माँग स्वीकार न की जाय अथवा

उसपर विचार करने के लिए पंच न मुकर्रर हों तबतक हम काम पर न जायँगे।

इस हड़ताल में मेरा परिचय श्री वल्लभभाई और श्री शंकर-लाल बैंकर से बहुत अच्छी तरह हो गया। श्रीमती अनसूया-बहन से तो मेरा परिचय पहले ही खूब हो चुका था।

हड़तालियों की सभा रोज साबरमती के किनारे एक पेड़ के नीचे होने लगी। वे सैकड़ों की संख्या में आते। मैं रोज उन्हें अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराता। शान्ति रखने और स्व-मान की रक्षा करने की आवश्यकता उन्हें समझाता था। वे अपना 'एकटेक' का झण्डा लेकर रोज शहर में जलूस निकालते और सभा में आते।

यह हड़ताल २१ दिन चली। इस बीच में समय-समय पर मालिकों से बातचीत करता और उन्हें इन्साफ करने के लिए समझाता। 'हमें भी तो अपनी टेक रखनी है। हमारा और मज-दूरों का बाप बेटों का संबंध है... .....उसके बीच में यदि कोई पड़ना चाहे इसे हम कैसे सहन कर सकते हैं ? बाप-बेटों में पंच की क्या जरूरत है ?' यह जवाब मुझे मिलता।

आश्रम की झांकी

मजदूर-प्रकरण को आगे ले चलने के पहले आश्रम की झांकी कर लेने की आवश्यकता है। चम्पारन मे रहते हुए भी मैं आश्रम को भूल नहीं सकता था। कभी-कभी वहाँ आ भी जाता था।

कोचरब अहमदाबाद के पास छोटा-सा गाँव है। आश्रम का स्थान इसी गाँव मे था। कोचरब में प्लेग शुरू हुआ। बालको को मैं बस्ती के भीतर सुरक्षित नहीं रख सकता था। स्वच्छता के नियमों का पालन हम चाहे लाख करें, मगर आस-पास की गंदगी से आश्रम को अछूता रखना असभव था। कोचरब के लोगों से

स्वच्छता के नियमों का पालन करवाने की अथवा, ऐसे समय में उनकी सेवा करने की-शक्ति हममें न थी। हमारा आदर्श तो आश्रम को शहर या गाँव से दूर रखना था, हालां कि इतना दूर नहीं कि वहाँ जाने में बहुत मुश्किल पड़े। किसी दिन आश्रम के रूप में अगर आश्रम शोभे, तो उसके पहले उसे अपनी जमीन पर खुली जगह में स्थिर तो हो ही जाना था।

महामारी को मैंने कोचरव छोड़ने का नोटिस माना। श्री पुंजाभाई हीराचंद आश्रम के साथ बहुत निकट का संबंध रखते और आश्रम की छोटी-बड़ी सेवायें निरभिमान-भाव से करते थे। उन्हें अहमदाबाद के व्यवहार का बहुत अनुभव था। उन्होंने आश्रम के लायक आवश्यक जमीन तुरन्त ही ढूँढ देने का बीड़ा उठाया। कोचरव के उत्तर-दक्षिण का भाग मैं उनके साथ घूम गया। फिर मैंने उनसे कहा कि उत्तर की ओर तीन-चार मील दूर पर अगर जमीन का टुकड़ा मिले तो ढूँढिए। अब जहाँ पर आश्रम है, वह जमीन उन्हींकी ढूँढी हुई है। मेरे लिए यह खास प्रलोभन था कि वह जमीन जेल के निकट है। यह मान्यता होने से कि सत्याग्रहाश्रमवासी के भाग्य में जेल तो लिखा ही है; जेल का पड़ोस पसन्द पड़ा। इतना तो मैं जानता था कि हमेशा जेल के लिए वैसा ही स्थान ढूँढा जाता है, जिसके आस-पास की जगह स्वच्छ-साफ हो।

कोई आठ दिनों में ही जमीन का सौदा हो गया। जमीन पर मकान एक भी न था। पेड़ भी कोई न था। उसके लिए सबसे बड़ी सिफ़ारिश एकान्त और नदी के किनारे की थी। हमने तंबू में रहने का निश्चय किया। रसोई के लिए पतरे का एक काम-चलाऊ छप्पर बना लिया और स्थायी मकान धीरे-धीरे बनाने का विचार किया।

इस समय आश्रम में काफी आदमी थे। छोटे-बड़े कोई चालीस स्त्री-पुरुष थे। इतनी सुविधा थी कि सभी एक ही रसोई में खाते थे। योजना की कल्पना मेरी थी, उसे अमल में लाने का भार उठानेवाले तो नियमानुसार स्व० मगनलाल ही थे।

स्थायी मकान बनने के पहले असुविधा का तो कोई पार ही न था। बरसात का मौसम सिर पर था। सारा सामान ४ मील दूर शहर से लाना था। इस उजाड़ जमीन में साँप वगैरा तो थे ही। ऐसे उजाड़ स्थान में बालकों को सम्हालने का जोखिम ऐसा-वैसा नहीं था। साँप वगैरा को मारते न थे; मगर उनके भय से मुक्त तो हममें से कोई न था, आज भी नहीं है।

हिंसक जीवों को यथाशक्ति न मारने के नियम का यथाशक्ति पालन फिनिक्स, टॉल्सटाय-फार्म और साबरमती—तीनों जगहों में किया है। तीनों जगहों में उजाड़ जंगल में रहना पड़ा है। तीनों जगहों में साँप वग़ैरा का उपद्रव खूब ही कहा जायगा। मगर

तोभी अबतक एक भी जान हमें खोनी नहीं पड़ी है। इसमें मेरे जैसा श्रद्धालु तो ईश्वर का हाथ, उसकी कृपा ही देखता है ऐसी निरर्थक शंका कोई न करे कि ईश्वर पक्षपात नहीं करता, मनुष्य के रोज के काम में हाथ डालने को वह बेकार नहीं बैठा है। अनुभव की दूसरी भाषा में इस वस्तु को रखना मुझे नहीं आता है। लौकिक भाषा मे ईश्वर के कार्य को रखते हुए भी मैं जानता हूँ कि उसका 'कार्य' अवर्णनीय है। किन्तु अगर पामर मनुष्य वर्णन करे तो उसके पास तो अपनी तोतली बोली ही होगी। सामान्य तौर पर साँप को न मारनेवाला समाज जब पचीस वर्ष तक बचा रहा तो इसे संयोग या आकस्मिक घटना मानने के बदले ईश्वर-कृपा माननी वहम हो तो, यह वहम भी संग्रह करने लायक है।

जिस समय मजदूरों की हड़ताल हुई उस समय आश्रम का पाया चुना जा रहा था। आश्रम की प्रधान प्रवृत्ति बुनाई के काम की थी। कातने की तो अभी मैं खोज ही नहीं कर सका था। इसलिए निश्चय था कि पहले बुनाई-घर बनाया जाय। इस समय उसकी नींव डाली जा रही थी।

उपवास

मजदूरों ने पहले दो हफ्ते बड़ी हिम्मत दिखलाई। शान्ति भी खूब रक्खी। रोज की सभाओं में भी वे बड़ी संख्याओं में आते थे। मैं उन्हें रोज ही प्रतिज्ञा का स्मरण कराता था। वे रोज पुकार-पुकार कर कहते थे, "हम मर जायँगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे।"

किन्तु अन्त में वे ढीले पड़ने लगे। और जैसे कि निर्बल आदमी हिंसक होता है, वैसे ही, वे निर्बल पड़ते ही मिल में जानेवाले मजदूरों से द्वेष करने लगे और मुझे डर लगा कि शायद कहीं उनपर ये बलात्कार न कर बैठें। रोज की सभा में

आदमियों की हाजिरी कम हुई। जो आये भी, उनके चेहरों पर उदासी छाई हुई थी। मुझे खबर मिली कि मजदूर डिगने लगे हैं। मैं तरद्दुद में पड़ा। मैं सोचने लगा कि ऐसे समय में मेरा क्या कर्त्तव्य हो सकता है। दक्षिण आफ्रिका के मजदूरों की हड़-ताल का अनुभव मुझे था, मगर यह अनुभव मेरे लिए नया था। जो प्रतिज्ञा कराने में मेरी प्रेरणा थी, जिसका साक्षी मैं रोज ही बनता था, वह प्रतिज्ञा कैसे टूटे? यह विचार अभिमान कहा जायगा, या मजदूरों के और सत्य के प्रति प्रेम समझा जायगा।

सवेरे का समय था। मैं सभा में था। मुझे कुछ पता नहीं था कि क्या करना है। मगर सभा में ही मेरे मुँह से निकल गया, "अगर मजदूर फिर से तैयार न हो जायँ और जबतक कोई फैसला न हो लेवे तबतक हड़ताल न निभा सकें, तो मैं तबतक उपवास करूँगा।" वहाँ पर जो मजदूर थे, वे हैरत मे आ गये। अनसूयाबहन की आँखों से आँसू निकल पड़े। मज-दूर बोल उठे, "आप नहीं, हम उपवास करेंगे। आपको उपवास नही करने देंगे। हमें माफ कीजिए। हम अपनी टेक पालेंगे।"

मैंने कहा, "तुम्हारे उपवास करने की कोई जरूरत नहीं है। तुम अपनी प्रतिज्ञा का ही पालन करो तो बस है। हमारे पास द्रव्य नहीं है। मजदूरों को भिक्षान्न खिला कर हमें हड़ताल नहीं करनी है। तुम कहीं कुछ मजदूरी करके अपना पेट भरने लायक

कमा लो तो, चाहे हड़ताल कितनी लंबी क्यों न हो, तुम निश्चिन्त रह सकते हो। और मेरा उपवास तो कुछ न कुछ फैसले के पहले छूटने वाला नहीं है।

वल्लभभाई मजदूरों के लिए म्युनिसिपैलिटी में काम ढूँढते थे, मगर वहाँ पर कुछ मिलने लायक नहीं था। आश्रम के बुनाई-घर में बालू भरनी थी। मगनलाल ने सूचना की कि उसमें बहुत से मजदूरों को काम दिया जा सकता है। मजदूर काम करने को तैयार हुए। अनसूयाबहन ने पहली टोकरी उठाई और नदी में से बालू की टोकरियाँ उठाकर लानेवाले मजदूरों का ठठ लग गया। यह दृश्य देखने लायक था। मजदूरों में नया जोर आया, उन्हें पैसा चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थके।

इस उपवास में एक दोष था। मैं यह लिख चुका हूँ कि मिल-मालिकों के साथ मेरा मीठा संबंध था। इसलिए यह उपवास उन्हें स्पर्श किये बिना रह नहीं सकता था। मैं जानता था कि बतौर सत्याग्रही के उनके विरुद्ध मैं उपवास नहीं कर सकता। उनके ऊपर जो कुछ असर पड़े, वह मजदूरों की हड़ताल का ही पड़ना चाहिए। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोष के लिए न था, किन्तु मजदूरों के दोष के लिए था। मैं मजदूरों का प्रतिनिधि था, इसलिए उनके दोष से दोषित होता था। मालिकों से तो मैं सिर्फ विनय ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास

करना तो बलात्कार गिना जायगा। तोभी मैं जानता था कि मेरे उपवास का असर उनपर पड़े बिना नहीं रह सकता। पड़ा भी सही। किन्तु मैं अपने को रोक नहीं सकता था। मैंने ऐसा दोष-मय उपवास करने का अपना धर्म प्रत्यक्ष देखा।

मालिकों को मैंने समझाया, "मेरे उपवास से आपको अपना मार्ग जरा भी छोड़ने की जरूरत नहीं है।" उन्होंने मुझपर कड़ुवे-मीठे ताने भी मारे। उन्हें इसका अधिकार था।

इस हड़ताल के विरुद्ध अचल रहने में सेठ अम्बालाल अग्र-सर थे। उनकी दृढ़ता आश्चर्यजनक थी। उनकी निखालसता भी मुझे उतनी ही रुची। उनके विरुद्ध लड़ना मुझे प्रिय लगा। इनके जैसे अग्रसर जहाँ विरोधी-पक्ष में हों, उपवास के द्वारा उनपर पड़नेवाला बुरा असर मुझे खटका। फिर मेरे ऊपर उनकी पत्नी सरलादेवी का सगी बहन के समान स्नेह था। मेरे उपवास से होनेवाली उनकी व्यग्रता मुझसे देखी नहीं जाती थी। मेरे पहले उपवास में तो अनसूया बहन और दूसरे कई मित्र तथा कितनेक मजदूर शामिल हुए। और अधिक उपवास न करने की जरूरत मैं उन्हें मुश्किल से समझा सका। इस तरह चारों ओर का वातावरण प्रेममय बन गया। मिल-मालिक तो केवल दया की ही खातिर समझौता करने के रास्ते ढूँढने लगे। अन-सूयाबहन के यहाँ उनकी सभायें होने लगीं। श्री आनन्दशंकर

ध्रुव भी बीच में पड़े। अंत में वह पंच चुने गये और हड़ताल छूटी। मुझे तीन ही दिन उपवास करना पड़ा। मालिकों ने मज-दूरों को मिठाई बाँटी। इक्कीसवें दिन समझौता हुआ। समझौते का सम्मेलन हुआ। उसमें मिल-मालिक और कमिश्नर हाजिर थे। कमिश्नर ने मजदूरों को सलाह दी थी, "तुम्हें हमेशा मि० गांधी की बात माननी चाहिए।" इन्हीं कमिश्नरसाहब के विरुद्ध, इस घटना के कुछ दिनों बाद, तुरन्त ही मुझे लड़ना पड़ा था! समय बदला, इसलिए, वह भी बदले और खेड़ा के पाटीदारों को मेरी सलाह न मानने को कहने लगे!

एक मजेदार मगर उतनी ही करुणाजनक घटना का भी उल्लेख यहाँ करना उचित है। मालिकों की तैयार कराई मिठाई बहुत थी. और सवाल यह हो पड़ा था कि हजारों मजदूरों में वह बाँटी किस तरह जाय? यह समझ कर कि जिस पेड़ के आश्रय में मजदूरों ने प्रतिज्ञा ली थी वहीं पर बाँटनी योग्य होगी और दूसरी किसी जगह हजारों मजदूरों को इकट्ठा करना भी असु-विधा की बात थी, उसके आसपास के खुले मैदान में मिठाई बाँटने की बात तय पाई थी। मैंने अपने भोलेपन में मान लिया कि इक्कीस दिनों तक अनुशासन में रहे हुए मजदूर बिना किसी प्रयत्न के ही पंक्ति में खड़े होकर मिठाई लेंगे और अधीर होकर मिठाई पर हमला नहीं कर बैठेंगे। किन्तु मैदान में बाँटने के दो-

तीन तरीके आजमाये और वे निष्फल हुए। दो-तीन मिनट ठीक-ठीक चले और फिर बँधी-बँधाई पांती टूट जाय। मजदूरों के नेताओं ने खूब प्रयत्न किया, मगर वे कुछ कर नहीं सके। अंत में भीड़ का कुछ ऐसा हमला हुआ कि कितनी ही मिठाई कुचल कर बरबाद गई। मैदान में बाँटना बंद करना पड़ा और बची हुई मिठाई मुश्किल से सेठ अम्बालाल के मिर्जापुर के मकान में पहुँचाई जा सकी। यह मिठाई दूसरे दिन बंगले के मैदान में ही बाँटनी पड़ी।

इसमें का हास्यरस स्पष्ट है। 'एक टेक' के पेड़ के पास मिठाई बाँटी न जा सकने के कारणों को ढूँढने पर हमने देखा कि मिठाई बँटने की खबर पाकर अहमदाबाद के भिखारी वहाँ आ पहुँचे थे और उन्होंने कतार तोड़ कर मिठाई छीनने के प्रयत्न किये। यह करुण रस था। यह देश फाके-कशी से ऐसा पीड़ित है कि भिखारियों की संख्या बढ़ती ही जाती है और वे खानेपीने के लिए सामान्य मर्यादा का लोप करते हैं। धनिक लोग ऐसे भिखारियों के लिए काम ढूँढ देने के बदले उन्हें भीख दे देकर पालते हैं।

खेडा में सत्याग्रह

मजदूरों की हड़ताल पूरी होने के बाद मुझे दम मारने की भी फ़ुरसत न मिली और खेड़ा जिले के सत्याग्रह का काम उठा लेना पड़ा। खेड़ा जिले में अकाल के जैसी स्थिति होने से वहाँ के पाटीदार जमीन-कर माफ़ करवाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्ध में श्री अमृतलाल ठक्कर ने जाँच करके रिपोर्ट की थी। मैंने कुछ भी पक्की सलाह देने के पहले कमिश्नर से भेंट की। श्री मोहनलाल पंड्या और श्री शंकरलाल पारख अथक परिश्रम कर रहे थे। स्व० गोकुलदास कहानदास पारख और श्री विट्ठलभाई पटेल के द्वारा वे धारासभा

में हलचल करा रहे थे। सरकार के पास शिष्ट-मण्डल गया था। इस समय मैं गुजरात-सभा का प्रमुख था। सभा ने कमिश्नर और गवर्नर को अर्जियाँ दीं, तार दिये, कमिश्नर के अपमान सहन किये, उनकी धमकियाँ पी गई। उस समय के अफसरों का बर्ताव अब तो हास्यजनक लगता है। अफसरों का तबका बिलकुल हलका व्यवहार अब तो असम्भव-सा जान पड़ता है।

लोगों की माँग ऐसी साफ और हलकी थी कि उसके लिए लड़ाई लड़ने की भी जरूरत नहीं होनी चाहिए। यह कानून था कि अगर फसल चार आने या उससे भी कम हो तो उस साल जमीन-कर माफ होना चाहिए। किन्तु सरकारी अफसरों का अनुमान चार आने से अधिक का था। लोगों की ओर से इसके सबूत पेश किये गये कि फसल चार आने से कम हुई है। मगर सरकार माने ही क्यों ? लोगों की ओर से पंच चुनने की माँग हुई। सरकार को वह असह्य लगी। जितनी विनय की जा सकती थी उतनी कर लेने के बाद, साथियों के साथ सलाह करके, मैंने सत्याग्रह करने की सलाह दी।

साथियों में खेड़ा जिले के सेवकों के अलावा खास तौर पर श्री वल्लभभाई पटेल, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री० अनसूयाबहन, श्री इन्दुलाल कन्हैयालाल याज्ञिक, श्री महादेव देसाई वगैरा थे। वल्लभभाई अपनी बड़ी और दिनोंदिन बढ़ती हुई वकालत का त्याग

करके आये थे। यह भी कहा जा सकता है कि उसके बाद वह फिर कभी जमकर वकालत कर ही नहीं सके।

हमने नड़ियाद-अनाथाश्रम में डेरा जमाया। अनाथाश्रम में ठहरने में कोई विशेषता नहीं थी, किन्तु इसके समान कोई दूसरा खाली मकान नड़ियाद में नहीं था, जहाँ इतने अधिक आदमी रह सकें। अन्त में नीचे लिखी प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर लिये गये—

"हम जानते हैं कि हमारे गाँव में फसल चार आने से भी कम हुई है। इसलिए हमने अगले साल तक कर वसूल करना मुल्तवी रखने की अर्जी सरकार से की, मगर तो भी लगान की वसूली बन्द नहीं हुई है। इसलिए हम नीचे सही करने वाले प्रतिज्ञा करते हैं कि इस साल का सरकार का पूरा या बकाया लगान न भरेंगे। किन्तु उसे वसूल करने में सरकार को जो कुछ दण्ड देने हों देने देंगे और उससे होनेवाला दुःख सहेंगे। हमारी जमीन खत्म होगी तो वह भी होने देंगे। किन्तु अपने हाथों लगान चुकाकर, झूठे बनकर, हम स्वाभिमान नहीं नष्ट करेंगे। अगर सरकार दूसरी किश्त तक बकाया लगान वसूल करना सभी जगह मुल्तवी रक्खे तो हममें जो शक्तिमान हैं, वे पूरा या बकाया लगान चुकाने को तैयार हैं। हममें जो शक्तिमान हैं उनके लगान न भरने का कारण यह है कि अगर शक्तिमान भरें तो अशक्तिमान घबराहट में पड़कर अपनी चाहे जो वस्तु बेचकर या कर्ज करके

लगान चुकावेंगे और दुःख भोगेंगे। हमारी यह मान्यता है कि ऐसी हालत में गरीबों का बचाव करना शक्तिमानों का धर्म है।"

इस लड़ाई को मैं अधिक प्रकरण नहीं दे सकता। इसलिए कितने ही मीठे संस्मरण छोड़ने पड़ेंगे। जो इस महत्त्वपूर्ण लड़ाई का विशेष हाल जानना चाहें, उन्हें श्री शंकरलाल पारख का लिखा हुआ खेड़ा की लड़ाई का सविस्तर और प्रामाणिक इतिहास पढ़ जाने की मेरी सलाह है। ❀

❀ यह पुस्तक गुजराती में है।

'प्याज़ का चोर'

चम्पारन हिन्दुस्तान के एक ऐसे कोने में पड़ा था कि वहाँ की लड़ाई को अखबारों से इस तरह अलग रक्खा जा सका था कि वहाँपर बाहर से देखनेवाले नहीं आते थे। खेड़ा की लड़ाई की खबर अखबारों में छप चुकी थी। गुजरातियों को इस नई वस्तु में खूब ही दिलचस्पी आती थी। वे धन लुटाने को तैयार थे। यह बात तुरंत ही उनकी समझ में नहीं आती थी कि सत्याग्रह की लड़ाई धन से नहीं चल सकती, उसे धन की ज़रूरत कम से कम रहती है। मना करने पर भी बंबई के सेठियों ने ज़रूरत से अधिक धन दिया था और लड़ाई के अंत में उसमें से कुछ रक़म बची थी।

दूसरी ओर सत्याग्रही सेना को भी सादगी का नया पाठ सीखना बाकी था। यह तो नहीं कह सकते कि उन्होंने पूरा पाठ सीखा, किन्तु उन्होंने अपने रहन-सहन में बहुत-कुछ सुधार तो कर लिया था।

पाटीदारों के लिए भी इस प्रकार की लड़ाई नई ही थी। गाँव-गाँव में घूम कर उसका रहस्य समझाना पड़ता था। यह समझा कर लोगों का भय दूर करना मुख्य काम था कि सरकारी अफ़सर प्रजा के मालिक नहीं किन्तु नौकर हैं, उसके पैसे से तनख्वाह पानेवाले हैं। और निर्भय बनते हुए भी विनय का पालन करने का ढंग बतलाना और गले उतारना लगभग अशक्य-सा ही लगता था। अफसरों का डर छोड़ने के बाद उनके किये अपमानों का बदला लेने का किसका मन न होवे? मगर तोभी सत्याग्रही के लिए अविनयी होना तो दूध में जहर पड़ने के समान है। पीछे से मैंने यह और अधिक समझा कि विनय का पूरा पाठ पाटीदार नहीं पढ़ सके थे। यह बात मैंने पीछे से अधिक समझी। अनुभव से देखता हूँ कि विनय सत्याग्रह का सबसे कठिन अंश है। विनय का अर्थ यहाँ पर केवल मान के साथ वचन बोलना-भर ही नहीं है। विनय है विरोधी के प्रति भी मन में आदर रखना, सरल भाव से उसके हित की इच्छा करनी और उसीके अनुसार अपना बर्त्ताव रखना।

शुरू के दिनों में लोगों में खूब हिम्मत दिखाई पड़ती थी। शुरू-शुरू में सरकारी कार्रवाइयाँ भी नर्म होती थीं। किन्तु जैसे-जैसे लोगों की दृढ़ता बढ़ती हुई जान पड़ी, वैसे-वैसे सरकार को भी अधिक उग्र उपाय करने का मन हुआ। जब्तीदारों ने लोगों के ढोर बेचे, घर में से चाहे जो माल उठा ले गये। चौथाई जुरमाने के नोटिस निकले। किसी गाँव की सारी फ़सल जब्त हुई। लोग घबरा गये। कुछ लोगों ने जमीन-महसूल भरा। दूसरे यह चाहने लगे कि अगर सरकारी अफसर ही हमारा कुछ माल जब्त करके महसूल अदा कर लें तो हम सस्ते ही छूटें। कितने ऐसे भी निकले, जो मरते दम तक टेकपर अड़े रहनेवाले थे।

इतने ही में शंकरलाल पारख की जमीन पर रहनेवाले उनके आदमी ने उसका महसूल चुका दिया। इससे हाहाकार हो गया। शंकरलाल पारख ने वह जमीन कौम को अर्पण करके अपने आदमी की भूल का प्रायश्चित्त किया। उनकी प्रतिष्ठा अक्षत रही। दूसरों के लिए यह उदाहरण हुआ।

एक अयोग्य रीति से जब्त किये गये खेत में प्याज की फ़सल तैयार थी। मैंने डरे हुए लोगों को उत्साह देने के लिए मोहनलाल पंड्या के नेतृत्व में उस खेत की फ़सल काट लेने की सलाह दी। मेरी दृष्टि में उसमें कानून का भंग नहीं होता था।

मैंने समझाया कि अगर होता भी हो तोभी ज़रा से महसूल के लिए सारी खड़ी फसल की जब्ती कानून-सम्मत होने पर भी नीति-विरुद्ध है और सरासर लूट है तथा इस तरह की गई ज़ब्ती का अनादर करना धर्म है। ऐसा करने में जेल जाने तथा सज़ा पाने का जो जोखिम था सो लोगो को मैंने स्पष्ट-रूप से बतला दिया था। मोहनलाल पंड्या को तो यही चाहिए था। उनके लिए यह रुचिकर बात नहीं थी कि सत्याग्रह से किसी अविरोधी तौर पर किसीके जेल जाने के पहले ही खेड़ा की लड़ाई खत्म हो जाय। उन्होंने इस खेत की प्याज खोद लाने का बीड़ा उठाया। सात-आठ आदमियों ने उनका साथ दिया।

सरकार उन्हें पकड़े बिना भला कैसे रहे? मोहनलाल पंड्या और उनके साथी पकड़े गये। लोगों का उत्साह बढ़ा। लोग जहाँ पर जेल इत्यादि से निर्भय बनते हैं वहाँ राजदण्ड लोगों को दबाने के बदले शौर्य देता है। कचहरी में लोगों के झुण्ड मुक-दमा देखने को इकट्ठे होने लगे। पंड्या को तथा उनके साथियों को बहुत थोड़े दिनों की कैद मिली। मैं मानता हूँ कि अदालत का फैसला ग़लत था। प्याज़ उखाड़ने की क्रिया चोरी की कानूनी व्याख्या में नहीं आती है। किन्तु अपील करने की किसी की वृत्ति ही नहीं थी।

जेल जाने वालों को पहुँचाने के लिए जलूस गया, और

उस दिन से मोहनलाल पंड्या ने जो 'प्याज चोर' की सम्मानित उपाधि लोगों से पाई सो वह आज तक भोगते हैं।

यह वर्णन करके कि इस लड़ाई का कैसा और किस तरह अन्त आया, खेड़ा-प्रकरण पूरा करूँगा।

खेड़ा की लड़ाई का अंत

इस लड़ाई का अंत विचित्र रीति से हुआ। यह स्पष्ट था कि लोग थके हुए थे। जो लोग आन पर अड़े हुए थे, उन्हें अन्त तक ख्वार होने देने में संकोच होता था। मेरा झुकाव इस ओर था कि सत्याग्रही को जो योग्य लग सके, अगर ऐसा कोई उपाय इस युद्ध को समाप्त करने का मिले तो वही करना चाहिए। ऐसा अकल्पित उपाय आप ही आप आ गया। नड़ियाद तालुके के मामलतदार ने खबर भेजी कि अगर धनी पाटीदार महसूल भर दें तो ग़रीबों का लगान मुल्तवी रहेगा।

इस संबन्ध में मैंने लिखी हुई सूचना माँगी। वह मिली भी। मामलतदार तो अपने ही ताल्लुके के लिए जवाबदारी ले सकता है। इसलिए मैंने कलेक्टर से पूछा। जवाब मिला कि ऐसा हुक्म तो कबका न निकल चुका है? मुझे ऐसी खबर न थी। किन्तु अगर वह हुक्म निकला हो तो लोगों की प्रतिज्ञा पूरी हुई गिनी जायगी। प्रतिज्ञा में यही वस्तु थी। इसलिए इस हुक्म से संतोष माना।

यह होने पर भी इस अंत से हममें कोई खुश न हो सका। सत्याग्रह की लड़ाई के बाद जो मिठास होनी चाहिए सो इसमें नहीं थी। कलक्टर समझता था, मैंने तो मानों कुछ नया किया ही नहीं है। ग़रीब लोगों को छोड़ने की बात थी, मगर ये भी शायद ही बचे। यह कहने का अधिकार कि गरीब कौन है, प्रजा नहीं आजमा सकी। मुझे इसका दुःख था कि प्रजा में यह शक्ति नहीं रही थी। इसलिए अंत का उत्सव तो मनाया गया, मगर मुझे वह निस्तेज लगा।

सत्याग्रह का शुद्ध अंत यह गिना जायगा कि आरंभ की बनिस्बत अंत में प्रजा में अधिक तेज और शक्ति देखने में आवे। यह मैं न देख सका।

ऐसा होने पर भी लड़ाई के जो अदृश्य परिणाम आये, उनका लाभ तो आज भी देखा जा सकता है, और लिया भी

जा रहा है। खेड़ा की लड़ाई से गुजरात के किसान-वर्ग की जागृति का, उसके राजनैतिक शिक्षण का आरम्भ हुआ।

विदुषी वसन्तीदेवी (एनी बेसन्ट) की 'होमरूल' की प्रतिभा-शाली हलचल ने उसको स्पर्श अवश्य किया था, किन्तु किसान के जीवन में शिक्षित-वर्ग का, स्वयंसेवकों का सच्चा प्रवेश होना तो इसी लड़ाई से कहा जा सकता है। सेवक पाटीदारो के जीवन में ओत-प्रोत हो गये थे। स्वयंसेवको को अपने क्षेत्र की मर्यादा इस लड़ाई में मालूम हुई, उनकी त्याग-शक्ति बढ़ी। वल्लभभाई ने अपने आपको इस लड़ाई में पहचाना। अगर और कुछ नहीं तो एक यही परिणाम कुछ ऐसा-वैसा नहीं था, यह हम पिछले साल बाढ़-संकट-निवारण के समय और इस साल बारडोली में देख चुके हैं। गुजरात के प्रजा-जीवन मे नया तेज आया, नया उत्साह भर गया। पाटीदारों को अपनी शक्ति का भान हुआ, जो कभी नहीं भूला। सबने समझा कि प्रजा की मुक्ति का आधार अपने ही ऊपर है, त्याग-शक्ति पर है। सत्याग्रह ने खेड़ा के द्वारा गुजरात में जड़ जमाई। इसलिए हालांकि लड़ाई के अन्त से मैं संतुष्ट न हो सका, मगर खेड़ा को प्रजा को तो उत्साह था; क्योंकि उसने देख लिया कि हमारी शक्ति के प्रमाण से हमें अधिक मिला है और आगे के लिए राजनैतिक दुःख के निवारण का मार्ग हमें मिल गया है। उसके उत्साह के लिए इतना ज्ञान काफी था।

किन्तु खेड़ा की प्रजा सत्याग्रह का स्वरूप पूरा नहीं समझ सकी थी, इसलिए उसे कैसे कड़वे अनुभव हुए, सो हम आगे चल कर देखेंगे।

ऐक्य के प्रयत्न

जिस समय खेड़ा का आन्दोलन जारी था, उसी समय यूरोप का महासमर भी चल रहा था। उसीके संबंध में वाइसराय ने दिल्ली में नेताओं को बुलाया था। मुझे उसमें हाजिर रहने का आग्रह किया था। मैं यह पहले ही लिख चुका हूँ कि लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ मेरा मैत्री का सम्बन्ध था।

मैंने आमंत्रण कबूल रक्खा और दिल्ली गया। किन्तु इस सभा में शामिल होने मे मुझे एक सकोच तो था ही। उस समय अली-भाई जेल में थे। उनसे मैं एक ही दो बार मिला था, सुना

उनके बारे में बहुत-कुछ था। उनकी सेवावृत्ति और बहादुरी की स्तुति सभी कोई किया करते थे। हकीम साहब के साथ भी मेरा परिचय नहीं हुआ था। स्व० आचार्य रुद्र और दीनबन्धु एण्ड्रूज के मुँह से उनकी बहुत प्रशंसा सुनी थी। लखनऊ में मुस्लिम-लीग में मैंने शेख कुरैशी और बैरिस्टर ख्वाजा से मुलाकात की थी। डाक्टर अन्सारी और डाक्टर अब्दुलरहमान के साथ भी सम्बन्ध बँध चुका था। भले मुसलमानों की सुहबत में ढूँढता था और जो पवित्र तथा देशभक्त गिने जाते थे, उनके संपर्क में आकर उनकी भावनायें जानने की मुझे तीव्र इच्छा थी। इसलिए मुझे वे अपने समाज में जहाँ कहीं ले जाते, मैं बिना कोई खींच-तान कराये ही चला जाता था।

यह तो मैं दक्षिण आफ्रिका में ही समझ चुका था कि हिन्दुस्तान के हिन्दू-मुसलमानों में सच्चा मित्राचार नहीं है। दोनों के बीच मनमुटाव मिटाने का एक भी उपाय मैं जाने नहीं देता था। झूठी खुशामद करके या स्वत्व गँवा कर किसी को खुश करना मेरे स्वभाव में ही नहीं था। किन्तु मैं वहीं से यह समझता आया था कि मेरी अहिंसा की कसौटी और उसका विशाल प्रयोग इस ऐक्य के संबंध में होने को हैं। अब भी मेरी यह राय कायम है। मेरी कसौटी ईश्वर प्रति-क्षण कर रहे हैं। मेरे प्रयोग जारी हैं।

ऐसे विचार लेकर मैं बंबई के बंदर पर उतरा था। इसलिए

इन भाइयों से मिलना मुझे रुचा। हमारा स्नेह बढ़ता गया। हमारा परिचय होने के बाद तुरंत ही सरकार ने अलीभाइयों को जीते-जी ही जेल की कोठरियों में दफ्न किया था। मौलाना मुहम्मदअली को जब इजाज़त मिलती, वह मुझे बैतूल-जेल से या छिन्दवाड़ा-जेल से लम्बे-लम्बे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलने जाने की प्रार्थना सरकार से की, मगर मिलने की इजाज़त न मिली।

अली-भाइयों के जेल जाने के बाद कलकत्ता मुस्लिम-लीग में मुझे मुसलमान भाई ले गये थे। वहाँ मुझसे बोलने के लिए कहा गया था। मैं बोला। अली-भाइयों को छुड़ाने का धर्म मुसलमानों को समझाया।

इसके बाद वे मुझे अलीगढ़-कॉलेज में भी ले गये थे। वहाँ मैंने मुसलमानों को देश के लिए फ़क़ीरी लेने का न्यौता दिया।

अली-भाइयों को छुड़ाने के लिए मैंने सरकार के साथ पत्र-व्यवहार चलाया। इस सिलसिले में इन भाइयों की खिलाफ़त-संबंधी हलचल का अध्ययन किया। मुसलमानों के साथ चर्चा की। मुझे लगा कि अगर मैं मुसलमानों का सच्चा मित्र बनना चाहूँ तो मुझे अली-भाइयों को छुड़ाने में और खिलाफ़त का प्रश्न हल करने में पूरी मदद करनी चाहिए। खिलाफ़त का प्रश्न मेरे लिए सहज था। उसके स्वतंत्र गुण-दोष तो मुझे देखने भी

नहीं थे। मुझे ऐसा लगा कि उस सम्बन्ध में मुसलमानों की माँग नीति-विरुद्ध न हो तो मुझे मदद देनी चाहिए। धर्म के प्रश्न में श्रद्धा सर्वोपरि होती है। सबकी श्रद्धा एक ही वस्तु के बारे में एक ही सी हो तो जगत् में एक ही धर्म होगा। खिलाफत के संबंध की माँग मुझे नीति-विरुद्ध नहीं जान पड़ी। इतना ही नहीं बल्कि यही माँग इँग्लैण्ड के प्रधान मंत्री ने स्वीकार की थी, इसलिए मुझे तो उनसे अपने वचन का पालन कराने भर ही प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दों में थे कि मर्यादित गुण-दोष की परीक्षा करने का काम महज अपनी अन्तरात्मा को प्रसन्न करने की ही खातिर था।

खिलाफत के प्रश्न में मैंने मुसलमानों का जो साथ दिया, उसके विषय में मित्रों और टीकाकारों ने मुझे खूब खरी-खोटी सुनाई हैं। इन सबका विचार करने पर भी मैंने जो राय कायम की, जो मदद दी या दिलाई, उसके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं है। उसमें मुझे कुछ सुधारना भी नहीं है। आज भी ऐसा प्रश्न उठे तो, मुझे लगता है, मेरा आचरण उसी प्रकार का होगा।

इस तरह के विचार लिये हुए मैं दिल्ली गया। मुसलमानों के दुःख के बारे में मुझे वाइसराय से चर्चा करनी ही थी। खिलाफत के प्रश्न ने अभी अपना पूर्ण स्वरूप नहीं पकड़ा था।

दिल्ली पहुँचते ही दीनबन्धु एण्डरूज ने एक नैतिक प्रश्न ला

खड़ा किया। इसी अरसे में इटाली और इंग्लैंड के बीच गुप्त-संधि की चर्चा अंग्रेजी अखबारों में हुई। दीनबन्धु ने मुझसे उसकी बातें की और कहा, "अगर ऐसी गुप्त संधियां इंग्लैण्ड ने किसी सरकार के साथ की हों तो फिर आप इस सभा में कैसे शामिल होकर मदद दे सकते हैं?" मैं इस संधि के बारे में कुछ नहीं जानता था। दीनबन्धु का शब्द मेरे लिए बस था। ऐसे कारण से सभा में शामिल होने मे उज्र दिखलानेवाला पत्र मैंने लॉर्ड चेम्सफोर्ड को लिखा। उन्होंने मुझे चर्चा करने के लिए बुलाया। उनके साथ और फिर पीछे मि० मैफी के साथ मेरी लम्बी चर्चा हुई। इसका अन्त यह पाया कि मैंने शामिल होना स्वीकार कर लिया। संक्षेप में वाइसराय की दलील यह थी—"आप कुछ यह तो नहीं मानते कि ब्रिटिश मंत्रि-मंडल जो-कुछ करे, वाइसराय को उसकी खबर होनी चाहिए? मैं यह दावा नहीं करता कि ब्रिटिश सरकार किसी दिन भूल करती ही नही। यह दावा मैं ही क्या, कोई नहीं करता। मगर आप यदि यह कबूल करें कि उसका अस्तित्व संसार के लिए लाभकारी है, उसके कारण इस देश को कुल मिलाकर लाभ ही पहुँचा है, तो क्या फिर आप यह नहीं कबूल करेंगे कि उसकी आपत्ति के समय उसे मदद पहुँचाना हरएक नागरिक का धर्म है। गुप्त संधि के संबंध में आपने अखबारों में जो देखा है, सो मैंने भी पढ़ा है। मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि मैं इससे

अधिक कुछ नहीं जानता। यह भी तो आप जानते ही हैं कि अखबारों में कैसी गप्पें आती हैं। तो क्या आप अखबारों में छपी एक निंदक बात से ऐसे समय में सल्तनत का त्याग कर सकते हैं? लड़ाई पूरी होने के बाद आपको जितने नीति के प्रश्न उठाने हों, आप उठा सकते हैं, और जितनी छानबीन करनी हो, कर सकते हैं।"

यह दलील नई न थी। परन्तु जिस अवसर पर, जिस प्रकार वह रक्खी गई, उससे मुझे नई-सी जान पड़ी और मैंने सभा में जाना कबूल किया। खिलाफत की बाबत वाइसराय को पत्र लिख कर भेजना निश्चित हुआ।

रंगरूटों की भर्ती

सभा में मैं हाज़िर हुआ। वाइसराय की यह तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाहियों की मदद के प्रस्ताव का समर्थन करूँ। मैंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी में बोलने की प्रार्थना की। वाइसराय ने वह स्वीकार कर ली, मगर साथ ही अंग्रेजी में बोलने की सूचना की। मुझे भाषण तो देना ही नहीं था। मैं इतना ही बोला, "मुझे अपनी जिम्मेवारी का पूरा भान है और उस जिम्मेवारी को समझते हुए मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।" हिन्दुस्तानी में बोलने के लिए मुझे बहुतों ने धन्यवाद दिया। वे कहते थे कि वाइसराय की सभा में इस ज़माने में

हिन्दुस्तानी बोलने का यह पहला ही दृष्टान्त था। धन्यवाद और पहला दृष्टान्त होने की खबर अखरी। मैं शरमाया। अपने -ही देश में, देश-सम्बन्धी काम की सभा में, देशी भाषा का बहिष्कार या उसकी अवगणना होनी कितने दुःख की बात है ? और मेरे जैसा कोई हिन्दुस्तानी में एक या दो वाक्य बोले ही तो उसे धन्यवाद किस बात का ? ऐसे प्रसंग हमारी गिरी हुई दशा का भान करानेवाले हैं। सभा में बोले हुए वाक्य में मेरे लिए तो बहुत वज़न था। यह सभा या यह समर्थन ऐसे न थे, जिन्हें मैं भूल सकूँ। अपनी एक जिम्मेवारी तो मुझे दिल्ली में ही खत्म कर लेनी थी। वाइसराय को पत्र लिखने का काम मुझे सहज नहीं लगा। सभा में जाने की अपनी आना-कानी, उसके कारण भविष्य की आशायें वग़ैरा का खुलासा, अपने लिए, सरकार के लिए, और प्रजा के लिए, करने की आवश्यकता मुझे जान पड़ी।

मैंने वाइसराय को पत्र लिखा। उसमें लोकमान्य 'तिलक, अली-भाई आदि नेताओं की ग़ैरहाजिरी के बारे में अपना खेद प्रकट किया, लोगों की राजनैतिक माँगों और लड़ाई में से उत्पन्न होनेवाली मुसलमानों की माँगों का उल्लेख किया। यह पत्र छापने की इजाजत मैंने वाइसराय से माँगी, जो उन्होंने खुशी से दे दी।

यह पत्र शिमला भेजना था, क्योंकि सभा खत्म होते ही

वाइसराय शिमला चले गये थे। वहाँ डाक से पत्र भेजने में ढील होती थी। मेरे मन में पत्र महत्त्वपूर्ण था। समय बचाने की जरूरत थी। चाहे जिसके हाथ से भेजने की इच्छा नहीं होती थी। मुझे ऐसा लगा कि अगर यह पत्र किसी आदमी के हाथों जाय तो बड़ा अच्छा है। दीनबन्धु और सुशील रुद्र ने रेवरेण्ड आयर्लैण्ड महाशय का नाम सुझाया। उन्होंने यह कबूल किया कि पत्र पढ़ने पर अगर शुद्ध लगेगा तो ले जाऊँगा। पत्र खानगी तो था ही नहीं। उन्होंने पढ़ा, वह उन्हें पसन्द आया, और वह उसे ले जाने को राजी हुए। मैंने दूसरे दर्जे का रेल-भाड़ा देने की व्यवस्था की, किन्तु उन्होंने उसे लेने से इन्कार किया और रात की मुसाफिरी होने पर भी इण्टर का ही टिकट लिया। उनकी सादगी, सरलता और स्पष्टता के ऊपर मैं मोहित हो गया। इस प्रकार पवित्र हाथों भेजे गये पत्र* का परिणाम मेरी दृष्टि से अच्छा ही हुआ। उससे मेरा मार्ग साफ हो गया।

मेरी दूसरी जिम्मेवारी रंगरूट भर्ती करने की थी। मैं यह याचना खेड़ा में न करूँ तो और कहाँ करूँ? अपने साथियों को अगर पहले न्यौता न दूँ तो और किसे दूँ? खेड़ा पहुँचते ही वल्लभभाई वगैरा के साथ सलाह की। उनमें से कितनों को तुरत घूँट न उतरी। जिन्हें यह बात पसन्द भी पड़ी, उन्हें कार्य की सफ-

* इस पत्र का अनुवाद इसी अध्याय के अन्त में दिया है।

लता के बारे में सन्देह हुआ। जिस वर्ग में से भर्ती करनी थी, उस वर्ग को सरकार के प्रति कुछ भी प्रेम नहीं था। सरकार के अफसरों के द्वारा हुए कड़वे अनुभव अभी ताजे ही थे।

तो भी कार्यारम्भ करने की चिन्ता में सभी लगे। आरम्भ किया कि तुरत ही मेरी आँख खुली। मेरा आशावाद भी कुछ ढीला हुआ। खेड़ा की लड़ाई में लोग मुफ्त में गाड़ी देते थे, जहाँ एक स्वयंसेवक की हाजिरी की जरूरत होती वहाँ तीन-चार मिल जाते थे। अब पैसा देने पर भी गाड़ी दुर्लभ हो गई। किन्तु इस तरह कोई निराश होनेवाला नहीं था। गाड़ी के बदले पैदल मुसाफिरी करने का निश्चय किया। रोज बीस मील की मंजिल चलनी थी। गाड़ी न मिले तो खाना भी न मिले। माँगना भी उचित नहीं। इसलिए यह निश्चय किया कि प्रत्येक स्वयंसेवक अपने भोजन का सामान अपने झोले में लेकर ही बाहर निकले। मौसम गर्मी का था। इसलिए ओढ़ने का कुछ सामान साथ रखने की जरूरत नहीं थी।

जिस-जिस गाँव में जाते, वहाँ सभा करते। लोग आते मगर भर्ती के लिए नाम तो मुश्किल से एक या दो मिलते। 'आप अहिंसावादी होकर हमें हथियार लेने को क्यों कहते हैं? सरकार ने हिन्दुस्तान का क्या भला किया है कि आप उसे मदद देने को कहते हैं?' इस तरह के अनेक सवाल हमारे सामने पेश किये जाते थे।

ऐसा होने पर भी हमारे सतत काम का असर लोगों पर होने लगा था। नाम भी प्रमाण में ठीक लिखे जाने लगे और हम मानने लगे कि अगर पहली टुकड़ी निकल पड़े तो दूसरी के लिए मार्ग साफ होगा। कमिश्नर के साथ मैंने यह चर्चा शुरू कर दी थी कि जो रंगरूट निकल पड़ें, उन्हें कहाँ रखना चाहिए इत्यादि। दिल्ली के नमूने पर कमिश्नर लोग जगह-जगह सभायें करने लगे थे। वैसी सभा गुजरात में भी हुई। उसमें मुझे और मेरे साथियों को भी आने का आमन्त्रण था। यहाँ भी मैं हाजिर हुआ था। किन्तु अगर दिल्ली में मैं कम शोभता हुआ जान पड़ा तो यहाँ और भी अधिक कम शोभनीय-सा अपने आपको लगा। 'हाँ जी हाँ' के वातावरण में मुझे चैन नहीं पड़ता था। यहाँ मैं जरा विशेष बोला था। मेरे बोलने में खुशामद जैसा कुछ था ही नहीं, किन्तु दो कड़वे वचन भी थे।

रंगरूटों की भर्ती के सम्बन्ध में मैंने पत्रिका छापी थी। उसमें भर्ती होने के लिए निमन्त्रण में एक दलील थी, जो कमिश्नर को खटकी थी। उसका सार यह था—"ब्रिटिश राज्य के अनेक अपकृत्यों में से सारी प्रजा को शस्त्र-रहित करने के कानून का इतिहास उसका सबसे काला काम गिना जायगा। यह कानून रद कराना हो और अस्त्रों का उपयोग सीखना हो तो यह सुवर्ण-योग है। राज्य की आपत्ति के समय में मध्यम-वर्ग स्वेच्छा से मदद

करेगा तो अविश्वास दूर होगा और जिन्हें शस्त्र धारण करने हों, वे खुशी से हथियार रख सकेंगे।" इसको लक्ष्य करके कमिश्नर को कहना पड़ा था कि उनके और मेरे बीच मतभेद होते हुए भी सभा में मेरी हाजिरी उन्हें प्रिय थी। मुझे भी अपने मत का समर्थन, जहाँ तक हो सका, मीठे शब्दों में करना पड़ा था।

जिस पत्र का उल्लेख किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है—

सभा में उपस्थित होने के लिए मैं हिचकिचा रहा था, परन्तु आपसे मुलाकात करने के बाद मेरी हिचकिचाहट दूर हो गई है। और उसका एक कारण यह अवश्य है कि आपके प्रति मुझे बहुत आदर है। न आने के कारणों में एक मजबूत कारण यह था कि उसमें लोकमान्य तिलक, श्रीमती बेसेण्ट और अली-भाइयों को निमन्त्रण नहीं दिया गया था। इन्हें मैं जनता के बड़े ही शक्तिशाली नेता मानता हूँ। मैं तो यह मानता हूँ कि उनको निमन्त्रण न भेजकर सरकार ने बड़ी गम्भीर भूल की है। मैं अब भी यह सूचना करना चाहता हूँ कि जब प्रान्तिक सभायें की जायँ तब उन्हें अवश्य निमन्त्रण भेजा जाय। मेरा नम्र अभिप्राय यह है कि, चाहे कैसा ही मतभेद क्यों न हो, कोई भी सल्तनत ऐसे प्रौढ़ नेताओं का अनादर नहीं कर सकती। ऐसी परिस्थिति होने के कारण ही मैं सभा की कमिटियों में शामिल न हो सका और सभा में प्रस्ताव का समर्थन करके सन्तुष्ट हो गया। सरकार को मैंने जो सूचनायें भेजी हैं, वे यदि स्वीकृत हुईं तो मैं तुरन्त ही इस काम में लग जाने की आशा रखता हूँ।

जिस सल्तनत में हम भविष्य में सम्पूर्ण हिस्सेदार बनने की आशा करते हैं, उसको आपत्तिकाल में मदद करना हमारा धर्म है। परन्तु मुझे यह कहना चाहिए कि उसके साथ यह आशा भी है कि इस मदद के कारण हम अपने ध्येय पर जल्दी पहुँच सकेंगे। इसलिए प्रजाजनों को यह मानने का अधिकार है कि जिन सुधारों के देने की आशा आपने अपने भाषण में दिलाई है उन सुधारों में महासभा और मुस्लिम लीग की मुख्य-मुख्य माँगों का भी समावेश होगा। अगर मुझसे बन पड़ता तो मैं ऐसे समय में होमरूल वगैरा का उच्चार तक न करता और साम्राज्य के ऐसे बारीक समय पर तमाम शक्ति-शाली भारतीयों को चुपचाप कुरबान हो जाने के लिए कहता। इतना करने से ही हम साम्राज्य के बड़े से बड़े और सम्माननीय हिस्सेदार बन जाते और रंग-भेद और देश-भेद दूर हो जाता।

परन्तु शिक्षित-वर्ग ने इससे कम असर-कारक मार्ग ग्रहण किया है। जन-समाज में उनका जोर बहुत है। मैं जबसे हिन्दुस्तान में आया हूँ तभी से जन समाज के गाढ़े परिचय में आता रहा हूँ और मैं आपको यह कहना चाहता हूँ कि उनमें होमरूल प्राप्त करने का उत्साह पैदा हो गया है। बिना होमरूल के प्रजा को कभी संतोष न होगा। वे यह समझते हैं कि होमरूल प्राप्त करने के लिए जितना भी त्याग किया जा सके कम ही होगा। इसलिए यद्यपि साम्राज्य के लिए जितने भी स्वयं-सेवक दिये जा सकें देने चाहिएँ, किन्तु मैं आर्थिक मदद के लिए यह नहीं कह सकता हूँ। लोगों की हालत को जानकर मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान अबतक जितनी मदद कर चुका है वह भी उसकी शक्ति से अधिक है।

परन्तु मैं इतना अवश्य समझता हूँ कि जिन्होंने सभा में प्रस्ताव का समर्थन किया उन्होंने इस कार्य में प्राणान्त मदद करने का निश्चय किया है। परन्तु हमारी स्थिति मुश्किल है। हम कोई दूकान के हिस्सेदार नहीं। हमारी मदद की नींव भविष्य की आशा पर स्थित है, और वह आशा क्या है, यह यहाँ विशेष रूप से कहना चाहिए। मैं कोई सौदा करना नहीं चाहता। फिर भी मुझे इतना तो यहाँ अवश्य कहना चाहिए कि यदि इसमें हमें निराश होना पड़ा तो साम्राज्य के बारे में आजतक हमारी जो मान्यता है वह केवल भ्रम गिना जायगा।

आपने अन्दरूनी झगड़े ले जाने की जो सूचना की है उसका अर्थ यदि यह हो कि जुल्म और अधिकारियों के अत्याचार सहन करें, तो यह असंभव है। संगठित जुल्म के सामने अपनी सारी शक्ति लगा देना मैं अपना धर्म समझता हूँ। इसलिए आप अधिकारियों को सूचना करें कि वे किसी भी मनुष्य का अनादर न करें और पहले कभी जैसा लोकमत का आदर नहीं किया वैसा अब उसका आदर करें। चम्पारन में सदियों के जुल्म का विरोध कर मैंने ब्रिटिश न्याय का सर्वश्रेष्ठ होना प्रमाणित कर दिया है। खेड़ा की प्रजा ने यह देख लिया है कि जब उसमें सत्य के लिए दुःख सहन करने की शक्ति है तब सच्ची शक्ति राज्य नहीं लेकिन लोकमत है। और इसलिए जिस सल्तनत को प्रजा शाप दे रही थी उसके प्रति अब कटुता कुछ कम हो गई है और जिस राज्य ने सविनय कानून-भंग सहन कर लिया है वह राज्य लोकमत का सर्वथा अनादर नहीं करेगा यह उनको विश्वास हो गया है। इसलिए मेरी यह मान्यता है कि चम्पारन और खेड़ा में मैंने जो कार्य किया है वह लड़ाई के संबंध में मेरी सेवा ही

है। यदि आप मुझे इस प्रकार का कार्य बंद करने को कहेंगे तो मै यही समझूंगा कि आप मुझे अपने श्वास को ही रोक देने को कहते हैं। यदि शस्त्रबल के स्थान में मुझे आत्मबल अर्थात प्रेम-बल को लोकप्रिय बनाने में सफलता मिले तो मैं यह जानता हूँ कि हिन्दुस्तान पर सारे विश्व की आँख बदल बैठे तो भी वह उसके सामने लड़ सकेगा। इसलिए हर समय यह दुःख सहन करने की सनातन नीति को अपने जीवन में उतारने के लिए मैं अपनी आत्मा को कसता रहूँगा और दूसरों को भी इस नीति का स्वीकार करने के लिए कहता रहूँगा। और यदि मैं किसी दूसरी प्रवृत्ति को करता भी हूँ तो इसी नीति की अद्वितीय उत्तमता सिद्ध करने के लिए ही करता हूँ।

अन्त में मुसलमान राज्यों के बारे में निश्चित विश्वास दिलाने की ब्रिटिश प्रधान-मण्डल को सूचना करने की मैं आपसे विनती करता हूँ। आप जानते हैं कि इस विषय में प्रत्येक मुसलमान को चिन्ता बनी रहती है। हिन्दू होकर मैं उनको इस चिन्ता के प्रति लापरवाह नहीं रह सकता हूँ। उनका दुःख तो हमारा ही दुःख है। मुसलमानीराज्य के हकों की रक्षा करने में, उनके धर्मस्थानों के विषय में, उनके विचार का आदर करने में, और हिंदुस्तान की होमरूल की माँग स्वीकार करने में साम्राज्य की सलामती है। मैंने यह पत्र लिखा है, क्योंकि मैं अँग्रेज़ों को चाहता हूँ; और अँग्रेजों में जैसी वफादारी है, वैसी ही वफादारी मैं प्रत्येक भारतीय में उत्पन्न करना चाहता हूँ।

मृत्यु-शय्या पर

मुंगफलों की भर्ती करने में मेरा शरीर काफी थक गया। उन दिनों भूनी हुई मूंगफली को कूट कर उसमें गुड़ मिला और उसे दो-तीन नीबू तथा पानी के साथ मिला कर मैं पी जाता था। बस, यही मेरा भोजन था। मैं यह जानता तो था कि अधिक मुंगफली अपथ्य करती है, फिर भी वह अधिक खाने में आ गई। इससे पेचिश हो गई। मुझे वार-बार आश्रम तो आना ही पड़ता था। मैंने इस पेचिश की अधिक परवा नहीं की। रात को आश्रम पहुँचा। उन दिनों मैं दवा तो शायद ही कभी लेता था। मुझे विश्वास था कि एक बार का खाना बन्द

कर दूँगा तो तबियत ठीक हो जायगी। दूसरे दिन सुबह कुछ नहीं खाया। इसलिए दर्द तो लगभग शान्त हो गया। पर मैं जानता था कि मुझे उपवास और करना पड़ेगा, अथवा यदि कुछ खाना ही चाहिए तो फल का रस जैसी कोई चीज खानी चाहिए।

उस दिन कोई त्योहार था। मुझे स्मरण है कि मैंने कस्तूरबाई से कह दिया था कि दोपहर को भी मैं भोजन नहीं करूँगा। पर उसने मुझे ललचाया और मैं भी लालच में आ गया। उस समय मैं किसी भी पशु का दूध नहीं पीता था। इसलिए घी और मट्ठा भी मेरे लिए त्याज्य ही था। मेरे लिए तेल में गेहूँ का दलिया बनाया गया। वह और साबत मूँग भी मेरे लिए रक्खे हुए हैं, ऐसा मुझसे कहा गया। स्वाद ने मुझे ललचाया। फिर भी इच्छा तो यही थी कि कस्तूरबाई की बात रखने के लिए थोड़ा ही खाऊँगा, स्वाद भी ले लूँगा, और शरीर की रक्षा भी करूँगा। पर शैतान तो मौके की ताक में ही बैठा था। मैंने भोजन शुरू किया और थोड़ा खाने के बदले डट कर पेट-भर खा लिया। स्वाद तो किया, पर साथ ही यमराज को निमंत्रण भी दे दिया। खाये एक घंटा भी नहीं हुआ कि पेट में जोरों से दर्द शुरू हुआ।

रात नड़ियाद तो लौटना ही था। साबरमती स्टेशन तक पैदल गया। पर वह सवा मील का रास्ता कटना मुश्किल हो गया। अहमदाबाद के स्टेशन पर वल्लभभाई मिलने आये थे।

वह आये और मेरी पीड़ा को जान गये। पर मेरी व्याधि असह्य थी, यह न तो मैंने उन्हें जानने दिया और न दूसरे साथियों से ही कहा।

नड़ियाद पहुँचे। यहाँ से अनाथाश्रम जाना था। सिर्फ आधी मील का फासला था। पर वह दस मील मालूम हुआ। बड़ी मुश्किल से वहाँ पहुँचा। पर तकलीफ बढ़ती जाती थी। पंद्रह-पंद्रह मिनट में पाखाना जाने की हाजत होने लगी। आखिर मैं हारा। अपनी असह्य वेदना का हाल मित्रों से कहा और बिस्तर पकड़ा। आश्रम की मामूली टट्टियों में अभी तक पाखाना फिरने के लिए जाता था। अब कमोड ऊपर मंगाया। लज्जा तो बहुत मालूम हो रही थी, पर लाचार था। फूलचंद बापूजी बिजली की तरह दौड़ कर कमोड लाये। साथी चिंतातुर होकर मेरे आसपास एकत्र हो गये। उनका प्रेम अपार था। पर मेरे दुःख को आप उठाकर तो बेचारे हलका कर नहीं सकते थे। मेरी हठ का कोई ठिकाना न था। डॉक्टर को बुलाने से मैंने इन्कार कर दिया—'दवा तो हर्गिज नहीं लूँगा। अपने किये का फल भोगूँगा।' साथियों ने यह सब दुःखपूर्वक सह लिया। चौबीस घण्टे के अंदर तीस-चालीस बार मैं टट्टी गया। खाना तो मैंने बन्द कर ही दिया था। पहले दिनों में तो फलों का रस भी नहीं लिया। रुचि ही न थी।

जिस शरीर को आजतक मैं पत्थर के जैसा मानता था, वह मिट्टी-सा हो गया। सारी शक्ति जाने कहाँ चली गई। डॉ० कानूगा आये, उन्होंने दवा लेने के लिए विनती की। मैंने इन्कार कर दिया। इञ्जेक्शन देने की बात कही। मैंने इसपर भी इन्कार ही किया। इञ्जेक्शन के विषय में मेरा उस समय का अज्ञान हास्यजनक था। मेरा यही खयाल था कि इञ्जेक्शन तो किसी प्रकार की लस होगी। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह तो निर्दोष वन्यौषधि की बनाई हुई पिचकारी थी। पर जब यह ज्ञान हुआ तब तो अवसर बीत गया था। हाजतें जारी थी। बहुत परिश्रम के कारण बुखार और बेहोशी भी आगई। मित्र और भी घबराये। अन्य डॉक्टर भी आये, पर दर्दी ही उनकी न सुने तब उसके लिए वे क्या कर सकते थे?

सेठ अम्बालाल और उनकी धर्मपत्नी आईं। साथियों से सलाह-मशविरा किया और बड़ी हिफाजत से मुझे वे अपने मिरजापुर वाले बंगले पर ले गये। मैं यह तो जरूर कहूँगा कि इस बीमारी में जो निर्मल, निष्काम सेवा मुझे मिली उससे अधिक सेवा तो कोई नहीं प्राप्त कर सकता। थोड़ा-थोड़ा ज्वर आने लगा और शरीर भी क्षीण होता चला। मालूम हुआ कि बीमारी बहुत दिन तक चलेगी और शायद मैं बिस्तर से भी न उठ सकूँ। अम्बालाल सेठ के बंगले में प्रेम से घिरा हुआ होने पर भी मेरे चित्त

में अशान्ति पैदा हुई और मैंने उनसे मुझे आश्रम में पहुँचाने के लिए कहा। मेरा अत्यंत आग्रह देख कर वह मुझे आश्रम ले गये।

आश्रम में मैं इस पीड़ा में पड़ा था कि इतने में वल्लभ-भाई यह खबर लाये कि जर्मनी पूरी तरह हार गया और कमिश्नर ने कहलाया है कि अब रंगरूटों की भर्ती करने की जरूरत नहीं है। इसलिए रंगरूटों की भर्ती करने की चिन्ता मे मैं मुक्त हो गया और इससे मुझे शान्ति मिली।

अब पानी के उपचारों पर शरीर टिका हुआ था। दर्द चला गया था। पर शरीर में किसी तरह खून नहीं आता था। वैद्य और डाक्टर मित्र अनेक प्रकार की सलाह देते थे। पर मैं किसी तरह दवा लेने के लिए तैयार न हुआ।

दो-तीन मित्रों ने दूध लेने में कोई बाधा हो तो मांस का शोरबा लेने की सिफारिश की और अपने कथन की पुष्टि में आयुर्वेद से इस आशय के प्रमाण बताये कि दवा के तौर मांसादि चाहे जिस वस्तु का सेवन करने में कोई हानि नहीं। एक मित्र ने अंडे खाने की भी सिफारिश की। पर उनमें से किसी की भी सलाह का मैं स्वीकार न कर सका। मेरा तो एक ही जवाब था।

खाद्याखाद्य का सवाल मेरे लिए शास्त्रों के श्लोकों पर निर्भर न था। वह तो मेरे जीवन के साथ स्वतंत्र रीति से निर्माण हुआ

था। हर कोई चीज खाकर हर किसी तरह जीने का मुझे जरा भी लोभ न था। अपने पुत्रों, स्त्री और स्नेहियों के लिए मैंने जिस धर्म पर अमल किया उसका त्याग मैं अपने लिए कैसे कर सकता था ?

इस तरह इस बहुत लम्बी बीमारी में, जो कि गंभीरता के ख़याल से मेरे जीवन में मुझे पहले ही पहल हुई थी, मुझे धर्म-निरीक्षण करने का तथा उसे कसौटी पर चढ़ाने का अलभ्य लाभ मिला। एक रात तो मैं जीवन से बिलकुल निराश हो गया था। मुझे मालूम हुआ कि अंतकाल आ पहुँचा। श्रीमती अनसूयाबहन को समाचार भिजवाये। वह आईं। वल्लभभाई आये। डा० कानूगा भी आये। डा० कानूगा ने नब्ज़ देख कर कहा, 'मुझे तो ऐसा एक भी चिन्ह नहीं दिखाई देता, जो भयंकर हो। नब्ज़ बिलकुल अच्छी है, केवल कमजोरी के कारण यह मानसिक अशान्ति आप को है।' पर मेरा दिल गवाही नहीं देता था। रात तो बीती। उस रात शायद ही मुझे नींद आई हो।

सवेरा हुआ। मृत्यु न आई। फिर भी मुझे जीने की आशा नहीं हुई। मैं तो यही समझ रहा था कि मृत्यु नजदीक आ पहुँची है। इसलिए जहाँ तक हो सका, अपने साथियों से गीता सुनने ही में अपने समय का उपयोग मैं करने लगा। कोई काम-काज करने की शक्ति ही न थी। ख़ुद पढ़ने की शक्ति भी न थी।

किसी से बात तक करने को जी न चाहता था। ज़रा सी बात-चीत करने में दिमाग थक जाता था। इसीलिए जीने में कोई आनन्द नहीं रहा। महज जीने के लिए जीना मुझे कभी पसन्द नहीं था। बिना कोई काम-काज किये साथियों से सेवा लेते हुए दिन-ब-दिन क्षीण होनेवाली देह को टिकाये रखना मुझे कष्टकर प्रतीत होता था।

इस तरह मृत्यु की राह देख रहा था कि इतने में डा०-तल-वलकर एक विचित्र प्राणी को लेकर आये। वह महाराष्ट्रीय हैं। उनको हिन्दुस्तान नहीं जानता। पर मेरे ही जैसे "चक्रम्" हैं, यह मैंने उन्हें देखते ही जान लिया। वह अपने उपचार मुझपर आजमाने के लिए आये थे। डा० तलवलकर जिन्हें अपनी सिफारिश से लाये थे, वह बम्बई के ग्रेण्ट मेडिकल कॉलेज में पढ़ते थे। पर उन्होंने उपाधि प्राप्त न की थी। मुझे बाद में मालूम हुआ कि वह सज्जन ब्रह्मसमाजी हैं। उनका नाम है केलकर। बड़े स्वतंत्र मिजाज के आदमी हैं। बरफ के उपचार के बड़े हिमायती हैं।

मेरी बीमारी की बात सुन कर जब वह अपने बरफ के उप-चार मुझपर आजमाने के लिए आये, तबसे हमने उन्हें 'आइस-डॉक्टर' की उपाधि दे रक्खी है। अपने अभिप्राय के विषय में वह बड़े आग्रही हैं। डिग्रीधारी डॉक्टरों की अपेक्षा उन्होंने कई

अच्छे आविष्कार किये हैं, ऐसा उन्हें विश्वास है। वह अपना यह विश्वास मुझमें उत्पन्न नहीं कर सके, यह उनके और मेरे लिए एकसी दुःख की बात है। मैं उनके उपचारों को एक हद तक तो मानता हूँ। पर मेरा खयाल है कि उन्होंने कितने ही अनुमान बाँधने में कुछ जल्द-बाज़ी की है। उनके आविष्कार सच्चे हों या ग़लत, मैंने तो उन्हें अपने उपचार का प्रयोग अपने शरीर पर करने दिया। बाह्य उपचारों से अच्छा होना मुझे पसंद था। फिर ये तो बरफ अर्थात् पानी के ही उपचार थे। उन्होंने मेरे सारे शरीर पर बरफ मलना शुरू किया। यद्यपि इसका फल मुझ-पर उतना नहीं हुआ, जितना कि वह मानते थे, तथापि जो मैं रोज मृत्यु की राह देखता पड़ा रहता था सो अब नहीं रहा। मुझे जीने की आशा बँधने लगी। कुछ उत्साह भी मालूम होने लगा। मन के उत्साह के साथ-साथ शरीर में भी कुछ ताज़गी मालूम होने लगी। खूराक भी थोड़ी बढ़ी। रोज पाँच-दस मिनट टहलने लगा। "अगर आप अंडे का रस पीयें तो आपके शरीर में इससे भी अधिक शक्ति आजावेगी, इसका मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ। और अंडा तो दूध के ही समान निर्दोष वस्तु होती है। वह मांस तो हर्गिज नहीं कहा जा सकता। फिर यह भी नियम नहीं है कि प्रत्येक अण्डे से बच्चे पैदा होते ही हों। मैं साबित कर सकता हूँ कि ऐसे निर्बीज अंडों का सेवन भी किया

जाता है, जिनमें से बच्चे पैदा नहीं होते।" उन्होंने कहा। पर ऐसे निर्बीज अण्डे लेने को भी मैं तो राजी न हुआ। फिर भी अब मेरा काम कुछ रुका न रहा और मैं आस-पास के कामों में थोड़ी-बहुत दिलचस्पी लेने लगा।

रौलट-ऐक्ट और मेरा धर्म-संकट

माथेरान जाने से शरीर जल्दी ही स्वस्थ हो जायगा, मित्रों से ऐसी सलाह पाकर मैं माथेरान गया। परन्तु वहाँ का पानी भारी था, इसलिए मेरे जैसे बीमार को वहाँ रहना मुश्किल हो पड़ा। पेचिश के कारण गुदा-द्वार बहुत ही नाजुक पड़ गया था और वहाँ फोड़े हो जाने से मल-त्याग के समय बड़ा दर्द होता था। इसलिए कुछ भी खाने में डर लगता था। एक सप्ताह में माथेरान से लौटा। मेरे स्वास्थ्य की रखवाली करने का काम श्री शंकरलाल ने अपने हाथ में ले लिया। उन्होंने डा० दलाल से सलाह लेने का मुझे बहुत आग्रह किया। डा०

दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करने की शक्ति ने मुझे मोह लिया। उन्होंने कहा—

'जबतक आप दूध न लेंगे तबतक आपका शरीर नहीं सुधरेगा। शरीर सुधारने के लिए तो आपको दूध लेना चाहिए और लोहे व संखिया की पिचकारी लेनी चाहिए। आप इतना करें तो मैं आपका शरीर फिर से पुष्ट करने की 'गैरंटी' देता हूँ।'

'आप पिचकारी दें, लेकिन मैं दूध नहीं लूँगा।' मैंने जवाब दिया।

'आपकी दूध की प्रतिज्ञा क्या है?' डाक्टर ने पूछा।

'गाय-भैंस के फूँका लगा कर दूध निकालने की क्रिया की जाती है। यह जानने पर मुझे दूध के प्रति तिरस्कार हो आया, और यह तो मैं सदा मानता ही था कि वह मनुष्य की खूराक नहीं है. इसलिए मैंने दूध का त्याग किया है।' मैंने कहा।

'तब तो बकरी का दूध लिया जा सकता है।' कस्तूरबाई, जो मेरी खाट के पास ही खड़ी थीं, बोल उठीं।

'बकरी का दूध लो तो मेरा काम चल जायगा।' डाक्टर दलाल बीच में ही बोल उठे।

मैं झुका। सत्याग्रह की लड़ाई के मोह ने मुझमें जीवन का लोभ पैदा किया था और मैंने प्रतिज्ञा के अक्षरों के पालन से संतोष मान कर उसकी आत्मा का हनन किया। दूध-घी की

प्रतिज्ञा लेते समय यद्यपि मेरी दृष्टि के सामने गाय-भैंस का ही विचार था, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूध-मात्र के लिए गिनी जानी चाहिए, और जबतक मैं पशु के दूध मात्र को मनुष्य की खुराक के लिए निषिद्ध मानता हूँ तबतक मुझे खाने मे उसका उपयोग करने का अधिकार नही है। यह जानते हुए भी बकरी का दूध लेने को मैं तैयार हो गया। सत्य के पुजारी ने सत्याग्रह की लड़ाई के लिए जीवित रहने की इच्छा रख कर अपने सत्य को कलंक लगाया।

मेरे इस कार्य का घाव अबतक नही भरा है और बकरी का दूध छोड़ने के लिए सदा विचार करता रहा हूँ। बकरी का दूध पीते वक्त रोज मैं कष्ट अनुभव करता हूँ। परन्तु सेवा करने का महासूक्ष्म मोह जो मेरे पीछे लगा है, मुझे छोड़ता ही नही। अहिंसा की दृष्टि से खुराक के अपने प्रयोग मुझे बड़े प्रिय हैं। उनमें मुझे आनंद आता है और यही मेरा विनोद भी है। परन्तु, बकरी का दूध मुझे इस दृष्टि के कारण नहीं अखरता। यह मुझे सत्य की दृष्टि के कारण अखरता है। अहिंसा को जितना मैं पहचान सका हूँ उसके बनिस्बत मैं सत्य को अधिक पहचानता हूँ; ऐसा मेरा खयाल है। और यदि मैं सत्य को छोड़ दूँ तो अहिंसा की बड़ी उलझनें मैं कभी भी न सुलझा सकूँगा, ऐसा मेरा अनुभव है। सत्य का पालन है लिये गये व्रतो के शरीर

और आत्मा की रक्षा, शब्दार्थ और भावार्थ का पालन। यहाँ पर मैंने आत्मा का—भावार्थ का नाश किया है। यह मुझे सदा ही अखरता है। यह जानने पर भी कि व्रत के सम्बन्ध में मेरा क्या धर्म है, यह मैं नहीं जान सका हूँ, अथवा यों कहो कि मुझमें उसका पालन करने की हिम्मत नहीं है। दोनों एक ही बात हैं, क्योंकि शंका के मूल में श्रद्धा का अभाव होता है। ईश्वर, मुझे श्रद्धा दे!

बकरी का दूध शुरू करने के थोड़े दिन बाद डा० दलाल ने गुदा-द्वार में शस्त्र क्रिया की और उसमें उन्हें बड़ी कामयाबी हुई।

अभी यों मैं बीमारी से उठने की आशा बाँध ही रहा था और अखबार पढ़ना शुरू किया था कि इतने में ही रौलेट-कमिटी की रिपोर्ट मेरे हाथ लगी। उसमें जो सिफारिशें की हुई थीं, उन्हें देख कर मैं चौंक उठा। भाई उमर और शंकरलाल ने कहा कि इसके लिए तो कुछ करना चाहिए। एकाध महीने में मैं अहमदाबाद गया। श्री वल्लभभाई मेरे स्वास्थ्य के हाल-चाल पूछने को करीब-करीब रोज आते थे। मैंने इस बारे में उनसे बातचीत की और यह सूचित भी किया कि कुछ करना चाहिए। उन्होंने पूछा—'क्या किया जा सकता है?' जवाब में मैंने कहा—'जो कमिटी की सिफारिशों के अनुसार कानून बनाया जाय, तो इसके लिए प्रतिज्ञा लेने वाले थोड़े से मनुष्यों के मिल जाने

पर भी हमें सत्याग्रह करना चाहिए। अगर मैं शय्या-वश न होता तो मैं अकेला ही लड़ता और यह आशा रखता कि पीछे से और लोग भी मिल रहेंगे। मेरी इस लाचार हालत में अकेले लड़ने की मुझमें बिलकुल ही शक्ति नहीं है।'

इस बातचीत के फल-स्वरूप ऐसे लोगों की एक छोटी-सी सभा करने का निश्चय हुआ, जो मेरे सम्बन्ध में ठीक-ठीक आये थे। रौलेट-कमिटी को मिली गवाही पर से मुझे यह तो स्पष्ट मालूम हुआ था कि उसने जैसी सिफारिश की है वैसे कानून की कोई ज़रूरत नहीं है; और मेरे नजदीक यह बात भी उतनी ही स्पष्ट थी कि ऐसे कानून को कोई भी स्वाभिमान की रक्षा करने वाला राष्ट्र या प्रजा स्वीकार नहीं कर सकती है।

सभा हुई। उसमें शायद ही कोई बीस मनुष्यों को निमंत्रण दिया गया होगा। मुझे जहाँ तक स्मरण है, उसमें वल्लभभाई के सिवाय श्रीमती सरोजिनी नायडू, मि० हार्निमेन, सद्गत उमर सुबानी, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनसूयाबहन इत्यादि थे।

प्रतिज्ञापत्र तैयार किया गया और मुझे ऐसा स्मरण है कि जितने लोग वहाँ मौजूद थे सभीने उसपर दस्तखत किये। इस समय मैं कोई अखबार नहीं चलाता था। परन्तु समय-समय पर जैसे अखबारों में लिखता था वैसे ही इस समय भी मैंने लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैंकर ने अच्छी हलचल शुरू कर

दीं। उनकी काम करने की और संगठन करने की शक्ति का उस समय मुझे अच्छा अनुभव हुआ।

मुझे यह असम्भव प्रतीत हुआ कि उस समय कोई भी मौजूदा संस्था सत्याग्रह जैसे शस्त्र को उठा ले, इसलिए सत्याग्रह-सभा की स्थापना की गई। उसमें मुख्यतः बंबई से नाम मिले और उसका केन्द्र भी बंबई में ही रक्खा गया। प्रतिज्ञा-पत्र में दस्तखत होने लगे और जैसा कि खेड़ा की लड़ाई में हुआ था इसमें भी पत्रिकायें निकलीं और जगह-जगह सभायें हुईं।

इस सभा का अध्यक्ष मैं बना था। मैंने देखा कि शिक्षित-वर्ग और मेरे बीच अधिक मेल न हो सकेगा। सभा में गुजराती भाषा का ही उपयोग करने का मेरा आग्रह और मेरी दूसरी कार्य-पद्धति को देखकर वे विस्मित हुए। मगर मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि बहुतेरों ने मेरी कार्य पद्धति को निभा लेने की उदारता दिखाई। परन्तु आरंभ ही में मैंने यह देख लिया कि यह सभा दीर्घकाल तक नहीं निभेगी। फिर सत्य और अहिंसा पर जो मैं जोर देता था वह भी कुछ लोगों को अप्रिय हो पड़ा था। फिर भी शुरुआत में तो यह काम बड़े जोरों से चल निकला।

एक अद्‌भुत दृश्य

रौलेट-कमेटी की रिपोर्ट के विरुद्ध एक ओर आन्दोलन बढ़ता चला और दूसरी ओर सरकार उसकी सिफारिशों को अमल मे लाने के लिए कमर कसती गई। रौलेट-बिल प्रकाशित हुआ। मैं धारा-सभा की बैठक में एक ही बार गया हूँ। रौलेट-बिल की चर्चा सुनने गया था। शास्त्रीजी ने अपना बहुत ही जोरदार भाषण किया और सरकार को चेतावनी दी। जब शास्त्रीजी का वाक्य-प्रवाह चल रहा था, उस समय वाइसराय शास्त्रीजी की ओर ताक रहे थे। मुझे तो ऐसा लगा कि शास्त्रीजी के भाषण का असर उनके मन पर पड़ा होगा। शास्त्रीजी मे जोश उमड़ा पड़ता था।

किन्तु सोये हुए को जगाया जा सकता है। जागता हुआ सोने का ढोंग करे तो उसके कान में ढोल बजाने से भी क्या होगा? धारा-सभा में बिलों की चर्चा करने का प्रहसन करना ही चाहिए। सरकार ने वह प्रहसन खेला। किन्तु उसे जो काम करना था उसका निश्चय तो हो ही चुका था, इसलिए शास्त्रीजी की चेतावनी बेकार साबित हुई।

मेरी तूती की आवाज तो सुने ही कौन? मैंने वाइसराय से मिलकर खूब विनय की, खानगी पत्र लिखे, खुली चिट्ठियाँ लिखीं। उनमें यह स्पष्ट बतलाया कि सत्याग्रह के सिवाय, मेरे पास दूसरा रास्ता नहीं है। किन्तु सब बेकार गया।

अभी बिल गजट में प्रकाशित नहीं हुआ था। मेरा शरीर निर्बल था, किन्तु मैंने लम्बी मुसाफिरी का जोखिम उठाया। मुझमें ऊँची आवाज से बोलने की शक्ति अभी नहीं आई थी। खड़े हो कर बोलने की शक्ति जो गई सो अबतक नहीं आई है। खड़े हो कर बोलते ही थोड़ी देर में सारा शरीर काँपने लगता और छाती में और पेट में दर्द हो आता था। किन्तु मुझे ऐसा लगा कि मद्रास से आये हुए निमंत्रण को स्वीकार करना ही चाहिए। दक्षिण प्रान्त उस समय मुझे घर के ही समान लगते थे। दक्षिण आफ्रिका के संबंध के कारण मैं मानता आया हूँ कि तामिल, तेलुगू आदि दक्षिण प्रान्त के लोगों पर मेरा कुछ हक है,

और अबतक ऐसा नहीं लगा है कि मैंने इस मान्यता में जरा भी भूल की है। आमंत्रण स्वर्गीय श्री कस्तूरीरंग ऐयंगर की ओर से आया था। मद्रास जाते ही मुझे जान पड़ा कि इस आमंत्रण के पीछे श्री राजगोपालाचार्य थे। श्री राजगोपालाचार्य के साथ मेरा यह पहला परिचय गिना जा सकता है। इस बार इतना परिचय हुआ कि मैं उन्हें देखते ही पहचान सकूँ।

सार्वजनिक काम में ज्यादा भाग लेने के इरादे से और श्री कस्तूरीरंग ऐयंगर आदि मित्रों की माँग से वह सेलम छोड़ कर मद्रास में वकालत करने वाले थे। मुझे उन्हींके यहाँ ठहराने की व्यवस्था की गई थी। मुझे दो-एक दिन बाद मालूम हुआ कि मैं उन्हीं के घर उतरा हूँ। वह बँगला श्री कस्तूरीरंग ऐयंगर का होने के कारण मैंने यही मान लिया था कि मैं उन्हींका अतिथि हूँ। महादेव देसाई ने मेरी भूल सुधारी। राजगोपालाचार्य दूर ही दूर रहते थे। किन्तु महादेव ने उनसे भली-भांति परिचय कर लिया था। महादेव ने मुझे चेताया, 'आपको श्री राजगोपाला-चार्य से परिचय कर लेना चाहिए।'

मैंने परिचय किया। उनके साथ रोज ही लड़ाई की व्यवस्था करने की सलाह किया करता था। सभाओं के सिवाय मुझे और कुछ सूझता ही नहीं था। रौलेट-बिल अगर कानून बन जाय तो उसका सविनय भंग कैसे हो? उसका सविनय भंग करने का

अवसर तो तभी मिल सकता था, जब सरकार देती। दूसरे किन कानूनों का सविनय भंग हो सकता है? उसकी मर्यादा कहाँ निश्चित हो? ऐसी ही चर्चायें होती थीं।

श्री कस्तूरीरंग ऐयंगर ने नेताओं की एक छोटी-सी सभा भी की। उसमें भी खूब चर्चा हुई। उसमें श्री विजयराघवाचार्य खूब हाथ बँटाते थे। उन्होंने यह सूचना की कि बारीक से बारीक सूचनायें लिख कर मुझे सत्याग्रह का शास्त्र प्रकाशित करना चाहिए। मैंने कहा कि यह काम मेरी शक्ति के बाहर है।

यों सलाह-मशवरा हो रहा था। इसी बीच खबर आई कि बिल कानून के रूप में गजट में प्रकाशित हुआ है। जिस दिन यह खबर मिली, उस रात को मैं विचार करता हुआ सो गया। भोर में बहुत सवेरे उठ खड़ा हुआ। अर्धनिद्रा होगी और मुझे स्वप्न मे विचार सूझा। सवेरे ही मैंने श्री राजगोपालाचार्य को बुलाया और बात की—

'मुझे रात को स्वप्न में विचार आया कि इस कानून के जवाब में हमें सारे देश को हड़ताल करने को कहना चाहिए। सत्याग्रह आत्म-शुद्धि की लड़ाई है, यह धार्मिक लड़ाई है। धर्म-कार्य शुद्धि से शुरू करना ठीक लगता है। एक दिन सभी कोई उपवास करें और काम-धंधा बन्द रक्खें। मुसलमान भाई रोजा के अलावा और उपवास नहीं रखते, इसलिए चौबीस घंटे का

उपवास रखने की सलाह देनी चाहिए। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि इसमें सभी प्रान्त शामिल होंगे या नहीं। बंबई, मद्रास, बिहार और सिंध की आशा तो मुझे है ही। इतनी जगहों में अगर ठीक हड़ताल हो तो हमें संतोष मानना चाहिए।"

यह सूचना श्री राजगोपालाचार्य को पसंद आई। पीछे तुरंत दूसरे मित्रों से कहा। सबने इसे खुशी से स्वीकार कर लिया। मैंने एक छोटासा नोटिस तैयार कर प्रकाशित किया। पहले सन १९१९ के मार्च की ३० तारीख रक्खी गई थी, किन्तु पीछे से ६ अप्रैल की गई। लोगों को बहुत थोड़े दिनों की खबर दी गई थी। कार्य तुरंत करने की आवश्यकता को मानने से तैयारी के लिए लंबी मुद्दत देने का समय ही नहीं था।

पर कौन जाने कैसे सारा संगठन हो गया। सारे हिन्दुस्तान में—शहरों में और गाँवों मे—हड़ताल हुई। यह दृश्य भव्य था।

वह सप्ताह !

१

दक्षिण में थोड़ा भ्रमण करते हुए बहुत करके मैं चौथी अप्रैल को बम्बई पहुँचा। श्री शंकरलाल बैंकर का ऐसा तार था कि छठी तारीख का कार्यक्रम पूरा करने के लिए मुझे बम्बई में हाजिर रहना चाहिए।

किन्तु उससे पहले दिल्ली में तो ३० वीं तारीख को ही हड़ताल मनाई जा चुकी थी। उन दिनों दिल्ली में स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजी तथा मरहूम हकीम अजमलखां साहब की हुकूमत चलती थी। छठी तारीख तक हड़ताल की मुद्दत बढ़ा दी जाने की खबर दिल्ली में देर से पहुँची थी। दिल्ली में उस दिन जैसी हड़ताल हुई,

वैसी पहले कभी न हुई थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक-दिल हुए से जान पड़े। श्रद्धानंदजी को जुमा-मस्जिद में निमंत्रण दिया गया था और वहाँ उन्हे भाषण करने दिया गया था। ये सब बातें सरकारी अफसर सहन नहीं कर सकते थे। जलूस स्टेशन की ओर चला जा रहा था। उसे पुलिस ने रोका। पुलिस ने गोली चलाई। कितने ही आदमी जख्मी हुए, और कई खून हुए। दिल्ली में दमन-नीति शुरू हुई। श्रद्धानन्दजी ने मुझे दिल्ली में बुलाया। मैंने तार किया कि बंबई में छठी तारीख बिता कर मैं तुरंत दिल्ली को रवाना होऊँगा।

जैसा कि दिल्ली में हुआ, वैसा ही लाहौर और अमृतसर में भी हुआ था। अमृतसर से डा० सत्यपाल और किचलू के तार मुझे तुरंत ही बुला रहे थे। उस समय मैं इन दो भाइयों को जरा भी नहीं पहचानता था। दिल्ली से होकर अमृतसर जाने का निश्चय मैंने उन्हें बतलाया था।

छठी को बंबई में सवेरे के वक्त हजारों आदमी चौपाटी में स्नान करने गये और वहाँ से ठाकुरद्वार जाने के लिए जलूस निकला। उसमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। जलूस में मुसलमान भी अच्छी तादाद में शामिल हुए थे। इस जलूस में से हमें मुसलमान भाई एक मस्जिद में ले गये। वहाँ श्रीमती सरोजिनीदेवी से तथा मुझसे भाषण कराये। यहाँ श्री विट्ठलदास जेराजाणी ने स्वदेशी

की तथा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की प्रतिज्ञा लिवाने की सूचना की। मैंने ऐसी उतावली से प्रतिज्ञा लिवाने से इन्कार किया। जितना हो रहा था, उतने में ही संतोष मानने की सलाह दी। प्रतिज्ञा लेने के बाद नहीं टूट सकती। हमें स्वदेशी का अर्थ समझना चाहिए। हिन्दू-मुसलमान-ऐक्य की जिम्मेवारी वगैरा पर भी कहा और सूचना की कि जिन्हें प्रतिज्ञा लेने का विचार हो, वे कल सवेरे भले ही चौपाटी के मैदान में हाजिर हों।

बंबई की हड़ताल संपूर्ण थी।

यहाँ कानून के सविनय भंग की तैयारी कर डाली थी। भंग हो सकने लायक दो-तीन वस्तुयें थीं। ये कानून ऐसे थे, जो रद होने लायक थे और इनको कोई सहज ही भंग कर सकते थे। इनमें से एक का ही उपयोग करने का निश्चय हुआ था। नमक पर लगनेवाला कर बहुत ही अखरता था। उस कर को उठवाने के लिए बहुत आदमी प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए एक सूचना मैंने यह की थी कि सभी कोई अपने घर में बिना परवाने के नमक बनावें। दूसरा कानून सरकार की जब्त की हुई पुस्तकें बेचने के सम्बंध में था। ऐसी दो पुस्तकें मेरी ही थीं। वे थीं 'हिन्द-स्वराज्य' और 'सर्वोदय'। इन पुस्तकों को छपाना और बेचना सब से सहज सविनय भंग जान पड़ा। इसलिए इन्हें छपाना और सांझ का उपवास छूटने पर और चौपाटी की जंगी

सभा विसर्जन होने के बाद इन्हें बेचने का प्रबंध हुआ।

साँझ को बहुत-से स्वयंसेवक ये पुस्तकें बेचने को निकल पड़े। एक मोटर में मैं निकला और एक में श्रीमती सरोजिनी-नायडू निकली थीं। जितनी प्रतियाँ छपाई थीं उतनी बिक गईं। इनकी जो कीमत वसूल हो, वह लड़ाई के खर्च में ही डाली जाने-वाली थी। प्रत्येक प्रति की कीमत चार आने रक्खी गई थी। किन्तु मेरे हाथ में या सरोजिनीदेवी के हाथ में शायद ही किसीने चार आने रक्खे हों। अपनी जेब में जो कुछ निकल जाय, सभी देकर पुस्तक लेने वाले बहुत आदमी निकल पड़े। कोई दस रुपये का तो कोई पाँच रुपये का नोट भी देते थे। मुझे याद है कि एक प्रति के लिए तो ५०) रुपये का भी एक नोट मिला था। लोगों को समझाया गया था कि लेने वालों को भी जेल का जोखिम है, किन्तु घड़ी भर के लिए लोगों ने जेल का भय छोड़ दिया था।

सातवीं तारीख को मालूम हुआ कि जो किताबें बेचने की मनाही सरकार ने की थी, सरकार की दृष्टि से वे बिकी हुई नहीं मानी जा सकतीं। जो बिकीं, वे तो उसकी दूसरी आवृत्ति गिनी जायँगी। जब्त की गई किताबों में से नहीं गिनी जायँगी। इस-लिए यह नई आवृत्ति छापने, बेचने और खरीदने में कोई गुनाह नहीं माना जायगा। लोग यह खबर सुन कर निराश हुए।

इस दिन सवेरे चौपाटी पर लोगों को स्वदेशी-व्रत तथा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के व्रत के लिए इकट्ठा होना था। विट्ठलदास जेराजाणी को यह पहला अनुभव हुआ कि उजला रंग होने से ही सब कुछ दूध नहीं हो जाता। लोग बहुत ही कम इकट्ठे हुए थे। इनमें दो-चार बहनों का नाम मुझे याद आता है। पुरुष भी थोड़े ही थे। मैंने व्रत घड़ रक्खे थे। उनका अर्थ उपस्थित लोगों को खूब समझा कर उन्हें लेने दिया। थोड़ी हाजिरी से मुझे आश्चर्य न हुआ, दुःख भी न हुआ। किन्तु धाँधली के काम और धीमे रचनात्मक काम के बीच भेद और पहले का पक्षपात तथा दूसरे की अरुचि का अनुभव मैं तबसे बराबर करता आया हूँ।

किन्तु इस विषय को अलग ही प्रकरण देना पड़ेगा।

सातवीं को रात को मैं दिल्ली, अमृतसर जाने को निकला। आठवीं को मथुरा पहुँचते ही कुछ भनक मिली कि शायद मुझे पकड़ेंगे। मथुरा के बाद एक स्टेशन पर गाड़ी खड़ी थी। वहीं पर मुझे आचार्य गिडवाणी मिले। उन्होंने मुझे यह विश्वस्त खबर दी कि 'आपको जरूर पकड़ेंगे और मेरी सेवा की जरूरत हो तो मैं हाजिर हूँ।' मैंने उपकार माना और कहा कि जरूरत पड़ने पर सेवा लेनी नहीं भूलूँगा।

पलवल स्टेशन आने के पहले ही पुलिस-अफसर ने मेरे

हाथ में हुक्म रक्खा। "तुम्हारे पंजाब में प्रवेश करने से अशांति बढ़ने का भय है, इसलिए तुम्हें हुक्म दिया जाता है कि पंजाब की सीमा में दाखिल मत होओ।"—इस प्रकार का हुक्म था। पुलिस ने हुक्म देकर मुझे उतर जाने को कहा। मैंने उतरने से इन्कार किया और कहा, "मैं अशान्ति बढ़ाने नहीं किन्तु आमंत्रण मिलने से अशान्ति घटाने के लिए जाना चाहता हूँ। इसलिए मुझे खेद है कि मैं इस हुक्म को नहीं मान सकता।"

पलवल आया। महादेव देसाई मेरे साथ थे। उन्हें दिल्ली जाकर श्रद्धानन्दजी को खबर देने और लोगों को शान्त रहने को कहने को कहा। हुक्म का अनादर करने से जो सजा हो, उसे सहने का मैंने निश्चय किया है तथा सजा होने पर भी शान्त रहने में ही हमारी जीत है, यह समझाने को भी कहा।

पलवल स्टेशन पर मुझे उतार कर पुलिस के हवाले किया गया। दिल्ली से आने वाली किसी ट्रेन के तीसरे दर्जे के डिब्बे मे मुझे बैठाया। साथ मे पुलिस की पार्टी बैठी। मथुरा पहुँचने पर मुझे पुलिस-बैरक मे ले गये। यह कोई अफसर नहीं कह सका कि मेरा क्या होगा और मुझे कहाँ लेजाना है। सवेरे ४ बजे मुझे उठाया और एक मालगाड़ी मे ले गये। दोपहर को सवाई माधोपुर मे उतार डाला। यहाँ बम्बई की मेल-ट्रेन में लाहौर के इन्सपेक्टर बोरिंग आये। उन्होंने मेरा कब्जा लिया।

अब मुझे पहले दर्जे मे चढ़ाया गया। साथ में वह बैठे। अबतक मैं सामान्य कैदी था। अबसे 'जेन्टिलमैन' कैदी गिना जाने लगा। साहब ने सर माइकेल ओड्वायर के बखान शुरू किये। उन्होंने मुझसे ऐसी बातें कहीं कि 'हमें तो आपके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं है, किन्तु आपके पंजाब मे जाने से अशान्ति का पूरा भय है,' और इसलिए मुझसे अपने आप ही लौट जाने का और पंजाब की सरहद पार न करने का अनुरोध किया। मैंने उन्हें कह दिया कि मुझसे इस हुक्म का पालन नहीं हो सकेगा और मैं स्वेच्छा से लौट जाने को तैयार नहीं हूँ। इसलिए साहब ने लाचारी से कानून का अमल करने की बात की। मैंने पूछा, "पर यह भी कुछ कहोगे कि आखिर मेरा करना क्या चाहते हो ?" उसने जवाब दिया, "मुझे कुछ मालूम नहीं है। मुझे दूसरा हुक्म मिलना चाहिए। अभी तो मैं आपको बम्बई ले जाता हूँ।"

सूरत आया। वहाँ पर किसी दूसरे अफसर ने मेरा कब्जा लिया। रास्ते मे मुझे कहा, "आप स्वतंत्र हैं, किन्तु आपके लिए मैं बम्बई मे मरीन-लाइन्स स्टेशन पर गाड़ी खड़ी कराऊँगा। कोलाबा पर ज्यादा भीड़ होने की संभावना है।" मैंने उनके अनुकूल चलने की अपनी खुशी बतलाई। वह खुश हुआ और मेरा उपकार माना। मरीन-लाइन्स मे उतरा। वहाँ किसी परि-

चित की घोड़ागाड़ी देखी। वह मुझे रेवाशंकर जौहरी के घर पर छोड़ गई। रेवाशंकर भाई ने मुझे खबर दी, "आपके पकड़े जाने की खबर सुन कर लोग उत्तेजित हो गये हैं। पायधुनी के पास हुल्लड़ का भय है। वहाँ पुलिस और मजिस्ट्रेट पहुँच गये हैं।"

मेरे घर पर पहुँचते ही उमर सुबानी और अनसूयाबहन मोटर में आईं और मुझे पायधुनी ले जाने की बात कही, "लोग अधीर हो गये हैं और उत्तेजित हो रहे हैं। हममें से किसी के किये वे शान्त नहीं रह सकते। आपको ही देखने पर शान्त होंगे।"

मैं मोटर में बैठ गया। पायधुनी पहुँचते ही रास्ते में बहुत बड़ी भीड़ दिखी। मुझे देख कर लोग हर्षोन्मत्त हो गये। अब जलूस बना। 'वन्देमातरम्' 'अल्लाहो अकबर' की आवाज से आसमान फटने लगा। पायधुनी पर घुड़सवारों को देखा। ऊपर से ईंटों की वर्षा होती थी। मैं लोगों को शान्त होने के लिए हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता था। ऐसा न जान पड़ा कि हम भी ईंटों की इस वर्षा से बच सकेंगे।

अब्दुल-रहमान गली में से क्रॉफर्ड मार्केट की ओर जाते हुए जलूस को रोकने के लिए घुड़सवारों की टुकड़ी सामने आ खड़ी हुई। जलूस को फोर्ट की ओर जाने से रोकने के लिए वे महा-प्रयत्न कर रहे थे। लोग समाते न थे। लोगों ने पुलिस की लाइन को

चीर कर आगे बढ़ना शुरू किया। हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड़े। इसपर से घुड़-सवारों की टुकड़ी से अफसर ने भीड़ को तितर-बितर करने का हुक्म दिया और इस टुकड़ी ने भाले तान-कर घोड़ों को एकदम छोड़ डाला। मुझे भय हुआ कि इनमें से कोई भाला हममें से भी किसी का काम तमाम कर दे तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु इस भय में कोई आधार नहीं था। बगल से होकर सभी भाले रेलगाड़ी की चाल से बढ़े चले जाते थे। लोगों के झुण्ड टूट गये। दौड़ादौड़ मची। कोई कचराये, कोई घायल हुए। घुड़सवारों के निकलने के लिए रास्ता न था। लोगों के आस-पास हटने की जगह न थी। वे अगर पीछे भी फिरें तो उधर भी हजारों की जबरदस्त भीड़ थी। सारा दृश्य भयंकर लगा। घुड़-सवार और लोग दोनों ही उन्मत्त-जैसे लगे। घुड़-सवार न कुछ देखते और न कुछ देख ही सकते थे। वे तो आँखें मूँद कर घोड़ों को सरपट दौड़ा रहे थे। जितने क्षण इस हजारों के झुण्ड को चीरने में लगे, उतने क्षण तक तो मैंने देखा कि वे कुछ देख ही नहीं सकते थे।

लोगों को यों बिखेरा और रोका। हमारी मोटर को आगे जाने दिया। मैंने कमिश्नर के दफ्तर के आगे मोटर रुकवाई और मैं उनके पास पुलिस के व्यवहार के लिए फरयाद करने उतरा।

वह सप्ताह !

२

मैं कमिश्नर ग्रिफिथ साहब के दफ़र में गया। उनकी सीढ़ी के पास जाते ही देखा कि हथियार-बन्द सैनिक तैयार बैठे थे, मानों कौन जाने लड़ाई के लिए ही न तैयार हो रहे हों! बरामदे मे भी धांधली मच रही थी। मैं खबर भेज कर दफ़र में घुसा तो कमिश्नर के पास मि० बोरिंग को बैठे हुए देखा।

कमिश्नर से मैंने जो कुछ देखा था उसका वर्णन किया। उसने संक्षेप में जवाब दिया—"जलूस को हम फोर्ट की ओर जाने देने वाले नही थे। वहाँ जलूस जाय तो तूफान हुए बिना

नहीं रह सकता। मैंने देखा कि लोग केवल कहने से फिरने वाले नहीं थे। इसलिए हमला करने के सिवा और रास्ता नहीं था।"

मैं बोला—"मगर उसका परिणाम तो आप जानते थे? लोग घोड़ों के नीचे जरूर ही कुचलते। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि घुड़सवारों की टुकड़ी को भेजने की ही जरूरत न थी।"

साहब ने जवाब दिया—"इसका पता आपको नहीं चल सकता। आपसे कहीं अधिक हम पुलिसवालों को इसका पता रहता है कि लोगों के ऊपर आपके शिक्षण का कैसा असर पड़ा है। हम अगर पहले से ही सख्त उपाय न लेवें तो अधिक नुकसान हो। मैं आपको कहता हूँ कि लोग तो आपके भी कब्जे में रहनेवाले नहीं हैं। कानून के भंग की बात वे झट समझेंगे, मगर शान्ति की बात उनकी शक्ति के बाहर है। आपका हेतु अच्छा है, मगर लोग आपका हेतु नहीं समझते, वे तो अपने ही स्वभाव के अनुसार काम करेंगे।"

मैं बोला, "यही तो आपके और मेरे बीच मतभेद है। लोग स्वभाव से ही लड़ाके नहीं हैं, किन्तु शान्तिप्रिय हैं।"

हम दलील में उतरे।

अन्त में साहब बोले, "खैर अगर आपको यह विश्वास हो जाय कि लोगों ने आपको नहीं समझा, तो आप क्या करेंगे?"

वह सप्ताह !"

मैंने जवाब दिया, "अगर मुझे यह विश्वास हो जाय तो यह लड़ाई मैं मुल्तवी रक्खूँगा।"

"मुल्तवी रखने के क्या मानी ? आपने तो मि० बोरिंग से कहा है कि मैं छूटते ही तुरन्त पंजाब लौटना चाहता हूँ।"

"हाँ, मेरा इरादा तो दूसरी ही ट्रेन से लौटने का था, किन्तु, यह तो आज नहीं हो सकता।"

"आप धीरज रक्खेंगे तो आपको अधिक बातें मालूम होंगी। क्या आपको कुछ पता है कि अभी अहमदाबाद में क्या चल रहा है ? अमृतसर में क्या हुआ है ? लोग तो सभी जगह पगले-से हो गये हैं। मुझे भी पूरी खबर नहीं है। कितनी जगह तार भी टूटे हैं। मैं तो आपको कहता हूँ कि इस सब तूफान की जिम्मेवारी आपके सिर है।

मैं बोला, "मेरी जिम्मेवारी जहाँ होगी, वहाँ उसे मैं अपने सिर ओढ़े बिना नहीं रहूँगा। अहमदाबाद में लोग अगर कुछ भी करें तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसर के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। वहाँ तो मैं कभी नहीं गया हूँ मुझे कोई जानता भी नहीं है। किन्तु मैं इतना जानता हूँ कि पंजाब की सरकार ने मुझे वहाँ जाने से रोका न होता तो मैं शान्ति बनाये रखने में बहुत हिस्सा ले सकता था। मुझे रोक कर सरकार ने लोगों को उत्तेजित कर दिया है।"

इस तरह हमारी बातें चलीं। हमारे मत में मेल मिलने की सम्भावना नहीं थी।

चौपाटी पर सभा करने और लोगों को शान्ति-पालन करने के लिए समझाने का अपना इरादा जाहिर करके मैंने छुट्टी ली।

चौपाटी पर सभा हुई। मैंने लोगों को शान्ति के बारे में और सत्याग्रह की मर्यादा के बारे में समझाया और कहा—"सत्याग्रह सच्चे का खेल है। लोग अगर शान्ति का पालन न करें तो मुझ से सत्याग्रह की लड़ाई लड़नी पार नहीं लगेगी।"

अहमदाबाद से श्री अनसूयाबहन को भी खबर मिल चुकी थी कि वहाँ हुल्लड़ हुआ है। किसी ने अफवाह उड़ा दी थी कि वह भी पकड़ी गई हैं। इससे मजदूर पगले-से बन गये। उन्होंने हड़ताल की और तूफान भी किया। एक सिपाही का खून भी हुआ।

मैं अहमदाबाद गया। नड़ियाद के पास रेल की पटरी उखाड़ डालने का भी प्रयत्न हुआ था। वीरमगाम में खून हुआ था। जब मैं अहमदाबाद पहुँचा, उस समय तो मार्शल-ला चलता था। लोग भयभीत हो रहे थे। लोगों ने जैसा किया वैसा भरा और उसका ब्याज भी पाया।

कमिश्नर मि० प्रैट के पास मुझे ले जाने के लिए स्टेशन पर आदमी खड़ा था। मैं उनके पास गया। वह खूब गुस्से में थे।

मैंने उन्हें शान्ति से उत्तर दिया। जो खून हुआ था, उसके लिए अपना खेद प्रकट किया। मार्शल-ला की अनावश्यकता भी बतलाई और जिसमें शान्ति फिर से स्थापित हो वैसे उपाय जो करने उचित हों, करने की अपनी तैयारी बतलाई। मैंने सार्व-जनिक सभा करने के लिए इजाजत माँगी। वह सभा आश्रम की जमीन पर करने की अपनी इच्छा बतलाई। यह बात उन्हें पसंद न आई। मुझे याद है कि इसके अनुसार, १३ वीं मई को रविवार के दिन सभा हुई थी। मार्शल-लॉ भी उसी दिन या उसके दूसरे दिन रद् हुआ था। इस सभा में मैंने लोगों को उनके दोष का दर्शन कराने का प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित्त के रूप मे तीन दिनो का उपवास किया और लोगो को एक दिन का उपवास करने की सलाह दी। जो खून वगैरा मे शामिल हुए हों, उन्हें अपना गुनाह कबूल कर लेने की सलाह दी।

अपना धर्म मैंने स्पष्ट देखा। जिन मजदूरों वगैरा के बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की थी, और जिनके बारे मे मैं भले की ही आशा रखता था, उनका हुल्लड़ में शामिल होना मुझे असह्य लगा और मैंने अपने आपको उनके दोष मे हिस्सेदार गिना।

जिस तरह लोगो को अपना गुनाह कबूल कर लेने की सलाह दी, उसी प्रकार सरकार को भी गुनाह माफ करने के लिए

कहा। मेरी बात उनमें से किसीने न सुनी। न लोगों ने गुनाह कबूल किये, और न सरकार ने ही माफ किया।

स्व० सर रमणभाई वगैरा अहमदाबाद के नागरिक मेरे पास आये और सत्याग्रह मुल्तवी रखने की मुझसे प्रार्थना की। मुझसे तो प्रार्थना करने की जरूरत भी न रही थी। जबतक लोग शान्ति का पाठ न सीख लें, तबतक सत्याग्रह को मुल्तवी रखने का निश्चय मैंने कर ही लिया था। इससे वे प्रसन्न हुए।

कितनेक मित्र नाराज भी हुए। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अगर मैं सर्वत्र शान्ति की आशा रक्खूँ और यही सत्याग्रह की शर्त हो, तो फिर बड़े पैमाने पर सत्याग्रह कभी चल ही न सकेगा। मैंने इससे अपना मतभेद प्रकट किया। जिन लोगों में काम किया हो, जिनके द्वारा सत्याग्रह करने की आशा रक्खी जाती हो, वे अगर शान्ति का पालन न करें तो सत्याग्रह जरूर ही नहीं चल सकता। मेरी दलील यह थी कि इतनी मर्यादित शान्ति का पालन करने की शक्ति सत्याग्रही नेताओं को पैदा करनी चाहिए। इन विचारों को मैं आज भी नहीं बदल सका हूँ।

'हिमालय-जैसी भूल'

अहमदाबाद की सभा के बाद मैं नड़ियाद गया। 'हिमालय-जैसी भूल' के नाम का जो शब्द-प्रयोग प्रचलित हुआ है, उसका प्रयोग मैंने पहले-पहल नड़ियाद में किया था। अहमदाबाद मे ही मुझे अपनी भूल जान पड़ने लगी थी। किन्तु नड़ियाद में वहाँ की स्थिति का विचार करते हुए, खेड़ा जिले के बहुत-से आश्रमियो के गिरफ्तार होने की बात सुनते हुए, जिस सभा में मैं इन घटनाओं पर भाषण कर रहा था, वहींपर मुझे एकाएक ख़याल हुआ कि खेड़ा जिले के तथा ऐसे ही दूसरे लोगों को सविनय भंग करने के लिए निमंत्रण देने में मैंने उतावली

करने की भूल की थी, और वह भूल मुझे हिमालय-जैसी बड़ी जान पड़ी।

मैंने इसे कबूल किया। इसलिए मेरी खूब ही हँसी उड़ी थी। तो भी मुझे यह कबूल करने के लिए पश्चात्ताप नहीं हुआ है। मैंने यह हमेशा माना है कि जब हम दूसरे के गज-बराबर दोष को रज-समान देखें और अपने राई-जैसे जान पड़ने वाले दोष को पर्वत-जैसा देखना सीखें, तभी हमें अपने और दूसरे के दोषों का ठीक-ठीक प्रमाण मिल सकेगा। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बनने के इच्छुक को तो इस सामान्य नियम का पालन बहुत ही सूक्ष्मता से करना चाहिए।

अब यह देखेंगे कि वह हिमालय-जैसी दिखलाई पड़नेवाली भूल थी क्या? कानून का सविनय भंग उन्हीं लोगों से हो सकता है, जिन्होंने कानून को विनयपूर्वक स्वेच्छा से मान लिया हो—उसका पालन किया हो। बहुतांश में हम कानून के भय से होनेवाली सजा के डर से उसका पालन करते हैं। इसके अलावा यह बात विशेष कर उन कानूनों पर लागू पड़ती है, जिनमें कि नीति-अनीति का सवाल नहीं होता। कानून हो, या न हो, सज्जन माने जानेवाले लोग एकाएक चोरी नहीं करेंगे, मगर तो भी रात में बाइसिकल की बत्ती जलाने के नियम में से निकल जाने में ऐसे सज्जन को भी शर्म नहीं होगा। और ऐसे नियम पालने

की कोई सलाह भी दे, तो भला-मानस भी उसका पालन करने को झट तैयार नहीं होगा। किन्तु जब कि यह कानून बन जाता है, उसका भंग करने से जुर्माने का भय लगता है, तब जुर्माना देने से बचने के लिए ही वह बत्ती जलावेगा। नियम का यह पालन स्वेच्छा से किया गया पालन नहीं गिना जायगा।

किन्तु सत्याग्रही तो समाज के कानूनों का पालन समझ-बूझ कर, स्वेच्छा से, और धर्म समझ कर करेगा। इस प्रकार जिसने समाज के नियमों का जान-बूझ कर पालन किया है, उसीमें समाज के नियमों की नीति-अनीति का भेद करने की शक्ति आती है, और उसे मर्यादित संयोगों में अमुक नियमो का भंग करने का अधिकार प्राप्त होता है। ऐसा अधिकार प्राप्त करने के पहले ही सविनय भंग के लिए न्यौता देने की भूल मुझको हिमालय जैसी लगी और खेड़ा जिले में प्रवेश करते ही मुझे वहाँ की लड़ाई याद हो आई, मुझे जान पड़ा कि मैंने सामने की दीवार को देखे बिना ही, आँख मूँद कर, सरपट दौड़ लगाई है। मुझे ऐसा लगा कि इसके पहले कि लोग सविनय भग करने के लायक बनें, उन्हें उसके गम्भीर रहस्य का ज्ञान होना चाहिए। जिन्होंने रोज ही इच्छा से कानून को तोड़ा हो, जो छिपाकर अनेकों बार कानून का भंग करते हों, वे भला एकाएक कैसे सविनय भंग को पहचान सकें? उसकी मर्यादा का पालन कैसे कर सकें?

यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि इस आदर्श का पालन हजारों-लाखों आदमी नहीं कर सकते। किन्तु बात अगर ऐसी ही हो तो सविनय भंग कराने के पहले लोगों को समझाने वाले, और प्रतिक्षण उन्हें रास्ता बतलाने वाले शुद्ध स्वय-सेवकों का दल पैदा होना चाहिए। और ऐसे दल को सविनय भंग और उसकी मर्यादा की पूरी-पूरी समझ होनी चाहिए।

ऐसे विचारों से भरा हुआ मैं बंबई पहुँचा और सत्याग्रह-सभा के द्वारा मैंने सत्याग्रही स्वयं-सेवकों का दल खड़ा किया। उनके जरिये लोगों को सविनय भंग की तालीम देनी शुरू की और सत्याग्रह का रहस्य बतलाने वाली पत्रिकायें निकालीं।

यह काम चला तो सही, मगर मैंने देखा कि इसमें मैं लोगों की बहुत दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका। काफी स्वयंसेवक न हुए। यह नहीं कहा जा सकता कि जो भर्ती हुए उन सभी ने तालीम भी पूरी ली। भर्ती में नाम लिखानेवाले भी, जैसे-जैसे दिन जाने लगे, वैसे-वैसे दृढ़ होने के बदले खिसकने लगे। मैंने समझा कि सविनय भंग की गाड़ी के जिस चाल से चलने की मैं आशा रखता था, वह उससे कहीं धीमी चलेगी।

'नवजीवन' और 'यंग इंडिया'

चाहे जितना धीमा किन्तु तोभी शान्ति का पालन करने वाला आन्दोलन जब कि एक ओर चल रहा था, दूसरी ओर सरकार की दमन-नीति पूरे जोर में चल रही थी। पंजाब में उसके असर का साक्षात्कार हुआ। वहाँ फौजी कानून यानी जो-हुक्मी शुरू हुई। नेताओं को पकड़ा। खास अदालतें अदालतें न थीं, किन्तु एक सूबे का शासन उठानेवाली वस्तु बन गई। उन्होंने सबूत और प्रमाण के बिना सजायें दीं। लश्करी सिपाहियों ने निर्दोष लोगों को कीड़े के समान पेट के बल रेंगाया। इसके आगे तो मेरे सामने जालियाँवालाबाग

की कोई विसात ही न थी, हालां कि प्रजा का तथा दुनिया का ध्यान उस कत्ल ने ही खींचा था।

पंजाब में चाहे जिस तरह हो, मगर प्रवेश करने का दबाव मुझपर डाला गया। मैंने वाइसराय को पत्र लिखे, तार किये, किन्तु इजाजत न मिली। इजाजत के बिना जाऊँ तो अंदर तो जा ही नहीं सकूँ, हाँ, सिर्फ सविनय भंग करने का ही संतोष मिलता। यह विकट प्रश्न मेरे सामने आ पड़ा कि इस धर्म-संकट में मुझे क्या करना चाहिए? मुझे ऐसा लगा कि अगर मैं मनाही के हुक्म का अनादर करके प्रवेश करूँ तो यह विनयी अनादर नहीं गिना जायगा। जिस शान्ति की प्रतीति की मैं चाहना करता था, वह मुझे अबतक नहीं मिली थी। पंजाब की नादिरशाही ने लोगों की अशान्त वृत्ति को बढ़ाया था। ऐसे समय में मेरा कानून-भंग आग में घी डालने के समान होगा। मुझे ऐसा लगा और मैंने सहसा पंजाब में प्रवेश करने की सूचना नहीं मानी। यह निर्णय मेरे लिए कड़वी घूंट थी। रोज पंजाब से अन्याय की खबर आती और रोज मुझे उसे सुनना, और दाँत पीस कर बैठ रहना पड़ता!

इतने में प्रजा को सोती छोड़ कर मि० हॉर्निमैन को सरकार चुरा ले गई। उन्हें चुपचाप हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दिया। मि० हार्निमैन ने 'बम्बई क्रानिकल' को एक प्रचंड शक्ति बना दिया

था। इस चोरी में जो गंदगी थी उसकी बदबू मुझे अबतक आया करती है। मैं जानता हूँ कि मि० हार्निमैन अंधाधुंधी नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह-कमिटी की सलाह के बिना ही पंजाब-सरकार के हुक्म का जो भंग किया था सो उन्हें पसंद नहीं था। मैंने सविनय भंग को जो मुल्तवी रक्खा, उसमें वह पूरे सहमत हुए थे। सत्याग्रह मुल्तवी रखने का इरादा मेरे प्रकट करने के पहले ही मुल्तवी रखने की सलाहवाला पत्र उन्होंने मेरे पास भिजवाया था और वह पत्र बंबई और अहमदाबाद के बीच अंतर के कारण मेरा इरादा प्रकट करने के बाद मिल सका था। इसलिए उनके देश-निकाले पर मुझे जितना आश्चर्य हुआ, उससे उतना ही दुःख भी हुआ।

ऐसी घटना होने से 'क्रानिकल' के व्यवस्थापकों ने उसे चलाने का बोझा मेरे ऊपर डाला। मि० बरेलवी तो थे ही, इसलिए मुझे बहुत कुछ करने का रहता ही न था; किन्तु तोभी मेरे स्वभावानुसार यह जिम्मेवारी मेरे लिए बहुत थी।

किन्तु मुझे वह जिम्मेवारी बहुत दिन नहीं उठानी पड़ी। सरकार की मिहरबानी से वह बंद हुआ।

जो 'क्रानिकल' के संचालक थे वही 'यंग इंडिया' की व्यवस्था पर भी अंकुश रखते थे—यानी उमर सुबानी और शंकरलाल बैंकर। इन दोनों भाइयों ने 'यंग इण्डिया' की जिम्मे-

वारा लेने की सूचना मुझसे की और 'यंग इण्डिया' तथा 'क्रानि-कल' को घटी थोड़ी कम करने के लिए हफ्ते में एक बार के बदले हफ्ते में दो बार प्रकाशित करना उन्हें और मुझे ठीक लगा। मुझे सत्याग्रह का रहस्य समझाने का उत्साह था। पंजाब के बारे में मैं और कुछ नहीं तो योग्य टीका कर सकता था और यह सरकार को भी पता था कि उसके पीछे सत्याग्रह की शक्ति पड़ी हुई है। इसलिए मैंने इन मित्रों की सूचना स्वीकार कर ली। किन्तु अंग्रेजी के जरिये भला सत्याग्रह की तालीम कैसे दी जा सके? मेरे कार्य का मुख्य क्षेत्र गुजरात में था। भाई इन्दुलाल याज्ञिक उस समय इसी टोली में थे। उनके हाथ में मासिक 'नवजीवन' था। उसका खर्च भी वे ही मित्र पूरा करते थे। यह पत्र भाई इन्दुलाल और इन मित्रों ने मेरे हाथ सौंपा और भाई इन्दुलाल ने उसमें काम करने का भार भी अपने सिर लिया। इस मासिक को साप्ताहिक बनाया।

इस बीच 'क्रानिकल' पुनर्जीवित हुआ। इसलिए 'यंग-इंडिया' फिर साप्ताहिक हुआ और मेरी सूचना से उसे अहमदाबाद ले गये। दो अखबार अलग-अलग शहरों में चलें तो खर्च अधिक हो और मेरी असुविधा और अधिक बढ़े। 'नव-जीवन' तो अहमदाबाद से ही निकलता था। इसका अनुभव तो मुझे 'इण्डियन ओपिनियन' के बारे में ही हुआ था कि ऐसे

अखबारों को स्वतंत्र छापखाना चाहिए ही। फिर उस समय अखबारों के संबन्ध में नियम भी ऐसे थे कि मुझे जो विचार प्रकट करने हों, उन्हें व्यापार की दृष्टि से चलनेवाले छापखानेवाले छापने में संकोच करते। स्वतंत्र छापखाना खोलने का यह भी एक प्रबल कारण था। और हालत यह थी कि यह अहमदाबाद में ही आसानी से हो सकता था। इसलिए 'यंग इण्डिया' को अहमदाबाद मे ले गये।

इन अखबारो के द्वारा मैंने सत्याग्रह की तालीम प्रजा को यथाशक्ति देना शुरू की। दोनो अखबारो की खपत बहुत कम थी सो बढ़ते बढ़ते ४०,००० के आसपास पहुँची थी। 'नवजीवन' की बिक्री एकदम बढ़ी, जब कि 'यंग इण्डिया' की धीरे-धीरे बढ़ी। मेरे जेल जाने के बाद उनकी खपत मे भाटा आया और आज दोनो की बिक्री आठ हजार से नीचे चली गई है।

इन अखबारो मे विज्ञापन न छापने का मेरा आग्रह शुरू से था। मेरी मान्यता है कि इससे कुछ भी हानि नहीं हुई है और अखबारों की विचार स्वतंत्रता को बनाये रखने में इस प्रथा ने बहुत मदद की है।

इन अखबारो के द्वारा मैं अपनी शान्ति प्राप्त कर सका। क्योंकि यद्यपि मैं तुरंत सविनय भङ्ग न कर सका, मगर अपने विचार छूट से प्रकट कर सका। जो मेरा मुँह जोह रहे थे, उन्हें

आश्वासन दे सका और मुझे लगता है कि दोनों पत्रोंने उस कठिन प्रसंग पर प्रजा की ठीक सेवा की और फौजी कानून के जुल्म को हलका करने में हिस्सा लिया था।

पंजाब में

पंजाब में जो-कुछ हुआ, उसके लिए सर माइकेल ओड्-वायर ने मुझे गुनहगार ठहराया था। इधर वहाँ के कई नौजवान फौजी कानून के लिए भी मुझे गुनहगार ठहराने में हिचकते न थे। क्रोध के आवेश में वे यह दलील देते थे कि यदि मैंने सविनय कानून-भंग मुल्तवी न किया होता तो जलियाँवालाबाग में कभी यह कत्ल न हुआ होता और न फौजी कानून ही जारी हो पाता। कुछ लोगों ने तो धमकियाँ भी दी थीं कि यदि अब आपने पंजाब में पैर रक्खा तो आपका खून कर डाला जायगा।

पर मैं तो मान रहा था कि मैंने जो कुछ किया है वह इतना

उचित और ठीक था कि उसमें समझदार आदमियों को गलत-फ़हमी होने की सम्भावना ही न थी। मैं पंजाब जाने के लिए अधीर हो रहा था। इससे पहले मैंने पंजाब नहीं देखा था, पर अपनी आँखों जो-कुछ देख सकूँ, देखने की तीव्र इच्छा थी और मुझे बुलानेवाले सत्यपाल, किचलू, रामभजदत्त चौधरी से मिलने की अभिलाषा हो रही थी। वे थे तो जेल में, पर मुझे पूरा विश्वास था कि उन्हें सरकार अधिक दिनों तक जेल में नहीं रख सकेगी। जब-जब मैं बम्बई जाता, तब-तब कितने ही पंजाबी मिलने आ जाते थे। उन्हें मैं प्रोत्साहन देता और वे प्रसन्न होकर उसे ले जाते। उस समय मेरा आत्म-विश्वास बहुत था।

पर मेरे पंजाब जाने का दिन दूर ही दूर होता जाता था। वाइसराय भी यह कहकर उसे दूर ढकेलते जाते थे कि अभी समय नहीं है।

इसी बीच हण्टर-कमिटी आई। वह फौजी कानून की जाँच करने के लिए नियुक्त हुई थी। दीनबन्धु एण्ड्रूज वहाँ पहुँच गये थे। उनकी चिट्ठियों में वहाँ का हृदय-द्रावक वर्णन होता था। उनके पत्रों से यह ध्वनि निकलती थी कि अखबारों में जो कुछ बातें प्रकाशित हो चुकी हैं उनसे भी अधिक ज़ुल्म फौजी कानून का था। वह भी पंजाब आने का आग्रह कर रहे थे। दूसरी ओर मालवीयजी आदि के तार आ रहे थे कि आपको पंजाब अवश्य

पहुँच जाना चाहिए। तब मैंने फिर वाइसराय को तार दिया। उनका जवाब आया कि फलाँ तारीख को आप जा सकते हैं। अब तारीख ठीक-ठीक याद नहीं पड़ती, पर बहुत करके वह १७ अक्तूबर थी।

लाहौर पहुँचने पर मैंने जो दृश्य देखा, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्टेशन पर मुझे लिवाने के लिए ऐसी भीड़ इकट्ठी हुई थी, मानो किसी बहुत दिन के बिछुड़े प्रिय-जन से मिलने के लिए उसके सगे-सम्बन्धी आये हों। लोग हर्ष से पागल हो रहे थे। पण्डित रामभजदत्त चौधरी के यहाँ मैं ठहराया गया था। श्रीमती सरलादेवी चौधरानी से मेरा पहले का परिचय था। मेरे आतिथ्य का भार उनपर आ पड़ा था। आतिथ्य का भार शब्द का प्रयोग मैं जान-बूझकर कर रहा हूँ। क्योंकि आज की तरह तब भी मैं जहाँ ठहरता, उनका घर एक धर्मशाला ही हो जाता था।

पंजाब में मैंने देखा कि वहाँ के पंजाबी नेताओं के जेल में होने के कारण पण्डित मालवीयजी, पण्डित मोतीलालजी और स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया था। मालवीयजी और श्रद्धानन्दजी के सम्पर्क में तो मैं अच्छी तरह आ चुका था, पर पण्डित मोतीलालजी के निकट-सम्पर्क में तो मैं लाहौर में ही आया। इन तथा दूसरे स्थानिक नेताओं ने, जिन्हें जेल में जाने का गौरव नहीं प्राप्त हुआ था, तुरन्त मुझे अपना बना

लिया। कहीं मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं कोई अजनबी हूँ।

हम सब लोगों ने एक-मत होकर हण्टर-कमिटी के सामने गवाही न देने का निश्चय किया। इसके कारण उसी समय प्रकट कर दिये गये थे। अतएव यहाँ उनका उल्लेख छोड़ देता हूँ। वे कारण सीधे थे और आज भी मेरा यही मत है कि कमिटी का बहिष्कार जो हमने किया वह उचित ही था।

पर यदि हण्टर-कमिटी का बहिष्कार किया जाय तो फिर लोगों की तरफ से अर्थात् राष्ट्रीय-महासभा की ओर से कोई जाँच-कमिटी नियुक्त होनी चाहिए, इस विषय पर हम लोग पहुँचे। पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्व० चित्तरंजनदास, श्री अब्बास तैयबजी श्री जयकर और मैं, इतने सदस्य नियुक्त हुए। हम जाँच के लिए अलग-अलग स्थानों में बँट गये। इस कमिटी की व्यवस्था का बोझ सहज ही मुझपर आपड़ा था और मेरे हिस्से में अधिक से अधिक गाँवो की जाँच का काम आ जाने के कारण मुझे पंजाब को और पंजाब के देहात को देखने का अलभ्य लाभ मिला।

इस जाँच के दिनों में पंजाब की स्त्रियाँ तो मुझे ऐसी मालूम हुई, मानों मैं उन्हें युगों से पहचानता होऊँ। मैं जहाँ जाता वहाँ झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ आ जातीं और अपने कते सूत का ढेर मेरे सामने कर देतीं। इस जाँच के साथ ही मैं अनायास इस बात को भी देख सका कि पंजाब खादी का एक महान् क्षेत्र हो सकता है।

ज्यों-ज्यों मैं लोगों पर हुए जुल्मों की जाँच अधिकाधिक गहराई से करने लगा त्यों-त्यों मेरे अनुमान से परे सरकारी अराजकता, हाकिमों की नादिरशाही और उनकी मनमानी अंधाधुंधा बातें सुन-सुनकर आश्चर्य और दुःख हुआ करता। वह पंजाब कि जहाँ से सरकार को ज्यादा से ज्यादा सैनिक मिलते हैं, वहाँ लोग क्यों इतना बड़ा जुल्म सहन कर सके, इस बात से मुझे बड़ा विस्मय हुआ और आज भी होता है।

इस कमिटी की रिपोर्ट तैयार करने का काम मेरे सुपुर्द किया गया था। जो यह जानना चाहते हैं कि पंजाब में कैसे-कैसे अत्याचार हुए, उन्हें यह रिपोर्ट अवश्य पढ़नी चाहिए। इस रिपोर्ट के बारे में मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि इसमें जान-बूझकर कहीं भी अत्युक्ति से काम नहीं लिया गया है। जितनी बातें लिखी गई हैं, सबके लिए रिपोर्ट में प्रमाण मौजूद हैं। रिपोर्ट में जो प्रमाण पेश किये गये हैं उससे बहुत अधिक प्रमाण कमिटी के पास थे। ऐसी एक भी बात रिपोर्ट मे दर्ज नहीं की है, जिसके बारे मे थोड़ा भी शक था। इस प्रकार बिलकुल सत्य को ही सामने रखकर लिखी गई रिपोर्ट से पाठक देख सकेंगे कि ब्रिटिश राज्य अपनी सत्ता कायम रखने के लिए किस हद तक जासकता है और कैसे अमानुष कार्य कर सकता है। जहाँतक मुझे पता है इस रिपोर्ट की एक भी बात आजतक असत्य नहीं साबित हुई है।

खिलाफत के बदले में गोरक्षा ?

पंजाब के हत्याकाण्ड को फिलहाल हम यहीं छोड़ दें। महासभा की ओर से पंजाब की डायरशाही की जाँच हो ही रही थी कि इतने ही में एक सार्वजनिक निमंत्रण मेरे हाथ में आ पहुँचा। उसमें स्वर्गीय हकीम साहब और भाई आसफअली के नाम थे। यह भी लिखा था कि श्रद्धानंदजी भी सभा में आनेवाले हैं। मुझे तो खयाल पड़ता है कि वह उपसभापति थे। देहली में खिलाफत के संबंध में विचार करने के लिए हिन्दू-मुसलमानों की संयुक्त सभा होनेवाली थी और उसमें उपस्थित रहने के लिए यह निमंत्रण मिला था। मुझे याद आता है कि यह सभा नवंबर में हुई थी।

इस निमंत्रण-पत्र में यह भी लिखा गया था कि इसमें खिलाफत के प्रश्न की चर्चा की जायगी और साथ ही गो-रक्षा के विषय पर भी विचार किया जायगा, एवं यह सुझाया गया था कि गो रक्षा को साधने का यह बड़ा अच्छा अवसर है। मुझे यह वाक्य खटका। इस निमंत्रण-पत्र के उत्तर में मैंने लिखा था कि आने का यत्न करूँगा और साथ ही यह भी सूचित किया था कि खिलाफत और गो-रक्षा को एक साथ मिला कर उन्हें परस्पर बदले का सवाल न बनाना चाहिए—हरएक के महत्व का निर्णय उनके गुण-दोष को देख कर करना चाहिए।

सभा में मैं गया। उपस्थिति अच्छी थी। फिर भी ऐसा दृश्य नहीं था कि हजारों लोग पीछे से धक्का-मुक्की करते हों। इस सभा में श्रद्धानन्दजी उपस्थित थे। उनके साथ इस विषय पर मैंने बातचीत कर ली। उन्हें मेरी दलील पसन्द हुई और उन्होंने कहा कि आप इसे सभा में पेश करें। हकीम साहब के साथ भी मशवरा कर लिया था। मेरा कहना यह था कि दोनों प्रश्नों का विचार उनके गुण-दोष के अनुसार अलग-अलग होना चाहिए। यदि खिलाफत के प्रश्न में तथ्य हो, उसमें सरकार की ओर से अन्याय होता हो, तो हिन्दुओं को मुसलमानों का साथ देना चाहिए, और इसके साथ गो-रक्षा को नहीं मिला सकते। और यदि हिन्दू ऐसी कोई शर्त रक्खें तो वह शोभा नहीं देगी। मुसलमान

खिलाफत मे मदद लेने के लिए, उसके एवज में, गोवध बन्द करें तो इसमें उनकी शोभा नहीं; एक तो पड़ोसी, फिर एक ही भूमि के रहनेवाले होने के कारण हिन्दुओं के मनोभावों का आदर करने के लिए यदि वे स्वतंत्र रूप से गोवध बन्द करें तो यह उनके लिए शोभा की बात होगी। यह उनका कर्तव्य है। पर यह प्रश्न स्वतंत्र है। यदि वास्तव मे यह उनका कर्तव्य है, और इसे वे अपना कर्तव्य समझें, भी तो फिर हिन्दू खिलाफत में मदद करें या न करें, पर मुसलमानों को गोवध बन्द कर देना उचित है। इस तरह दोनों प्रश्नों पर स्वतंत्र रीति से विचार होना चाहिए और इस कारण सभा में तो सिर्फ खिलाफत के विषय पर ही विचार होना उचित है। यह मेरी दलील थी। सभा को वह पसन्द हुई। गोरक्षा के सवाल पर सभा में चर्चा न हुई। फिर भी मुसलमान गोरक्षा की बात करने से बाज न आये, और एक बार तो ऐसा ही बर्ताव हुआ, मानों मुसलमान सच-मुच ही गोवध बन्द कर देंगे।

इस सभा में मौलाना हसरतमोहानी भी थे। उनसे जान-पहचान तो हो ही गई थी। पर वह कैसे लडवैया हैं, इस बात का अनुभव मैंने यहीं किया। मेरे उनके दरम्यान यहीं से मत-भेद शुरू हुआ तो वह अनेक बातों में अन्त तक कायम रहा।

अनेक प्रस्तावों में एक यह भी था कि हिन्दू-मुसलमान सब

स्वदेशी-व्रत का पालन करें और उसके लिए विदेशी कपड़े का बहिष्कार किया जाय। खादी का पुनर्जन्म अभी नहीं हो चुका था। हसरत साहब का यह प्रस्ताव मंजूर नहीं हो सकता था। वह तो चाहते थे कि यदि अंग्रेजी सल्तनत खिलाफत के बारे मे इन्साफ न करे तो उसका मजा उसे चखाया जाय, अतएव उन्होंने तमाम ब्रिटिश माल का यथासंभव बहिष्कार सुझाया। मैंने समस्त ब्रिटिश माल के बहिष्कार की अशक्यता और अनौचित्य के संबन्ध में अपनी दलील पेश की, जो कि अब तो प्रसिद्ध हो चुकी है। अपनी अहिंसा-वृत्ति का भी प्रतिपादन मैंने किया। मैंने देखा कि सभा पर मेरी बातों का गहरा असर हुआ। हसरतमोहानी की दलीलें सुनते हुए लोग इतना हर्ष-नाद करते थे कि मुझे प्रतीत हुआ कि यहाँ मेरी तूती की आवाज कौन सुनेगा। पर यह समझ कर कि मुझे अपने धर्म से न चूकना चाहिए, अपनी बात न छिपा रखनी चाहिए, मैं बोलने के लिए उठा। लोगों ने मेरे भाषण को खूब ध्यान से सुना। सभा-मंच पर तो मेरा पूरा-पूरा समर्थन किया गया और मेरे समर्थन में एक के बाद एक भाषण होने लगे। अग्रणी लोग जान गये कि ब्रिटिश माल के बहिष्कार के प्रस्ताव से मतलब तो कुछ भी न सधेगा, उलटे हँसी होकर रह जायगी। सारी सभा में शायद ही कोई ऐसा आदमी दिखाई पड़ता था, जिसके बदन पर कोई न कोई

ब्रिटिश वस्तु न थी। सभा में उपस्थित रहनेवाले लोग भी जिस बात को करने में असमर्थ थे उसका प्रस्ताव करने से लाभ के बदले हानि ही होगी—इस बात को बहुतेरे लोग समझ गये।

'हमें तो आपके विदेशी वस्त्र के बहिष्कार से सन्तोष हो ही नहीं सकता। किस दिन हम अपने लिए सारा कपड़ा यहाँ बना सकेंगे, और कब विदेशी वस्त्र का बहिष्कार होगा? हम तो कोई ऐसी चीज चाहते हैं, जिससे ब्रिटिश लोगों पर तुरन्त असर हो। आपके बहिष्कार से हमारा झगड़ा नहीं। पर हमें तो कोई तेज और तुरन्त असर करनेवाली चीज बताइए।' इस आशय का भाषण मौलाना ने किया। इस भाषण को मैं सुन रहा था। मेरे मन में विचार उठा कि विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के साथ ही कोई और नवीन बात पेश करनी चाहिए। उस समय मुझे यह तो स्पष्ट मालूम होता था कि विदेशी वस्त्र का बहिष्कार तुरंत नहीं हो सकता। सोलहों आना खादी उत्पन्न करने की शक्ति यदि हम चाहें तो हमारे अन्दर है, यह बात जो मैं आगे चल कर देख पाया सो उस समय न जान पाया था। अकेली मिलें वक्त पर दगा देंगी, यह मैं तब भी जानता था। जिस समय मौलाना-साहब ने अपना भाषण पूरा किया, उस समय मैं जवाब देने के लिए तैयार हो रहा था।

मुझे उस नई चीज के लिए उर्दू हिन्दी शब्द न सूझा।

मुसलमानों की ऐसी खास सभा में युक्ति-प्रधान भाषण करने का यह मुझे पहला ही अनुभव था। कलकत्ते में मुस्लिम-लीग में मैं कुछ बोला था; पर वह तो कुछ ही मिनट के लिए और सो भी वहाँ हृदयस्पर्शी भाषण करना था। यहाँ तो मुझे ऐसे समाज को समझाना था, जो मुझसे विपरीत मत रखता था। पर मैंने एक शर्त रक्खी थी, देहली के मुसलमानो के सामने मैं शुद्ध उर्दू में लच्छेदार भाषण न करूँगा—मैं तो अपना मत टूटी-फूटी हिन्दी में समझाने की चेष्टा करूँगा। यह काम मैं अच्छी तरह कर सका। हिन्दी-उर्दू ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है, इसका यह सभा प्रत्यक्ष प्रमाण थी। यदि मैंने अंग्रेजी में वक्तृता दी होती तो मेरी गाड़ी आगे नहीं चल सकती थी। और मौलानासाहब ने जो पुकार की उसका समय न आया होता और यदि आता तो मुझे उसका उत्तर न मिलता।

उर्दू अथवा गुजराती शब्द न सूझ पड़ा, इससे मुझे शर्म मालूम हुई। पर उत्तर तो दिया ही। मुझे 'नान-कोआपरेशन' शब्द हाथ लगा। जब मौलानासाहब भाषण कर रहे थे तब मेरे मन मे यह भाव उठ रहा था कि खुद कई बातों में जिस सरकार का साथ दे रहे हैं उसीके विरोध की ये सब बात करते हैं, सो व्यर्थ है। तलवार के द्वारा प्रतीकार नही करना है तो फिर उसका साथ न देना ही उसका प्रतीकार करना है, यह मुझे

सूझा और मेरे मुख से पहली बार 'नान-कोआपरेशन' शब्द का उच्चार इस सभा में हुआ। अपने भाषण में मैंने इसके समर्थन में अपनी दलीलें पेश कीं। इस समय मुझे इस बात का खयाल न था कि इस शब्द में क्या भाव आजाते हैं। इस कारण मैं उसकी तफसील में नहीं गया। जहाँतक मुझे याद पड़ता है, इस सभा ने 'नान-कोआपरेशन' का प्रस्ताव भी पास किया था। पर उसके बाद तो कई महीने तक इस बात का प्रचार नहीं हुआ। कितने ही महीने यह शब्द इस सभा में ही छिपा पड़ा रहा।

अमृतसर की महासभा

फौजी कानून के अनुसार सैकड़ों निर्दोष पंजाबियों को नाम-मात्र की अदालतों ने नाम-मात्र के लिए सबूत लेकर कम या अधिक मीयाद के लिए जेलखानों में ठूँस दिया था। परन्तु पंजाब-सरकार इस स्थिति को कायम न रख सकी। क्योंकि इस घोर अन्याय के खिलाफ देश में चारों ओर इतनी बुलन्द आवाज उठी कि सरकार इन कैदियों को अधिक समय तक जेल में न रख सकी थी। इससे महासभा के अधिवेशन के पहले ही बहुतेरे कैदी छूट गये थे, हरकिशनलाल इत्यादि सब नेता रिहा कर दिये गये थे। और महासभा का अधिवेशन हो

ही रहा था कि अली-भाई भी छूट कर आ पहुँचे। इससे लोगों के हर्ष की सीमा न रही। मोतीलाल नेहरू जो अपनी वकालत बंद करके पंजाब में डेरा डाले बैठे थे, महासभा के अध्यक्ष थे। स्वामी श्रद्धानन्दजी स्वागत-समिति के सभापति थे।

अबतक मेरा काम इतना ही रहता था—हिन्दी में एक छोटा-सा भाषण करके हिन्दी के लिए वकालत करना और प्रवासी भारतवासियों का पक्ष उपस्थित कर देना। अमृतसर में मुझे यह पता न था कि इससे अधिक कुछ करना पड़ेगा। परन्तु अपने विषय में मुझे जैसा पहले अनुभव हुआ है उसीके अनुसार यहाँ भी एकाएक मुझपर जिम्मेवारी आ पड़ी।

सम्राट् की नवीन सुधारों के संबंध में घोषणा प्रकाशित हो चुकी थी। वह संतोषजनक नहीं थी। सुधारों में भी खामी थी। परन्तु उस समय मेरा यही खयाल हुआ कि हम उनको स्वीकार कर सकते हैं। सम्राट् के घोषणा-पत्र में मुझे लार्ड सिंह का हाथ दिखाई दिया था। उसकी भाषा में, उस समय, मेरी आँखें आशा की किरणें देख रही थीं, हालां कि अनुभवी लोकमान्य, चित्तरंजनदास इत्यादि योद्धा सिर हिला रहे थे। भारत-भूषण मालवीयजी मध्यस्थ थे।

मेरा डेरा उन्होंने अपने ही कमरे में रक्खा था। उनकी सादगी की झलक मुझे काशी में, विश्व-विद्यालय के शिलारोपण के समय,

हुई थी। परंतु इस समय तो उन्होंने मुझे अपने ही कमरे मे स्थान दिया था। इसलिए मैं उनकी सारी दिनचर्या देख सका और मुझे आनंद के साथ आश्चर्य हुआ था। उनका कमरा मानों गरीब की धर्मशाला थी। उसमें कहीं भी रास्ता नहीं छूटा था, जहाँ-तहाँ लोग डेरा डाले हुए थे। न तो उसमें एकान्त मिल सकता था, और न फैलाव ही हो सकता था। जो चाहता और जब चाहता वहाँ आ जाता और उनका मन-माना समय ले जाता। ऐसे कमरे के एक कोने में मेरा दरबार अर्थात् खटिया लगी हुई थी।

पर यह अध्याय मुझे मालवीयजी के रहन-सहन के वर्णन में खर्च नहीं करना है। इसलिए अपने विषय पर आता हूँ

इस स्थिति में मालवीयजी के साथ रोज सवाद हुआ करता था और वह मुझे सब पक्षों की बातें उसी तरह प्रेम-पूर्वक समझाते, जैसे कि बड़ा भाई छोटे को समझाता है। मुझे यह जान पड़ा कि इस विषय मे होने वाले प्रस्तावों में मुझे भाग लेना चाहिए। पंजाब-हत्याकाण्ड संबंधी महासभा की रिपोर्ट की जिम्मेवारी में मेरा भाग था ही। पंजाब के संबन्ध में सरकार से काम भी लेना था। खिलाफत का मामला था ही। यह भी मेरी धारणा थी कि माण्टेगू हिन्दुस्तान के मित्र हैं और वह भारत के साथ दगा नहीं होने देंगे। कैदियो के और उसमें भी अली-भाइयो के छुटकारे को मैंने शुभ चिह्न माना था। इसलिए मुझे यह प्रतीत हुआ कि सुधारों को

स्वीकार करने का प्रस्ताव होना चाहिए। चित्तरंजनदास का दृढ़ अभिप्राय था कि सुधारों को बिलकुल असंतोषजनक और अधूरा समझकर उनकी अवगणना करनी चाहिए। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे, परन्तु देशबंधु जिस प्रस्ताव को पसंद करें उसके पक्ष में अपनी शक्ति लगाने का निश्चय उन्होंने किया था।

ऐसे भुक्तभोगी सर्वमान्य लोकनायकों से मेरा मतभेद मुझे असह्य हो रहा था। दूसरी ओर मेरा अंतर्नाद स्पष्ट था। मैंने महासभा के अधिवेशन में से भाग जाने का प्रयत्न किया। पंडित मोतीलालजी नेहरू और मालवीयजी को मैंने सुझाया कि मुझे अधिवेशन में गैरहाजिर रहने देने से सब काम सध जायँगे और मैं महान् नेताओं के साथ के इस मतभेद से भी बच जाऊँगा।

पर यह बात इन दोनों बुजुर्गों को न पटी। लाला हरकिशनलाल के कान पर बात जाते ही उन्होंने कहा, 'यह कभी नहीं हो सकता। पंजाबियों को इससे बड़ा अघात पहुँचेगा। लोकमान्य और देशबन्धु के साथ मशवरा किया। श्री जिन्नाह से भी मिला। किसी तरह कोई रास्ता नहीं निकला। मैंने अपनी वेदना मालवीयजी के सामने रक्खी।

'समझौते के चिन्ह मुझे नहीं दिखाई देते, यदि मुझे अपना प्रस्ताव पेश करना ही पड़े तो अन्त को मत तो लेने ही पड़ेंगे। मत लिये जाने की सुविधा यहाँ मुझे दिखाई नहीं देती। आज

तक भरी सभा में हम लोग हाथ ही ऊँचे उठवाते आये हैं। दर्शकों और सभ्यों का भेद हाथ ऊँचा करते समय नहीं रहता। ऐसी विशाल सभा में मत गिनने की सुविधा हमारे यहाँ नहीं होती, इसलिए यदि मैं अपने प्रस्ताव के संबंध में मत लिवाना चाहूँ भी तो उसका प्रबन्ध नहीं' मैंने कहा।

लाला हरकिशनलाल ने इसकी सन्तोषजनक सुविधा कर देने का बीड़ा उठाया। उन्होंने कहा कि जिस दिन मत लेना हो उस दिन प्रेक्षकों को न आने देंगे, सिर्फ प्रतिनिधि ही आवेंगे और मत गिना देने का जिम्मा मेरा। पर आप महासभा की बैठक में गैरहाजिर नहीं रह सकते।

अंत को मैं हारा। मैंने अपना प्रस्ताव बनाया और बड़े संकोच के साथ प्रस्ताव पेश करना स्वीकार किया। श्रीजिन्नाह और मालवीयजी समर्थन करनेवाले थे। भाषण हुए। मैं देख सकता था कि यद्यपि हमारे मतभेद में कहीं कटुता न थी, भाषण में भी दलीलों के सिवाय और कुछ न था, फिर भी सभा इतने मतभेद को सहन नहीं कर सकती थी, और उसे दुःख हो रहा था। सभा एकमत चाहती थी।

उधर भाषण हो रहे थे, पर इधर भेद मिटाने के प्रयत्न चल रहे थे। आपस में चिट्ठियाँ जा-आ रही थीं। मालवीयजी तो हर तरह से समझौता करने के लिए मिहनत कर रहे थे। इतने में

जयरामदास ने अपनी सूचना मेरे हाथ में रक्खी और बड़े मधुर शब्दों में मत देने के संकट से प्रतिनिधियों को बचा लेने का अनुरोध मुझसे किया। मुझे उनकी सूचना पसन्द हुई। मालवीय-जी की नजर तो चारों ओर आशा की खोज में फिर रही थी। मैंने कहा, यह संशोधन दोनों को स्वीकार हो सकता है। लोकमान्य को बताया। उन्होंने कहा, दास को पसन्द हो तो मुझे आपत्ति नहीं। देशबन्धु पिघल गये। उन्होंने विपिनचन्द्र पाल की ओर देखा। मालवीयजी को अब पूरी आशा बँध गई और उन्होंने चिट्ठी हाथ से छीन ली। देश-बन्धु के मुँह से 'हां' शब्द अभी पूरा निकला ही नहीं था कि वह बोल उठे, "सभ्यो, आप जान कर प्रसन्न होंगे कि समझौता हो गया है।" फिर तो क्या पूछना था? तालियों की हर्षध्वनि से सारा मंडप गूँज उठा और लोगों के चेहरे पर जहाँ गम्भीरता थी वहाँ खुशी चमक उठी।

यह प्रस्ताव क्या था, उसकी चर्चा करने की यहाँ जरूरत नहीं। क्योंकि यह प्रस्ताव कैसे हुआ, यही बताना मेरे इन प्रयोगों का विषय है।

समझौते ने मेरी जिम्मेवारी बढ़ा दी।

महासभा में प्रवेश

महासभा में जो मुझे भाग लेना पड़ा, इसे मैं महासभा मे अपना प्रवेश नही मानता। उसके पहले की महासभा की बैठकों मे जो मैं गया सो तो केवल वफादारी की निशानी के तौर पर। छोटे से छोटे सिपाही के सिवा वहाँ मेरा दूसरा कुछ काम होगा, ऐसा आभास मुझे दूसरी पिछली सभाओं के संबंध मे नही हुआ और न ऐसी इच्छा ही हुई।

अमृतसर के अनुभव ने बताया कि मेरी एक शक्ति का उपयोग महासभा के लिए है। पंजाब-समिति के मेरे काम से लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलालजी, देशबन्धु इत्यादि खुश हुए थे-यह मैं

देख सका था। इस कारण उन्होंने मुझे अपनी बैठकों में और सलाह-मशवरे में बुलाया। इतना तो मैंने देखा था कि विषय-समिति का सच्चा काम ऐसी बैठकों में होता था और ऐसे मशवरों में खास कर वे लोग होते, जिनपर नेताओं का खास विश्वास या आधार होता, पर दूसरे लोग भी किसी न किसी बहाने घुस जाते थे।

आगामी वर्ष किये जानेवाले दो कामों में मेरी दिलचस्पी थी, क्योंकि उनमें मेरा चंचुपात था।

एक था जालियाँवाला-बाग़ के कत्ल का स्मारक। इसके लिए महासभा ने बड़ी शान के साथ प्रस्ताव पास किया था। उसके लिए कोई पाँच लाख रुपये की रकम एकत्र करनी थी। उसके रक्षकों में मेरा भी नाम था। देश के सार्वजनिक कार्यों के लिए भिक्षा माँगने का भारी सामर्थ्य जिन लोगों में है, उनमें मालवीयजी का नंबर पहला था और है। मैं जानता था कि मेरा दरजा उनसे बहुत घटकर न होगा। अपनी इस शक्ति का आभास मुझे दक्षिण आफ्रिका में मिला था। राजा-महाराजाओं पर जादू फेर कर लाखों रुपये पाने का सामर्थ्य मुझमें न था, आज भी नहीं है। इस बात में उनके साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाला मैंने किसीको नहीं देखा। पर जालियाँवालाबाग के काम में उन लोगों से द्रव्य नहीं लिया जा सकता, यह मैं जानता था। अतएव इस स्मारक के लिए धन जुटाने का मुख्य भार मुझपर पड़ेगा, यह बात मैं रक्षक का पद

स्वीकारते समय समझ गया था। और हुआ भी ऐसा ही। इस स्मारक के लिए बंबई के उदार नागरिकों ने पेट भर के द्रव्य दिया और आज भी लोगों के पास उसके लिए जितना चाहिए द्रव्य है। परन्तु इस हिन्दू, मुसलमान और सिख के मिश्रित खून से पवित्र हुई भूमि पर किस तरह का स्मारक बनाया जाय, अर्थात् आये हुए धन का उपयोग किस तरह किया जाय, यह विकट प्रश्न हो गया है, क्योंकि तीनो के बीच अथवा दो के बीच दोस्ती के बदले आज दुश्मनी का भास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति मुन्शी का काम करने की थी, जिसका उपयोग महासभा के लिए हो सकता था। बहुत दिनो के अनुभव से कहाँ, कैसे और कितने कम शब्दों में अविनय-रहित भाषा में लिखना मैं जान सका हूँ—यह बात नेता लोग समझ गये थे। उस समय महासभा का जो संगठन विधान था, वह गोखले की रक्खी हुई पूँजी थी। उन्होंने कितने ही नियम बना रक्खे थे, उनके आधार पर महासभा का काम चलता था। वे नियम किस प्रकार बने, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हींके मुख से सुना था। पर अब सब यह मानते थे कि केवल उन्हीं नियमो के बल पर काम नहीं चल सकता। विधान बनाने की चर्चा भी प्रति वर्ष चला करती। महासभा के पास ऐसी व्यवस्था ही नहीं थी कि जिससे सारे वर्ष-भर उसका काम चलता रहे अथवा कोई भविष्य

के विषय में विचार करें। मंत्री उसके तीन रहते; पर वास्तव में तो मंत्री एक ही रहता। वह भी ऐसा नहीं कि चौबीसों घण्टे उसके लिए दे सके। मंत्री दफ्तर का काम करता या भविष्य का विचार करता, या भूतकाल में ली हुई जिम्मेवारियाँ चालू वर्ष में अदा करता? इसलिए यह प्रश्न इस वर्ष सबकी दृष्टि में अधिक आवश्यक हो गया। महासभा में तो हजारों की भीड़ होती है, उसमें प्रजा का कार्य कैसे चलता? प्रतिनिधियों की संख्या की हद नहीं थी। हर किसी प्रान्त से जितने चाहें प्रतिनिधि आ सकते थे। हर कोई प्रतिनिधि हो सकता था। इसलिए इसका कुछ प्रबंध होने की अत्यावश्यकता सबको मालूम हुई। संगठन की रचना करने का भार मैंने अपने सिर पर लिया। मेरी एक शर्त थी। जनता पर मैं दो नेताओं का अधिकार देख रहा था। इसलिए मैंने उनके प्रतिनिधि की माँग अपने साथ की। मैं जानता था कि नेता लोग खुद शान्ति के साथ बैठ कर विधान की रचना नहीं कर सकते थे अतएव लोकमान्य तथा देशबन्धु के पास से उनके दो विश्वासपात्र नाम मैंने माँगे। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई संगठन-समिति मे न होना चाहिए, यह मैंने सुझाया। यह सूचना स्वीकृत हुई। लोकमान्य ने श्री केलकर का और देशबन्धु ने श्री आई० बी० सेन का नाम दिया। यह संगठन-समिति एक दिन भी साथ मिलकर न बैठी। फिर भी हमने

अपना काम चला लिया। इस संगठन के संबन्ध में मुझे कुछ अभिमान है, मैं मानता हूँ कि इसके अनुसार काम लिया जा सके तो आज हमारा बेड़ा पार हो सकता है। यह तो जब कभी हो। परन्तु इस जवाबदेही को लेने के बाद ही मैंने महासभा में सचमुच प्रवेश किया, यह मेरी मान्यता है।

खादी का जन्म

मुझे याद नहीं कि सन् १९०८ तक मैंने चर्खा अथवा कर्घा देखा हो। फिर भी 'हिन्द-स्वराज्य' में मैंने यह माना है कि चर्खे द्वारा भारत की गरीबी मिटेगी। और जिस मार्ग से देश की भुखमरी का नाश होगा उसीसे स्वराज्य भी मिलेगा, यह तो एक ऐसी बात है कि जिसे सब कोई समझ सकते हैं। जब मैं सन् १९१५ में दक्षिण आफ्रिका से भारत आया उस समय समय भी मैंने चर्खे के दर्शन तो नहीं ही किये थे। आश्रम खोलने पर एक कर्घा ला रक्खा। कर्घा ला रखने में भी मुझे बड़ी कठिनाई हुई। हम सब उसके प्रयोग से अपरिचित थे, अत. कर्घा

प्राप्त कर लेने भर से वह चल तो नहीं सकता था। इसमें या तो कलम चलाने वाले इकट्ठे हुए थे, या व्यापार करना जाननेवाले; कारीगर कोई भी नहीं था। इसलिए कर्घा मिल जाने पर भी बुनाई का काम सिखानेवाले की जरूरत थी। काठियावाड़ और पालनपुर से कर्घा मिला और एक सिखानेवाला भी आगया। उसने अपना सारा हुनर नहीं बताया। लेकिन मगनलाल गांधी ऐसे नहीं थे कि हाथ में लिये हुए काम को झट छोड़ दें। उनके हाथ में कारीगरी तो थी ही, अतः उन्होंने बुनाई का काम पूरी तरह जान लिया और फिर एक के बाद एक नये बुनकर आश्रम में तैयार हुए।

हमें तो अपने कपड़े तैयार करके पहनने थे। इसलिए अब से मिल के कपड़े पहनने बंद किये, आश्रमवासियों ने हाथ के कर्वे पर देशी मिल के सूत से बुना हुआ कपड़ा पहनने का निर्णय किया। इससे हमें बहुत कुछ सीखने को मिला। भारत के जुलाहों के जीवन का, उनकी कमाई का, सूत प्राप्त करने में होनेवाली उनकी कठिनाइयों का, वे उसमें किस तरह धोखा खाते थे और दिन-दिन किस तरह कर्जदार हो रहे थे, आदि बातों का हमें पता चला। ऐसी परिस्थिति तो थी नहीं कि शीघ्र ही हम अपने कपड़े आप बुन सकें। अतः बाहर के बुननेवालों से हमें अपनी जरूरत के मुताबिक कपड़ा बुनवा लेना था। क्योंकि देशी मिल

के सूत से बुना हुआ कपड़ा जुलाहों के पास से या व्यापारियों से शीघ्र ही मिलता नहीं था। जुलाहे अच्छा कपड़ा तो सबका सब विलायती सूत का ही बुनते थे। इसका कारण यह है कि हमारी मिलें महीन सूत नहीं कातती। आज भी महीन सूत का परिमाण कम ही होता है। बहुत महीन तो वे कात ही नहीं सकतीं। बड़े प्रयत्न के बाद कुछेक जुलाहे हाथ लगे, जिन्होंने देशी सूत का कपड़ा बुन देने की मिहरबानी की। इन जुलाहों को आश्रम की तरफ से यह वचन देना पड़ा था कि उनका बुना हुआ देशी सूत का कपड़ा खरीद लिया जायगा। इस तरह खास तौर पर तैयार बुना कपड़ा हमने पहना और मित्रों में उसका प्रचार किया। हम सूत कातने वाली मिलों के बिना तनख्वाह के एजेन्ट बन गये। मिलों के परिचय में आने से उनके ढंग—कार्यपद्धति—के, उनकी लाचारी के हाल हमें मालूम हुए। हमने देखा कि मिलों का ध्येय खुद कात कर खुद बुनने का था। वे हाथ-करघे की इच्छा-पूर्वक मदद नहीं करती थीं, बल्कि अनिच्छा-पूर्वक।

यह सब देख कर हम हाथ से कातने के लिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जबतक हाथ से न कातेंगे तबतक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। हमें यह प्रतीति नहीं हुई कि मिलों के एजेण्ट बनकर हम देश-सेवा करते हैं।

लेकिन न तो चर्खा था, न कोई चर्खा चलानेवाला ही था।

कुकड़ियाँ भरने के चर्खे तो हमारे पास थे, लेकिन यह खयाल तो था ही नहीं कि उनपर कत सकता है। एक बार कालीदास वकील एक महिला को ढूँढ लाये। उन्होंने कहा कि यह कात कर बतलायँगी। उनके पास नये कामों को सीख लेने में प्रवीण एक आश्रमवासी भेजे गये, लेकिन हुनर हाथ न आया।

समय बीतने लगा। मैं अधीर हो उठा था। आश्रम में आनेवाले उन लोगों को, जो इस संबन्ध में कुछ बातें कह सकते, मैं पूछता, लेकिन कातने का इजारा तो स्त्रियों का ही था। अतः कातनेवाली स्त्री तो कहीं किसी स्त्री को ही मिल सकती थी।

सन् १९१७ की भड़ोंच की शिक्षा-परिषद् में गुजराती भाई मुझे घसीट ले गये। वहाँ महासाहसी विधवा बहन गंगाबाई हाथ लगीं। वह बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थीं, लेकिन उनमें साहस और समझ शिक्षित बहनों मे साधारणतः जितनी होती है उससे अधिक थी। उन्होंने अपने जीवन में से अस्पृश्यता की जड़ को निकाल डाला था और वह निडर होकर अंत्यजों में मिलतीं तथा उनकी सेवा करती थीं। उनके पास द्रव्य था, लेकिन उनकी अपनी आवश्यकतायें थोड़ी ही थीं। उनका शरीर सुगठित था और चाहे जहाँ अकेले जाने में वह तनिक भी संकोच नहीं करती थीं। वह तो घोड़े की सवारी के लिए भी तैयार रहतीं। इन बहन से मैंने गोधरा की परिषद् में विशेष परिचय

बढ़ाया। मैंने अपनी गाथा उन्हें कह सुनाई और जिस तरह दम-यन्ती नल के पीछे घूमी थीं उसी तरह चर्खे की खोज में घूमने की बात स्वीकार करके उन्होंने मेरा बोझ हलका किया।

मिल गया

गुजरात में खूब घूम चुकने के बाद गायकवाड़ के बीजापुर गाँव में गंगा बहन को चर्खा मिला। वहाँ बहुत-से कुटुम्बों के पास चर्खा था, जिसे उन्होंने टाँड पर चढ़ा कर रख छोड़ा था। लेकिन अगर कोई उनका कता सूत ले ले और उन्हें पूनियाँ बराबर दी जायँ तो वे कातने के लिए तैयार थे। गंगाबहन ने मुझे खबर दी और मेरे हर्ष का पार न रहा। पूनी पहुँचाने का काम कठिन जान पड़ा। स्वर्गीय भाई उमर सुबानी से बातचीत करने पर उन्होंने अपनी मिल में से पूनी की नलियाँ पहुँचाने की जिम्मेवारी अपने सिर ली। मैंने ये नलियाँ गंगाबहन के पास

भेजीं। इसपर तो सूत इतनी तेजी से तैयार होने लगा कि मैं थक गया।

भाई उमर सुबानी की उदारता विशाल होते हुए भी उसकी सीमा थी। पूनियाँ खरीदकर लेने में मुझे संकोच हुआ। और मिल की पूनियाँ लेकर कताने में मुझे दोष प्रतीत हुआ। अगर मिल की पूनियाँ लेते हैं तो फिर सूत के लेने में क्या दोष है? पुरखाओं के पास मिल की पूनियाँ कहाँ थीं? वे किस तरह पूनियाँ तैयार करते होंगे? मैंने गंगाबहन को सूचना की कि वह पूनियाँ बनाने वाले को ढूंढे। उन्होंने यह काम अपने सिर लिया। पिंजारे को ढूँढ निकाला। उसे हर महीने ३५) या इससे भी अधिक वेतन पर नियुक्त किया। उसने बालकों को पूनी बनाना सिखलाया। मैंने रुई की भीख माँगी। भाई यशवंतप्रसाद देसाई ने रुई की गाँठें पहुँचाने का काम अपने जिम्मे लिया। गंगाबहन ने काम बढ़ा दिया। उन्होंने बुनकरों को आबाद किया और कते हुए सूत को बुनवाना शुरू किया। बीजापुर की खादी मशहूर हुई।

दूसरी ओर अब आश्रम में भी चर्खे को दाखिल करने में देर न लगी। मगनलाल गाँधी ने अपनी अन्वेषक-शक्ति से चर्खे में सुधार किये और चर्खे तथा तकले आश्रम में तैयार हुए। आश्रम की खादी के पहले थान पर फी गज १-) खर्च आया। मैंने मित्रों के पास से मोटी, कच्चे सूत की खादी के एक गज

टुकड़े के १-) वसूल किये, जो उन्होंने खुशी-खुशी दिये।

बम्बई में मैं रोग-शय्या पर पड़ा हुआ था। लेकिन सबसे पूछा करता। वहाँ दो कातनेवाली बहनें मिलीं। उन्हें एक सेर सूत पीछे एक रुपया दिया। मैं अभी तक खादी-शास्त्र में अंधी-भीत जैसा था। मुझे तो हाथ-कता सूत चाहिए था और कातने वाली स्त्रियाँ चाहिएँ थीं। गंगाबहन जो दर देती थीं उससे तुलना करते हुए मुझे मालूम हुआ कि मैं ठगा जा रहा हूँ। वे बहनें कम लेने को तैयार नहीं थीं, इसलिए उन्हें छोड़ना पड़ा। लेकिन उनका उपयोग तो था ही। उन्होंने श्री अवन्तिकाबाई, रमाबाई कामदार, श्री शंकरलाल बैंकर की माताजी और श्री वसुमती बहन को कातना सिखाया और मेरे कमरे में चर्खा गूँज उठा। अगर मैं यह कहूँ कि इस यंत्र ने मुझे रोगी से नीरोग बनाने मे मदद पहुँचाई, तो अत्युक्ति न होगी। यह सच है कि यह स्थिति मानसिक है। लेकिन मनुष्य को रोगी या नीरोग बनाने में मन का हिस्सा कौन कम है? मैंने भी चर्खे को हाथ लगाया। लेकिन इस समय मैं इससे आगे नहीं बढ़ सका था।

अब सवाल यह उठा कि यहाँ हाथ की पूनियाँ कहाँ से मिलें? श्री रेवाशंकर जौहरी के पास से ताँत की आवाज करता हुआ एक पिंजारा रोज निकला करता था। मैंने उसे बुलाया। वह गद्दे—

गद्दियों की रुई पींजता था। उसने पूनियाँ तैयार करके देना मंजूर किया, लेकिन भाव ऊँचा माँगा और मैंने दिया भी। इस तरह तैयार सूत मैंने वैष्णवों के हाथ पवित्री के लिए कीमत से बेचा। भाई शिवजी ने बंबई में चर्खा-शाला खोली। इस प्रयोग में रुपये का खर्च ठीक हुआ। श्रद्धालु देशभक्तों ने द्रव्य दिया और मैंने उसे खर्च किया। मेरी नम्र सम्मति में यह खर्च व्यर्थ नहीं गया। उसमें से बहुत कुछ सीखने को मिला; साथ ही चर्खे की मर्यादा की माप भी मिली।

अब मैं एकदम खादीमय होने के लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिल के कपड़े की थी। बीजापुर में और आश्रम में जो खादी बनती थी वह बहुत मोटी और ३० इंच के अर्ज की होती थी। मैंने गंगाबहन को चेताया कि अगर वह ४५ इंच अर्ज की खादी की धोती एक महीने के भीतर न दे सकेंगी, तो मुझे मोटी खादी का पंचा पहन कर काम चलाना पड़ेगा। गंगा-बहन घबराईं. उन्हें अवधि कम मालूम हुई, लेकिन हिम्मत नहीं हारीं। उन्होंने एक महीने के भीतर ही मुझे ५० इंच अर्ज का धोती-जोड़ा ला दिया और मेरी दरिद्रता दूर की।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठीगाँव से अंत्यज भाई रामजी और उनकी पत्नी गंगाबहन को आश्रम में लाये और उनके द्वारा लम्बे अर्ज की खादी बुनवाई। खादी के प्रचार में इस दम्पती

का हिस्सा ऐसा-वैसा नहीं कहा जा सकता। इन्होंने गुजरात में और गुजरात के बाहर हाथ-कते सूत को बुनने की कला दूसरों को सिखाई है। यह निरक्षर लेकिन संस्कृत बहन जब कर्घा चलाने बैठती हैं तो उसमे इतनी तल्लीन हो जाती हैं कि इधर-उधर देखने की या किसी के साथ बात करने की आवश्यकता तक अपने लिए महसूस नहीं करतीं।

एक संवाद

जिस समय स्वदेशी के नाम पर यह प्रवृत्ति शुरू हुई-- उस समय मिल-मालिकों की ओर से मेरी खूब टीका होने लगी। भाई उमर सुबानी स्वयं होशियार और सावधान मिल-मालिक थे, इसलिए वह अपने ज्ञान से तो मुझे फायदा पहुँचाते ही थे, लेकिन साथ ही वह दूसरों के मत भी मुझे सुनाते थे। उनमें के एक मिल-मालिक की दलीलों का असर भाई उमर सुबानी पर भी पड़ा और उन्होंने मुझे उनके पास ले चलने की बात कही। मैंने उनकी इस बात का स्वागत किया और हम उन मिल-मालिक के पास गये। वह कहने लगे—

'यह तो आप जानते हैं न कि आपका स्वदेशी-आन्दोलन कोई पहला आन्दोलन नहीं है ?'

मैंने जवाब दिया—'जी हाँ।'

'आप यह भी जानते हैं कि बंग-भंग के दिनों में स्वदेशी आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा था ? इस आन्दोलन से हमारी मिलों ने खूब लाभ उठाया था और कपड़े की कीमत बढ़ा दी थी; जो काम नहीं करना चाहिए, वह भी किया था ?'

'मैंने यह सब सुना है, और सुन कर दुःखी हुआ हूँ।'

'मैं आपके दुःख को समझता हूँ। लेकिन उसका कोई कारण नहीं है। हम परोपकार के लिए अपना व्यापार नहीं करते हैं। हमें तो नफा कमाना है। अपने मिल के भागीदारों (शेयर-होल्डरों) को जवाब देना है। कीमत का आधार तो किसी चीज की माँग है। इस नियम के खिलाफ कोई क्या कह सकता है ? बंगालियों को यह अवश्य ही जान लेना चाहिए था कि उनके आन्दोलन से स्वदेशी कपड़े की कीमत जरूर ही बढ़ेगी।'

'वे तो बेचारे मेरे समान शीघ्र ही विश्वास कर लेने वाले ठहरे, इसलिए उन्होंने तो यह मान लिया था कि मिल-मालिक एकदम स्वार्थी नहीं बन जायँगे; दगा तो कभी देंगे ही नहीं, और न कभी स्वदेशी के नाम पर विदेशी वस्त्र ही बेचेंगे।'

'मुझे यह मालूम था कि आप इस तरह का विश्वास रखते

हैं । यही कारण है कि मैंने आपको सावधान कर देने का विचार किया और यहाँ तक आने का कष्ट किया, जिससे भोले-भाले बंगालियों की भाँति आप भी भूल में न रह जायँ।'

इतना कह चुकने पर सेठ ने अपने एक गुमाश्ते को नमूने लाने के लिए इशारा किया। नमूने रद्दी सूत से बने हुए कम्बल के थे। उन्हें लेकर उन्होंने कहा—

'देखिए, यह नया माल हमने तैयार किया है। इसकी बाजार में अच्छी खपत है; रद्दी से बना है, इस कारण सस्ता तो पड़ता ही है। इस माल को हम ठेठ उत्तर तक पहुँचाते हैं। हमारे एजेण्ट चारों ओर फैले हुए हैं। इससे आप यह तो समझ सकते हैं कि हमें आपके सरीखे एजेण्टों की जरूरत नहीं रहती। सच बात तो यह है कि जहाँ आप-जैसे लोगों की आवाज तक नहीं पहुँचती वहाँ हमारे एजेण्ट और हमारा माल पहुँच जाता है। हाँ, आपको तो यह भी जान लेना चाहिए कि भारत को जितने माल की जरूरत रहती है उतना तो हम बनाते भी नहीं। इसलिए स्वदेशी का सवाल तो खास कर उत्पत्ति का सवाल है। जब हम आवश्यक परिमाण में कपड़ा तैयार कर सकेंगे और जब उसकी किस्म में सुधार कर सकेंगे, तब परदेशी कपड़ा अपने-आप आना बंद हो जायगा। इसलिए मेरी तो यह सलाह है कि आप जिस ढंग से स्वदेशी-आन्दोलन का काम कर रहे हैं उस ढंग

से मत कीजिए और नई मिलें खड़ी करने की तरफ अपना ध्यान लगाइए। हमारे यहाँ स्वदेशी माल को खपाने का आन्दोलन आवश्यक नहीं है, आवश्यकता तो स्वदेशी माल उत्पन्न करने की है।'

'अगर मैं यही काम करता होऊँ तो आप मुझे आशीर्वाद देंगे न?' मैंने कहा।

'यह कैसे? अगर आप मिल खड़ी करने की कोशिश करते हों तो आप धन्यवाद के पात्र हैं।'

'मैं यह तो नहीं करता हूँ। हाँ, चर्खे के उद्धार-कार्य में अवश्य लगा हुआ हूँ।'

'यह कौनसा काम है?'

मैंने चर्खे की बात सुना दी और कहा—

'मैं आपके विचारों से सहमत होता जा रहा हूँ। मुझे मिलों की एजेन्सी नहीं लेनी चाहिए। उससे तो लाभ के बदले हानि ही है। मिलों का माल यों ही पड़ा नहीं रहता। मुझे तो कपड़ा उत्पन्न करने में और तैयार कपड़े को खपाने में लगना चाहिए। अभी तो मैं केवल उत्पत्ति-काम में ही लगा हुआ हूँ। मैं स्वदेशी में विश्वास रखता हूँ, क्योंकि उसके द्वारा भारत की भूखों मरनेवाली आधी बेकार स्त्रियों को काम सौंपा जा सकता है। वे जो सूत कातें उसे बुनवाना और इस तरह तैयार खादी

लोगों को पहनाना ही मेरी प्रवृत्ति है और यही मेरा आन्दोलन है। चर्खा आन्दोलन कितना सफल होगा, यह तो मैं नहीं कह सकता। अभी तो उसका श्रीगणेश-मात्र हुआ है। लेकिन मुझे उसमें पूरा विश्वास है। चाहे जो हो, यह तो निर्विवाद है कि इस आन्दोलन से कोई हानि नहीं होगी। इस आन्दोलन के कारण हिन्दुस्तान में तैयार होनेवाले कपड़े में जितनी वृद्धि होगी, उतना लाभ ही होगा। इसलिए इस कोशिश में आपका बतलाया हुआ दोष तो नहीं ही है।'

'अगर आप इस तरह इस आन्दोलन का संचालन करते हों तो मुझे कुछ भी कहना नहीं है। यह एक जुदी बात है कि इस यन्त्र-युग में चर्खा टिकेगा या नहीं। फिर भी मैं तो आपकी सफलता ही चाहता हूँ।'

असहयोग का प्रवाह

इसके बाद खादी की तरक्की किस तरह हुई, इसका वर्णन इन अध्यायों में नहीं किया जा सकता। यह बतला चुकने पर कि कौन-कौन चीज किस तरह जनता के सामने आई, उसके इतिहास में उतरना इन अध्यायों की सीमा के बाहर की बात है। ऐसा करने से तो उन-उन विषयों की एक-एक पुस्तक ही अलग तैयार हो जायगी। यहाँ मैं तो केवल यही बताना चाहता हूँ कि सत्य की शोध करते हुए किस तरह जुदी-जुदी बातें मेरे जीवन में एक-के-बाद-एक अनायास आती गईं।

इसलिए मैं मानता हूँ कि अब असहयोग के बारे में थोड़ी

बातें कहने का समय आ गया है। खिलाफत के बारे में अली-भाइयों का जबरदस्त आन्दोलन तो चल ही रहा था। स्वर्गीय मौलाना अब्दुलबारी वगैरा उलमाओं के साथ इस विषय में खूब बहस हुई। इस बारे में खास तौर पर तरह-तरह से विचार होते रहे कि मुसलमान शान्ति और अहिंसा का किस हद तक पालन कर सकते हैं और आखिर यह फैसला हुआ कि एक हद तक बतौर युक्ति के उसका पालन करने मे कोई रुकावट हो नहीं सकती, और यह भी तय हुआ कि जो एक बार अहिंसा की प्रतिज्ञा ले ले वह सचाई से उसका पालन करने के लिए बँधा हुआ रहे। आखिर असहयोग का प्रस्ताव खिलाफत-कान्फरेन्स में पेश किया गया और लम्बी बहस के बाद वह पास हुआ। मुझे याद है कि एक बार उसके लिए इलाहाबाद में सारी रात सभा होती रही थी। शुरू-शुरू में स्व० हकीम साहब को शान्ति-पूर्ण असहयोग की शक्यता के सम्बन्ध में शंका थी। लेकिन उनकी शंका के दूर हो जाने पर वह उसमें शामिल हुए और उनकी मदद बहुत कीमती साबित हुई।

इसके बाद गुजरात में राजकीय परिषद् की बैठक हुई। इस परिषद् में मैंने असहयोग का प्रस्ताव रक्खा। परिषद् में प्रस्ताव का विरोध करनेवाले की पहली दलील यह थी कि जबतक महासभा असहयोग का प्रस्ताव पास नहीं करती है तबतक

प्रान्तीय परिषदों को उसे पास करने का अधिकार नहीं। मैंने जवाब में कहा कि प्रान्तीय परिषदें पीछे पैर नहीं हटा सकतीं, लेकिन आगे कदम बढ़ाने का अधिकार तो तमाम अधीन संस्थाओं को है; यही नहीं, बल्कि अगर उनमें हिम्मत हो तो ऐसा करना उनका धर्म भी है; इससे तो प्रधान संस्था का गौरव बढ़ता है। इसके बाद प्रस्ताव के गुण-दोषों पर भी अच्छी और मीठी बहस हुई। फिर मत लिये गये और अधिक बहुमत से असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया। इस प्रस्ताव के पास होने में अब्बास तैयबजी और वल्लभभाई का बहुत बड़ा हिस्सा था। अब्बाससाहब अध्यक्ष थे और उनका झुकाव असहयोग के प्रस्ताव की ओर ही था।

महासभा-समिति ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए महासभा की एक खास बैठक १९२० के सितम्बर महीने में बुलाने का निश्चय किया। बहुत बड़े पैमाने पर तैयारियाँ हुईं। लाला लाजपतराय अध्यक्ष चुने गये। बम्बई से खिलाफतवालों और कॉंग्रेसवालों की स्पेशलें छूटीं। कलकत्ते में सदस्यों का और दर्शकों का बहुत बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ।

मौलाना शौकतअली के कहने पर मैंने असहयोग के प्रस्ताव का मसविदा तैयार किया। इस समय तक मेरे मसविदों में शान्तिमय शब्द प्रायः नहीं आता था। मैं अपने भाषणों में उसका उपयोग करता था। लेकिन जहाँ अकेले मुसलमान भाइयों

की सभा होती वहाँ शान्तिमय शब्द से मैं जो कुछ समझाना चाहता, समझा नहीं सकता था; इसलिए मैंने मौलाना अबुल-कलाम आजाद से इसके लिए दूसरे शब्द पूछे। उन्होंने 'बा-अमन' शब्द बतलाया और असहयोग के लिए 'तर्के मवालात' शब्द सुझाया।

इस तरह जब गुजराती, हिन्दी, हिन्दुस्तानी में असहयोग की भाषा मेरे दिमाग में तयार हो ही रही थी उसी समय, जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, महासभा के लिए प्रस्ताव तैयार करने का काम मेरे जिम्मे आया। उस प्रस्ताव मे 'शान्तिमय' शब्द नहीं आ पाया था। प्रस्ताव तैयार कर चुकने पर ट्रेन में ही मैंने उसे मौलाना शौकतअली के हवाले कर दिया था। रात में मुझे खयाल आया कि खास शब्द 'शान्तिमय' तो प्रस्ताव के मस-विदे में से छूट गया है। मैंने महादेव को उसी समय जल्दी में भेजा और कहलवाया कि छापने से पहले उसमें 'शान्तिमय' शब्द भी जोड़ दिया। मुझे याद आ रहा है कि इस शब्द के जुड़ने के पहले ही प्रस्ताव छप चुका था। उसी रात को विषय-समिति की बैठक थी इसलिए बाद में मुझे मसविदे में 'शान्तिमय' शब्द जोड़ना पड़ा। साथ ही मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने पहले से ही प्रस्ताव तैयार न किया होता तो बड़ी कठिनाई होती।

तिसपर भी मेरी हालत तो दयाजनक ही थी। मुझे इस

बात का पता भी नहीं था कि कौन तो मेरे प्रस्ताव को पसन्द करेंगे और कौन उसके विरोध में बोलेंगे। मुझे इस बात का भी बिलकुल पता न था कि लालाजी का झुकाव किस तरफ है। कलकत्ते में पुराने अनुभवी योद्धागण एकत्र हुए थे। विदुषी एनी बेसेन्ट, पण्डित मालवीयजी, विजयराघवाचार्य, पण्डित मोतीलालजी, देशबन्धु वग़ैरा नेता उनमें मुख्य थे।

मेरे प्रस्ताव में खिलाफत और पंजाब के अन्याय को लेकर ही असहयोग करने की बात कही गई थी। श्री विजयराघवाचार्य को इतने से सन्तोष न हुआ। उनका कहना था, "अगर असहयोग करना है तो फिर किसी खास अन्याय को लेकर ही क्यों किया जाय? स्वराज्य का अभाव तो बड़े से बड़ा अन्याय है, इसे लेकर ही असहयोग किया जाना चाहिए।' मैंने तुरंत ही यह सूचना मंजूर कर ली और प्रस्ताव में स्वराज्य की माँग भी जोड़ दी। लम्बी, गंभीर और कुछ तेज बहस के बाद असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ।

सबसे पहले मोतीलालजी आन्दोलन में शामिल हुए। उस समय मेरे साथ उनकी जो मीठी बहस हुई थी वह मुझे अबतक याद है। कहीं थोड़े शब्दों को बदल देने की बात उन्होंने कही थी और मैंने उसे मंजूर कर ली थी। देशबन्धु को राजी कर लेने का बीड़ा उन्होंने उठाया था। देशबन्धु का दिल असहयोग को

तरफ था, लेकिन उनका विवेक उनसे कह रहा था कि जनता असहयोग के भार को सह नहीं सकेगी। देशबन्धु और लालाजी पूरे असहयोगी तो नागपुर में बने थे। इस विशेष अधिवेशन के अवसर पर मुझे लोकमान्य की अनुपस्थिति बहुत ज्यादा खटकी थी। आज भी मेरा यह मत है कि अगर वह जिन्दा रहते तो अवश्य ही कलकत्ते के अवसर पर मुझे आशीर्वाद देते। लेकिन अगर यह नहीं होता और वह उसका विरोध करते, तो भी मैं उसे अपना सौभाग्य समझता और उससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण करता। मेरा उनके साथ हमेशा मतभेद रहा करता, लेकिन यह मतभेद मधुर होता था। उन्होंने मुझे सदा यह मानने दिया था कि हमारे बीच निकट का सम्बन्ध है। ये पंक्तियाँ लिखते हुए उनकी मौत का चित्र मेरी आँखों के सामने घूम रहा है। आधी रात के समय मेरे साथी पटवर्धन ने टेलीफोन द्वारा मुझे उनकी मृत्यु की खबर दी थी। उसी समय मैंने अपने साथियों से कहा था, 'मेरी ढाल मुझसे छिन गई!' इस समय असहयोग का आन्दोलन पूरे जोर पर था। मुझे उनसे आश्वासन और प्रेरणा पाने की आशा थी। आखिर जब असहयोग पूरी तरह मूर्तिमान हुआ था तब वह किस मार्ग को अपनाते, इसे तो देव ही जाने, लेकिन इतना मुझे मालूम है कि देश के इतिहास की इस नाजुक घड़ी में उनका न होना सबको खटकता था।

नागपुर में

महासभा के विशेष अधिवेशन में असहयोग का जो प्रस्ताव पास हुआ था, महासभा के नागपुर वाले वार्षिक अधिवेशन में उस प्रस्ताव को कायम रखना था। कलकत्ते की तरह नागपुर मे भी असंख्य आदमी इकट्ठे हुए थे। अभी प्रतिनिधियों की संख्या का निश्चय नहीं हो पाया था, तिसपर भी जहाँ तक मुझे याद है उस समय चौदह हजार प्रतिनिधि हाजिर थे। लालाजी के आग्रह से स्कूलों-सम्बन्धी प्रस्ताव में थोड़ा परिवर्तन करना मैंने कबूल किया था। देशबन्धु ने भी थोड़ी फेर-बदल करवाई थी और आखिर अहिंसात्मक असहयोग का प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास हुआ था।

इसी बैठक में महासभा के पुनर्संगठन का प्रस्ताव भी पास करवाना था। संघटन का मसविदा तो मैंने विशेष अधिवेशन में ही रख दिया था, इसलिए वह प्रकट हो चुका था और उसपर काफी बहस भी हो चुकी थी। श्री विजयराघवाचार्य इस अधिवेशन के सभापति थे। संघटन में विषय-समिति ने एक ही महत्व का परिवर्तन किया था। मैंने प्रतिनिधियों की संख्या पन्द्रह सौ रक्खी थी, उसके बदले विषय-समिति ने उसे छः हजार नियत की। मेरे विचार में यह कदम बिना विचारे बढ़ाया गया था। इतने वर्षों के अनुभव के बाद भी मेरा तो यही मत है। बहुत-से प्रतिनिधियों से अधिक अच्छा काम होता है अथवा प्रजातन्त्र का अच्छी तरह निर्वाह होता है, इस कल्पना को मैं एकदम भ्रमपूर्ण मानता हूँ। अगर पन्द्रह सौ प्रतिनिधि मन के उदार, प्रजा के स्वत्व की रक्षा करनेवाले और प्रामाणिक हों, तो वे छः हजार स्वयं-नियुक्त प्रतिनिधियों की अपेक्षा प्रजातन्त्र की अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकते हैं। प्रजातन्त्र को निबाहने के लिए जनता में स्वतन्त्रता की, स्वाभिमान की और ऐक्य के भाव की तथा अच्छे और सच्चे प्रतिनिधियों को चुनने की वृत्ति होनी चाहिए। लेकिन संख्या के मोह में फँसी हुई विषय-समिति को तो छः हजार से भी ज्यादा प्रतिनिधियों की जरूरत थी। इसलिए छः हजार तो समझौते के तौर पर कायम रहे।

महासभा में स्वराज्य के ध्येय पर भी बहस हुई थी। संघटन के एक नियम मे साम्राज्य में रहकर अथवा उससे बाहर होकर, जैसे हो सके वैसे, स्वराज्य प्राप्त करने की बात कही गई थी। महासभा में एक दल ऐसा भी था, जो साम्राज्य में रहकर ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। इस पक्ष का समर्थन पण्डित मालवीयजी और श्री जिन्नाह ने किया था, परन्तु उन्हें अधिक मत नहीं मिल सके। संघटन में तो यही बात कही गई थी कि शान्ति और सत्य-रूप साधनों के द्वारा ही स्वराज्य प्राप्त किया जाय। लेकिन इस शर्त का भी विरोध किया गया था। महासभा ने विरोध को नामंजूर किया और सारा संघटन सुन्दर बहस के बाद पास हो गया। मेरे विचार में अगर लोगों ने इस संघटन पर प्रामाणिकता-पूर्वक और सावधानी से अमल किया होता तो उससे जनता को बहुत बड़ी शिक्षा मिलती और यह भी सम्भव था कि उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो जाता। लेकिन यहाँ इस विषय की अधिक चर्चा करना उचित नहीं है।

इसी सभा में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य, अन्त्यजोद्धार और खादी के सम्बन्ध में भी प्रस्ताव पास हुए थे। तभी से अस्पृश्यता के कलंक को दूर करने का भार महासभा के हिन्दू सदस्यों ने अपने जिम्मे लिया है और खादी के द्वारा महासभा ने अपना सम्बन्ध भारत के अस्थिपंजर गरीब लोगों के साथ जोड़ा है।

खिलाफत के सवाल को लेकर असहयोग करना और उसके द्वारा हिन्दू-मुस्लिम-एकता साधने की कोशिश करना भी इस महासभा का एक बड़ा काम था।

पूर्णाहुति

अब इन अध्यायों को बन्द करने का समय आ पहुँचा है। इससे आगे का मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक होगया है कि जनता उसके विषय में कुछ भी न जानती हो, यह सम्भव नहीं। और सन् १९२१ के साल से तो मैं महासभा के नेताओं के साथ इतना हिल-मिल कर रहा हूँ कि कोई बात ऐसी नही है, जिसका यथार्थ वर्णन मैं उनका जिक्र किये बिना कर सकूँ। इन बातों के स्मरण अभी ताजे ही हैं। श्रद्धानन्दजी, देशबन्धु, लालाजी और हकीमसाहब आज हमारे पास नहीं है, फिर भी सौभाग्य

से दूसरे बहुत-से नेता अभी मौजूद हैं महासभा के महा-परिवर्तन के बाद का इतिहास तो अभी तैयार हो हो रहा है । मेरे मुख्य प्रयोग महासभा के द्वारा ही हुए हैं, इसलिए उन प्रयोगों का वर्णन करते समय नेताओं का उल्लेख करना अनिवार्य है। औचित्य की दृष्टि से भी इन बातों का वर्णन मुझे अभी नहीं करना चाहिए। और जो प्रयोग अभी हो रहे हैं उनके संबंध मे मेरे निर्णय निश्चयात्मक नहीं कहे जा सकते, इसलिए भी इन अध्यायों को फिलहाल बन्द कर देना ही मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ । अगर यह कहूँ कि मेरी लेखनी ही आगे बढ़ने मे इन्कार करती है, तो भी अत्युक्ति न होगी।

पाठकों से विदा माँगते हुए मुझे दुःख होता है । मेरी दृष्टि में मेरे प्रयोग अभी बहुत कीमती हैं । मुझे पता नहीं, मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सका हूँ या नहीं । मैंने अपनी ओर से तो ठीक-ठीक वर्णन करने में कुछ उठा नहीं रक्खा है । मैंने सत्य को जिस रूप में देखा है और जिस राह से देखा है, उसे उसी रूप में, उसी राह से, बताने की हमेशा कोशिश की है । और साथ ही पाठकों के सम्मुख उन वर्णनों को रख कर मैंने अपने चित्त में शान्ति का अनुभव किया है । क्योंकि मुझे उनसे यह आशा रही है कि उनके पढ़ने से पाठकों के हृदय में सत्य और अहिंसा के प्रति अधिक श्रद्धा उत्पन्न होगी ।

मैं सत्य को ही परमेश्वर मानता आया हूँ। अगर पाठकों को इन अध्यायों के पन्ने-पन्ने में यह प्रतीति न हुई हो कि सत्यमय बनने के लिए अहिंसा ही एक राजमार्ग है, तो मैं अपने इस प्रयत्न को व्यर्थ समझूँगा। प्रयत्न भले ही व्यर्थ हो, लेकिन सिद्धान्त तो निरर्थक नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी कच्ची है, अपूर्ण है। इसलिए मेरी सत्य की झाँकी उस सत्य-रूपी सूर्य के तेज की एक किरण-मात्र के दर्शन के समान है, जिसके तेज का माप हजारों साधारण सूर्यों को इकट्ठा करने पर भी नहीं मिल सकता। अतः अबतक के मेरे प्रयोगों के आधार पर इतना तो मैं अवश्य कह सकता हूँ कि इस सत्य का सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के अभाव में अशक्य है।

ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए प्राणी-मात्र के प्रति आत्मवत् (अपने समान) प्रेम की बड़ी भारी जरूरत है। इस सत्य को पाने की इच्छा करनेवाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य-पूजा मुझे राजनैतिक क्षेत्र में घसीट ले गई। जो यह कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं निःसंकोच हो कर कहता हूँ कि, वे धर्म को नहीं जानते—और, मेरा विश्वास है कि, यह बात कह कर मैं किसी तरह विनय की सीमा को लाँघ नहीं रहा हूँ।

बिना आत्मशुद्धि के प्राणी-मात्र के साथ एकता का अनुभव नहीं किया जा सकता। और आत्म-शुद्धि के अभाव में अहिंसा धर्म का पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है। चूँकि अशुद्धात्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन-पथ के सारे क्षेत्रों में शुद्धि की जरूरत रहती है। इस तरह की शुद्धि साध्य है, क्योंकि व्यक्ति और समष्टि के बीच इतना पास का सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेक की शुद्धि का कारण बन जाती है। और व्यक्ति-गत कोशिश करने की ताकत तो सत्य-नारायण ने सब किसीको जन्म ही से दी है।

लेकिन मैं तो पल-पल पर इस बात का अनुभव करता हूँ कि शुद्धि का यह मार्ग विकट है। शुद्धि होने का मतलब तो मन से, वचन से, और काया से निर्विकार होना, राग-द्वेष आदि से रहित होना है। इस निर्विकार स्थिति तक पहुँचने के लिए प्रति पल प्रयत्न करने पर भी मैं उस तक पहुँच नहीं सका हूँ। इस कारण लोगों की प्रशंसा मुझे भुला नहीं सकती, उलटे बहुधा वह मेरे दुःख का कारण बन जाती है। मैं तो मन के विकारों को जीतना सारे संसार को शस्त्र-युद्ध करके जीतने से भी कठिन समझता हूँ। भारत में आने के बाद भी मैंने अपने में छिपे हुए विकारों को देखा है, देख कर शर्मिन्दा हुआ हूँ, लेकिन हिम्मत नहीं हारी है। सत्य के प्रयोगों को करते हुए मैंने सुख का अनुभव

किया है, आज भी उसका अनुभव कर रहा हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ कि अभी मुझे बीहड़ रास्ता तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना पड़ेगा। जबतक मनुष्य खुद होकर अपने आपको सबसे छोटा नहीं मानता है तबतक मुक्ति उससे दूर रहती है। अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है, उसकी हद है। और यह अनुभव-सिद्ध बात है कि इस तरह की नम्रता के बिना मुक्ति कभी नहीं मिल सकती। इसलिए अभी तो ऐसी अहिंसक नम्रता पाने की प्रार्थना करते हुए और उसमें संसार की सहायता की याचना करते हुए मैं इन अध्यायों को समाप्त करता हूँ।

परिचय
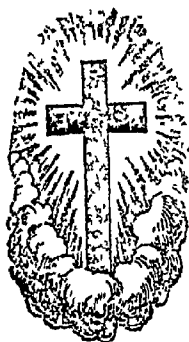
'त्यागभूमि' क्या है ?

'त्यागभूमि' हिन्दी की एक राष्ट्रीय पत्रिका है जो राजनीति के गहरे अध्ययन और नवीन जागृति के विविधि अंगों से लोगों को परिचित करती है।

'त्यागभूमि' अजमेर के सस्ता-साहित्य-प्रकाशक-मण्डल द्वारा प्रकाशित होती है।

'त्यागभूमि' के उद्देश्य और कार्य से महात्मा गांधी, स्व० लाला लाजपतराय, पण्डित मदनमोहन मालवीय, श्रीजवाहरलाल नेहरू, श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य तथा श्रीएण्डरूज़-सरीखे देश के पूज्य और माननीय नेताओं ने सहानुभूति प्रकट की है।

'त्यागभूमि' यद्यपि अपनी गंभीरता, सादगी और पवित्रता के लिए प्रसिद्ध है और हिन्दी-संसार में एक नया आदर्श तथा नूतन दृष्टिकोण रखने के लिए विकल एवं सचेष्ट है, फिरभी वह हिन्दी में सब से सस्ती पत्रिका है।

'त्यागभूमि' का वार्षिक मूल्य ४) है—छ आने मासिक और पौन पैसा दैनिक से भी कम !

'त्यागभूमि' व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रकाशित नहीं होती; न यह किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही है। यह जन-सेवकों द्वारा संचालित होती है और जनता की पत्रिका है। जन-सेवा इसका व्रत है।

'त्यागभूमि' ६) वार्षिक में घर पड़ती है किन्तु ४) वार्षिक में ग्राहकों को दी जाती है। यह इसलिए कि इसके प्रकाशक देश और समाज के प्रति अपना कुछ कर्त्तव्य समझते हैं और प्रत्येक हृदय तक नवीन जागृति की लहर पहुँचाना चाहते हैं।

त्यागभूमि में

क्या नहीं रहता ?

१—दूसरे पत्र-पत्रिकाओं की भांति कामुकता और विलासिता की वृद्धि करनेवाली औषधियों एवं वस्तुओं के विज्ञापन।

२—युवकों के जीवन को नष्ट करनेवाला पातक साहित्य।

३—मनुष्य को नीति भ्रष्ट करनेवाला एवं मन की भूख बुझानेवाला साहित्य।

४—केवल ऊपरी और निःसार चटक-मटक।

५—लोक-रुचि की अन्धी आराधना।

क्या करती है ?

१—'त्यागभूमि' नवयुग की सन्देश-वाहिका है।

२—'त्यागभूमि' लोक-प्रियता के स्थान पर सुरुचि का पाठ लेकर आई है।

३—'त्यागभूमि' को देश के कोने-कोने और समाज के अंग-अंग में गहरी और स्पृहणीय उथल-पुथल मचाने की धुन सवार है।

४—'त्यागभूमि' देश और समाज की सेवा के लिए अपना सर्वस्व होम देने के लिए हमेशा तैयार रहती है।

५—'त्यागभूमि' मजूरों, किसानों और ग्रामीण-जनों की सेवा में अपना सौभाग्य समझती है।

६—'त्यागभूमि' 'हिन्दी की सबसे अच्छी पत्रिका है।'

७—'त्यागभूमि' धनवानों की अपेक्षा अछूतों, ग़रीबों और किसानों को अपने हृदय के अधिक नज़दीक अनुभव करती है।

८—'त्यागभूमि' शान्तिमय क्रान्ति की प्रचारिका है।

देश के नेता और प्रसिद्ध विद्वान् क्या कहते हैं ?

"× × × आजकल नाम के बराबर काम नहीं होता। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि 'त्यागभूमि' इस बुरी आदत को दूर करने का प्रयत्न करेगी।"

मोहनदास गांधी

"× × × हिन्दी में 'त्यागभूमि' जैसी सुसम्पादित पत्रिका देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। मैं चाहता हूँ यह चिरजीवी हो।"

मदनमोहन मालवीय

"× × × मेरी राय में हिन्दी में सबसे अच्छी पत्रिका 'त्यागभूमि' है।"

जवाहरलाल नेहरू

"+ + इतनी अच्छी पत्रिका मैंने आजतक नहीं पढ़ी।"

माधव विनायक कीबे

"+ + मुझे निस्सन्देह 'त्यागभूमि' को देखकर बड़ा हर्ष होता है।"

स्वामी सत्यदेव (जर्मनी)

"+ + पत्रिका उत्तम और उच्चकोटि की है।"

डा० एन० एस० हार्डिकर

"+ + 'त्यागभूमि' पढ़कर संतोष हुआ। आपके अभिनंदनीय प्रयत्न में मेरी पूर्ण सहानुभूति है।"

गंगाधरराव देशपाण्डे

"मासिक ऐसा है कि पढ़ने को जी ललचाता है।"

(स्व०) मगनलाल गांधी

१—आत्म-कथा

(दोनों खण्ड)

२—क्या करें ?

(दोनों भाग)

३—जीवन साहित्य

(दोनों भाग)

४—सामाजिक कुरीतियाँ

५—शैतान की लकड़ी

६—स्वाधीनता के सिद्धांत

७—अनीति की राह पर—

८—दिव्य जीवन

९—स्त्री और पुरुष

१०—चीन की आवाज़

११—अंधेरे में उजाला

१२—विजयी बारडोली

१३—हाथ की कताई बुनाई

१४—खद्दर का संपत्ति शास्त्र

१५—तामिल वेद

१६—श्रीराम चरित्र

१७—कर्म-योग

१८—आत्मोपदेश)॥

१९—स्वामीजी का बलिदान (हिन्दू-मुसलिम समस्या) ।-)

२०—व्यावहारिक सभ्यता)॥

२१—कन्या शिक्षा)

५५—भारत के स्त्रीरत्न १॥।-)

(दो भाग)

२३—घरों की सफाई)।

२४—महान् मातृत्व की ओर ॥=)

२५—सीताजी की अग्नि परीक्षा ।-)

२६—समाज विज्ञान १॥)

२७—यूरोप का इतिहास २)

२८—गोरों का प्रभुत्व ॥=)

२९—शिवाजी की योग्यता ।=)

३०—जब अंग्रेज नहीं आये थे—)

३१—अनोखा ! १।=)

३२—गंगा गोविंदसिंह ॥=)

३३—आश्रम हरिणी ।

३४—कलवार की करतूत -)॥

३५—ब्रह्मचर्य विज्ञान ॥-)

(दूसरी बार छपेगा)

३६—तरंगित हृदय ॥)

(दूसरी बार छपेगा)

३७—हिन्दी मराठी कोष २)

३८—यथार्थ आदर्श जीवन ॥-)

३९—हमारे ज़माने की गुलामी ।)

४०—दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह १)

(दो भाग)

४१—ज़िन्दा लाश ॥)

४२—दुखी दुनिया ॥)

४३—नरमेध ! १॥)

शीघ्र ही प्रकाशित होंगी

१—जब अंग्रेज आये

२—जीवन विकास

३—विवाह मीमांसा

४—फाँसी